शाङ्र्गदेवकृत

संगीतरत्नाकर

'सरस्वती' व्याख्या और अनुवादसहित

प्रथम खण्ड



व्याख्या और अनुवादकर्त्री
सुभद्रा चौधरी

5.2

संगीतरत्नाकर

शार्ङ्गदेवकृत

संगीतरत्नाकर

('सरस्वती' व्याख्या और अनुवादसहित)

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय

व्याख्या और अनुवादकर्त्री

सुभद्रा चौधरी

राधा पब्लिकेशन्स

नई दिल्ली

राधा पब्लिकेशन्स

प्रथम संस्करण—2000
ISBN 81-7487-200-0

श्रीमती राधा गर्ग द्वारा राधा पब्लिकेशन्स 4378/4बी अन्सारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-2 के लिए प्रकाशित।
जे० आर० प्रिंटर्स खजानी नगर, जौहरीपुर, दिल्ली-94 द्वारा शब्द संयोजन
तथा दीपक ऑफसेट प्रिंटर्स में मुद्रित।

SAṄGĪTARATNĀKARA : *by Subhadra Chaudhary*

संगीतसम्राट्

गुरुदेव पं० ओंकारनाथ ठाकुर को

समर्पित

जिन्होंने

संगीत के मूलग्रन्थों के अध्ययन की ओर प्रेरित किया

और

संगीत की सघन शिक्षा के द्वारा

प्राचीन सिद्धान्तों को वर्तमान लक्ष्य से जोड़ने की

दिशा दी

अनुक्रमणिका

भूमिका

१. संगीतरत्नाकर का महत्त्व

संगीत के अत्यन्त विशाल और व्यापक क्षेत्र, विषय के स्पष्ट, सूक्ष्म और व्यवस्थित निरूपण तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से संगीत के शास्त्रग्रन्थों में शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर का अप्रतिम स्थान है। यह ग्रन्थ परवर्ती शास्त्रकारों को सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला और प्रेरणादायक, जानकारी अथवा ग्रंथरचना के आदर्श नमूने के रूप में अखण्ड स्रोत और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सर्वाधिक आलोचना का पात्र भी रहा है।

संस्कृत में लिखे गये संगीतशास्त्र के सबसे लम्बे ग्रन्थों में से एक, ऐसा एकमात्र ग्रन्थ जिसका पाठ शुद्ध-अविकल-अखण्डित रूप में मिलता है, प्रायः सभी परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा प्रमाण के रूप में अथवा अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये उद्धृत अथवा उल्लिखित, जिस पर सबसे ज्यादा टीकाएँ लिखी गईं, जिसके कई संस्करण प्रकाशित हुए, जिसके अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए और सर्वाधिक अध्ययन किया जाने वाला संगीतरत्नाकर ऐसा मानक ग्रन्थ है जिसके बिना संगीत के प्राचीन ग्रन्थों और उनमें ग्रथित-सूत्रित सिद्धान्तों को समझना लगभग असंभव है।

संगीतरत्नाकर की विषयवस्तु में संगीत के तीनों अंगों—गीत, वाद्य और नृत्त—का समावेश हुआ है और सभी का सांगोपांग निरूपण है। शार्ङ्गदेव ने अपने समय के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए संगीत की पहले से चली आ रही लक्षण परम्परा को, लगभग ४० पूर्वाचार्यों के मतों का सार निकाल कर, ग्रन्थ में निबद्ध किया है। इतने विशाल क्षेत्र को जैसी संक्षिप्तता, सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ समेटा गया है वह आश्चर्य में डालने वाला है।

मतंग के काल तक संगीत के कई सिद्धान्त विकास की और पूरी तरह स्थापित होने की जिस प्रक्रिया में प्रतीत होते हैं शार्ङ्गदेव के समय तक वे स्थिर हो चुके थे इसलिये संगीतरत्नाकर में अत्यन्त व्यवस्थित निरूपण प्राप्त होता है। वास्तव में देखा जाय तो संगीतशास्त्र का ऐसा स्पष्ट, व्यवस्थित, संक्षिप्त किन्तु पूर्ण और प्रामाणिक रूप दूसरे किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

२. ग्रन्थकार का परिचय

संगीतरत्नाकर में मंगलाचरण के बाद १३ श्लोकों में शार्ङ्गदेव ने अपने वंश, आश्रयदाता राजाओं का और स्वयं अपना पर्याप्त परिचय दिया है। तत्कालीन इतिहास से उन राजाओं और उनके काल की पुष्टि होती है।

शार्ङ्गदेव के पूर्वज काश्मीर-निवासी विद्वान् पंडित और अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे। उनके पितामह भास्कर किन्हीं कारणों से काश्मीर छोड़कर देवगिरि (वर्तमान महाराष्ट्र के दौलताबाद) में वहाँ के यादव नरेश भिल्लम के राज्याश्रय में चले गये थे। देवगिरि का यादव वंश विद्याओं, कलाओं, विशेष रूप से आयुर्वेद का संरक्षक तथा विद्वानों का प्रेमी, आश्रयदाता और गुणानुरागी रहा है। ऐसी संभावना व्यक्त की जाती है कि आयुर्वेद के संरक्षण की भावना से प्रेरित भिल्लम ने भास्कर जैसे प्रकाण्ड आयुर्वेदाचार्य को अपने यहाँ आमन्त्रण देकर राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने का विचार किया हो और विदेशी आक्रमणों से आक्रान्त काश्मीर के इस विद्वान् ने तत्कालीन परिस्थिति में ऐसे गुणानुरागी शासकों के राज्य में चले जाने का निश्चय किया हो।[१]

---

१. द्रष्टव्य, डॉ० भृंगीकृत सं० र० के अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका।

भिल्लम के ही समय में भास्कर के पुत्र सोढल, शार्ङ्गदेव के पिता, देवगिरि राज्य में 'श्रीकरणाग्रणी' (महालेखापाल) के पद पर नियुक्त हुए। भिल्लम के बाद उसका पुत्र जैत्रपाल राजा हुआ और फिर उसके पुत्र सिंघण ने १२१०-१२४७ ई० तक शासन किया जो प्रतापी राजा होने के साथ-साथ स्वयं गुणी और दूसरों के गुणों का सम्मान करने वाला तथा कलाओं और विद्याओं का भारी संरक्षक था। इसी नरेश के संरक्षण में श्रीकरणाग्रणी के पद पर रहते हुए शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर की रचना की। इसके अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

प्रारम्भिक श्लोकों में ग्रन्थकार ने अपनी वंश परम्परा और अपने बारे में जो कुछ कहा है वह उनकी विद्वत्ता और बहुमुखी प्रतिभा को प्रकट करता है। उससे स्पष्ट है कि उन्हें अपने पूर्वजों से कलाओं, विद्याओं और आयुर्वेद के दृढ़ संस्कार विरासत में मिले थे और वे स्वयं सुन्दर, अत्यन्त उदार, विवेकवान्, गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान से सम्पन्न और देवताओं की आराधना से प्राप्त भगवत्कृपा से युक्त, स्वाध्याय के द्वारा शास्त्रों के अध्ययन से अर्जित ज्ञान-भण्डार से सम्पन्न, विनोदप्रिय, अत्यन्त भाग्यवान्, ज्ञान-धन-औषधिदान से लोक के कष्टों को दूर करने और आवश्यकताओं को पूरा करने वाले ऐसे विद्वान् थे जिनके यहाँ रारस्वती नित्य निवास करती थी। वे स्वयं आयुर्वेदाचार्य थे और आयुर्विद्या पर 'अध्यात्मविवेक' नामक ग्रन्थ की अपनी रचना का उल्लेख उन्होंने संगीतरत्नाकर के पहले अध्याय के 'पिण्डोत्पत्ति-प्रकरण' में स्वयं किया है।[१] ऐसी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा प्रणीत 'संगीत' रूपी सागर के 'रत्नों' के 'आकर' इस ग्रन्थ का 'संगीतरत्नाकर' नाम सार्थक है।

३. संगीतरत्नाकर की विषयवस्तु और विषयविभाजन

संगीतरत्नाकर के काल तक नाट्य से स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष संगीत का स्वरूप विकसित और प्रतिष्ठित हो चुका था इसलिये यह नाट्य से स्वतंत्र संगीत का लक्षण ग्रन्थ है; हालाँकि इसके नृत्यसंबंधी अध्याय में नाट्य के अंगभूत कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की भी चर्चा-निरूपण है। तदनुसार गीत, वाद्य और नृत्त—संगीत के इन तीनों अंगों का लक्षण ग्रन्थ है।

ग्रन्थ में कुल ७ अध्यायों में विषयविभाजन हुआ है जिनके नाम इस प्रकार हैं—स्वरगताध्याय, रागविवेकाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय, प्रबन्धाध्याय, तालाध्याय, वाद्याध्याय और नर्तनाध्याय। पहले अध्याय में ८ प्रकरण हैं—१. पदार्थसंग्रह, जिसमें मंगलाचरण, ग्रन्थकार का परिचय, पूर्वाचार्यस्मरण और सातों अध्यायों का संक्षिप्त विषयसंग्रह है। २. पिण्डोत्पत्ति, जिसमें आयुर्वेद के अनुसार जीव के गर्भ में आने से लेकर जन्म लेने तक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं और शरीर की रचना का निरूपण है। ३. नादस्थानश्रुतिस्वरजातिकुलदैवतर्षिच्छदोरस प्रकरण में संगीत के मूल तत्त्वों और कुछ अन्य विषयों का निरूपण है। ४. ग्राममूर्च्छनाक्रमतान प्रकरण में प्राचीन भारतीय संगीत के ग्रामादि आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण है। ५. साधारण प्रकरण में स्वरसाधारण की प्रक्रिया और उससे प्राप्त विकृत स्वरों का निरूपण हुआ है। ६. वर्णालंकार प्रकरण में वर्ण और अलंकार-निरूपण है। ७. जातिप्रकरण में जाति का सामान्य लक्षण और ७ शुद्धा तथा ११ विकृता जातियों में से हरेक के लक्षण और हर जाति का एक-एक 'प्रस्तार' (स्वर-ताल-पदबद्ध उदाहरण गीत) भी दिया गया है। ८. गीतिप्रकरण में कपाल और कम्बलगान का लक्षण, कपालों के पद, पदाश्रित गीति का लक्षण और गीति के भेद तथा तालाश्रित गीति का संक्षिप्त लक्षण—इतने विषयों का निरूपण है।

दूसरे अध्याय में दो प्रकरण हैं—पहले में राग का लक्षण और ग्राम वर्ग के ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा—इन ६ वर्गों के रागों का और दूसरे प्रकरण में देशी वर्ग के रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग रागों का निरूपण है। मुख्य ग्रामरागों में 'आक्षिप्तिका' (स्वर-ताल-पदबद्ध उदाहरण गीत) भी दी गई हैं।

तीसरे अध्याय में उन प्रकीर्ण विषयों को रखा है जो अन्य अध्यायों में से किसी एक के अन्तर्गत नहीं आते। इनमें वाग्गेयकार, गायकभेद, शब्द (कण्ठध्वनि) भेद, 'शारीर' लक्षण, गमक, स्थाय, आलप्ति, वृन्द जैसे विषय हैं।

---

१. सं० र०, १/२/११९ ।

चौथा अध्याय प्रबन्ध यानी नाट्यभिन्न संगीत की निबद्ध रचनाओं से संबंधित है जिसमें गीत का लक्षण और उसके गान्धर्व-गान—ये दो भेद, प्रबन्ध के तत्त्व, प्रबन्ध भेद और प्रत्येक प्रबन्ध के लक्षण तथा गीत के गुण-दोष सम्मिलित हैं।

पाँचवें अध्याय में ताल के तत्त्व, मार्गताल, गीतक, देशीताल और तालप्रत्यय निरूपित हैं।

छठे वाद्याध्याय में चतुर्विध वाद्यों (तत, अवनद्ध, घन, सुषिर) की बनावट, वादनशैली, निर्गीत, वीणा और वंश पर रागालप्ति एवं अवनद्ध में वाद्यप्रबन्ध (रचनाएँ) दिये गये हैं।

सातवें नर्तनाध्याय में नृत्त के तत्त्व, नृत्तविधाएँ, नवरस और नृत्त संबंधी कुछ अन्य विषयों का भी समावेश है।

७ अध्यायों में श्लोकों की संख्या इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय			
	प्रथम प्रकरण	४८½	
	द्वितीय प्रकरण	१६७½	
	तृतीय प्रकरण	५९½	
	चतुर्थ प्रकरण	९१	
	पंचम प्रकरण	१०½	
	षष्ठ प्रकरण	६४	
	सप्तम प्रकरण	११४½	
	अष्टम प्रकरण	२५	५८०½
द्वितीय अध्याय			
	प्रथम प्रकरण	४७	
	द्वितीय प्रकरण	१९४	२४१
तृतीय अध्याय			२२३
चतुर्थ अध्याय			३८०
पञ्चम अध्याय			४०९½
षष्ठ अध्याय			१२१९
सप्तम अध्याय			१६७८
		कुल	७९५१

इस प्रकार संगीतरत्नाकर में कुल मिलाकर ७९५१ श्लोक हैं। सातवाँ नर्तनाध्याय ग्रन्थ का सबसे बड़ा और तीसरा प्रकीर्णकाध्याय सबसे छोटा अध्याय है। प्रस्तुत प्रथम खण्ड में सिर्फ़ पहला अध्याय है जिसके आठ प्रकरणों में कुल $५८०\frac{१}{२}$ श्लोक हैं। दूसरा सबसे बड़ा प्रकरण है जिसमें $१६७\frac{१}{२}$ श्लोक हैं और पाँचवा प्रकरण सबसे छोटा है क्योंकि इसमें कुल $१०\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।

संगीतरत्नाकर की विषयवस्तु की कुछ मौलिक विशेषता है। आयुर्वेद के आचार्य होने के कारण शार्ङ्गदेव ने संगीत के साधक के लिये नाद की उत्पत्ति के साधन मनुष्य-शरीर का बोध उपयोगी समझा और इसलिये ग्रन्थ की शुरुआत पिण्डोत्पत्ति निरूपण से ही की जो इससे पहले संगीत के किसी ग्रन्थ में नहीं है। संगीत से भिन्न ग्रन्थ 'भावप्रकाशनम्' में अवश्य पिण्डोत्पत्ति निरूपण है। मध्यमग्राम और दो प्रकार के स्वरसाधारण के फलस्वरूप विभिन्न स्वरों के स्थान या अन्तराल पर पड़ने वाले प्रभाव का स्वरनामों सहित १२ विकृत स्वरों के रूप में निरूपण संगीतरत्नाकर में ही सबसे पहले हुआ है यद्यपि इसका मूल नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती में मौजूद है। लेकिन यह सही है कि शार्ङ्गदेव के इस व्यवस्थित निरूपण को समझ न पाने के कारण परवर्ती शास्त्रकार भ्रमित हुए और उनका स्वर निरूपण अव्यवस्थित हो गया। जाति प्रकरण में ७ शुद्धा और ११ संसर्गजा विकृता जातियों के 'प्रस्तार' के रूप में जो उदाहरणगीत दिये गये हैं उनका मूल मतंग की बृहद्देशी और नान्यदेव के भरतभाष्य में होते हुए भी स्वरतालपदबद्ध सम्पूर्ण रूप संगीतरत्नाकर में ही व्यवस्थित रूप में मिलता है। प्रकीर्णकाध्याय में ऐसे विषयों को संगृहीत करके व्यवस्थित रूप दिया है जिनमें से कोई भी विषय अन्य किसी भी एक अध्याय में नहीं रखा जा सकता और जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में फुटकर रूप से बिखरे हुए थे। इनमें शब्दभेद, स्थाय और आलति का निरूपण संगीतरत्नाकर के लगभग समकालीन (संभवतः कुछ परवर्ती) संगीतसमयसार को छोड़कर सर्वप्रथम संगीतरत्नाकर में ही इतने व्यवस्थित रूप में हुआ है। तालाध्याय में जिन तालप्रत्ययों का निरूपण है वे भी दूसरे किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं हैं।

लक्षणग्रन्थ होते हुए भी संगीतरत्नाकर में भाषा सौंदर्य, अलंकार योजना—विशेष रूप से प्रास—और काव्य-सौंदर्य भरपूर है जिसका अनुभव यों तो ग्रन्थ में कई स्थानों पर होता है लेकिन ख़ास तौर पर ग्रन्थ के शुरू में वंशपरम्परा और आत्मपरिचय-संबंधी श्लोक और ग्रन्थ के उपसंहार के श्लोक काव्य जैसा आनन्द देने वाले हैं और ग्रन्थकार की काव्यप्रतिभा के परिचायक हैं।

४. संगीतरत्नाकर के संस्करण[१]

मूल संगीतरत्नाकर के प्रकाशित संस्करण दो प्रकार के हैं—१. वे जिनमें मूलपाठ के साथ-साथ सिंहभूपाल की 'संगीतसुधाकर' टीका और कल्लिनाथ की 'कलानिधि' टीका में से एक या दोनों टीकाएँ भी सम्मिलित हैं। इस वर्ग में ४ संस्करण हैं जिनमें से दो केवल सिंहभूपाल की टीकासहित कलकत्ता के अलग-अलग प्रकाशन हैं, तीसरा आनन्दाश्रम, पूना से दो खण्डों में सिर्फ़ कल्लिनाथ की टीकासहित प्रकाशित है और चौथा आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास का चार खण्डों में सिंहभूपाल और कल्लिनाथ दोनों की टीकाओं वाला संस्करण है। इन सभी में ग्रन्थ का सम्पूर्ण पाठ है। २. वे जिनमें मूलपाठ के अलावा अंग्रेज़ी, हिन्दी, तेलगु, कन्नड़, मराठी में से किसी एक भाषा में अनुवाद भी है। इस वर्ग में ६ संस्करण हैं। लेकिन केवल मराठी अनुवाद वाले संस्करण में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का पाठ है।

५. संगीतरत्नाकर की टीकाएँ

इस ग्रन्थ पर ७ टीकाएँ कही जाती हैं जिनमें से ४ संस्कृत में, १ हिन्दी में और २ तेलगु में हैं। इनमें से ६ के लेखक सिंहभूपाल, केशव, कल्लिनाथ, हंसभूपाल, कुम्भकर्ण और गंगाराम कहे गये हैं। सातवें लेखक का नाम ज्ञात नहीं हैं लेकिन

---

१. संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'Śārṅgadeva and His Saṅgītaratnākara—Proceedings of the Seminar Varanasi, 1994' में डॉ० एँन्० रामनाथन् के पेपर 'The Text of Saṅgītaratnākara' के आधार पर।

टीका का नाम 'चन्द्रिका' कहा जाता है। इनमें से सिंहभूपाल और कल्लिनाथ की संस्कृत और गंगाराम की हिन्दी टीकाएँ ही उपलब्ध हैं, शेष नहीं।[१] गंगाराम की टीका वास्तव में संगीतरत्नाकर का ब्रजभाषा में अनुवाद है, टीका नहीं।

सिंहभूपाल दक्षिण में विन्ध्यपर्वत और श्रीशैल के बीच के प्रदेश का शासक और बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। उसकी 'संगीतसुधाकर' संगीतरत्नाकर पर सबसे पहली टीका है जो १४वीं सदी के उत्तरार्ध में यानी संगीतरत्नाकर की रचना के लगभग एक शताब्दी बाद लिखी गई। इसमें विवेचना बहुत कम है। लेकिन इस दृष्टि से यह टीका बहुत महत्त्व रखती है कि कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थों के ऐसे उद्धरण इसमें हैं जो उन ग्रन्थों के वर्तमान उपलब्ध पाठ में नहीं मिलते। उदाहरण के लिये बृहद्देशी और पार्श्वदेव के 'संगीतसमयसार' के ऐसे बहुत से और लम्बे उद्धरण इसमें दिये हैं जो आज इन ग्रन्थों में नहीं हैं और जो इन ग्रन्थों और संगीतशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने में बहुत उपयोगी हैं।

कल्लिनाथ की 'कलानिधि' टीका संगीतसुधाकर टीका के लगभग एक शताब्दी बाद यानी १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखी गई। इसमें विवेचनात्मक दृष्टिकोण है और तत्कालीन लक्ष्य में आए परिवर्तनों का भी उल्लेख है। इस दृष्टि से यह टीका सिंहभूपाल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

संगीतरत्नाकर और कल्लिनाथ के काल के बीच दो सदियों के अन्तराल में लक्ष्य में बड़े परिवर्तन हुए और लक्षण तथा लक्ष्य में विरोध और विसंगतियाँ आईं। दोनों ही टीकाकारों ने यह दावा किया है कि उनके समय में एकमात्र वे ही प्राचीन लक्षण और तत्कालीन लक्ष्य को पूरी तरह समझते थे इसलिये वे लक्षण और लक्ष्य में संगति बिठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि क्रिया और शास्त्र के बीच खाई बढ़ती जा रही थी और दोनों ही उसे पाटने में पूरी तरह सफल नहीं हुए। कल्लिनाथ के एक शताब्दी बाद रामामात्य के समय तक वह पूरी तरह स्पष्ट होकर उभर कर सामने आ गई।

६. प्रस्तुत कार्य की प्रेरणा

सन् १९६७-६९ के बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र विभाग में ऍम्० म्यूज़िकॉलोजी पाठ्यक्रम के अन्तर्गत, विभागाध्यक्षा डॉ० प्रेमलता शर्मा के निर्देशानुसार, कुछ प्रश्नपत्रों के 'सॅशनल्स' के रूप में मैंने संगीतरत्नाकर के पहले और पाँचवें अध्यायों के चुने हुए अंशों और सम्पूर्ण तीसरे और चौथे अध्यायों का आवश्यकतानुसार संक्षिप्त टिप्पणियों के साथ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था जो विभाग में बाद के छात्रों के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। बाद में १९६९-७२ के बीच पी-ऍच्०डी० करते समय डॉ० प्रेमलताजी के ही सुझाव पर संगीतरत्नाकर के पूरे पहले अध्याय के व्याख्यासहित हिन्दी अनुवाद का काम मैंने विधिवत् शुरू किया जो सन् ७२ में पूरा हुआ। उसी वर्ष इसके प्रकाशन संबंधी औपचारिकताएँ शुरू हुईं लेकिन कई तरह की बाधाओं, अड़चनों तथा संघर्षों से उत्पन्न व्यथाओं के कारण इसके तत्काल प्रकाशन का विचार स्थगित करना पड़ा। लेकिन २७ साल के इस व्यवधान ने टिप्पणियों और व्याख्या को बार-बार 'घिस-माँज' कर चमकाने का, धारणाओं और सिद्धान्तों को ज़्यादा स्पष्ट रूप से समझने का तथा छात्रों की दृष्टि से इसे अधिक सरल, ग्राह्य और उपयोगी बनाने का मुझे मौक़ा दिया। सभी विघ्नों और विघ्नकारी तत्त्वों का यह मुझ पर उपकार है।

मेरे मन-मस्तिष्क में यह बात हमेशा उठती रही और निरन्तर बलवती होती गई कि संगीतरत्नाकर जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन संगीतशास्त्र में रुचि रखने वाले हर विद्यार्थी को ज़रूर करना चाहिये, कम से कम उसका सही परिचय भारतीय संगीत के हर छात्र और अनुसन्धानकर्ता को अवश्य होना चाहिये। इसके लिये संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना पहली सीढ़ी है। लेकिन ऐसा करना संभव न होने की स्थिति में अगर संगीतरत्नाकर का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद व्याख्या अथवा टिप्पणियों सहित उपलब्ध हो तो किसी हद तक ज़रूरत को पूरा किया जा सकता है। इस कारण मुख्यत: छात्रों की कठिनाई और ज़रूरत को ध्यान में रखकर ही हिन्दी अनुवाद करने का श्रम मैंने किया।

---

१. सं० र०, प्र० खण्ड, आड्यार संस्क०, १९४३ में कुन्हन राजा की भूमिका के आधार पर।

७. कार्य की रूपरेखा

मूलग्रन्थ के साथ सिंहभूपाल और कल्लिनाथ की संस्कृत टीकाएँ भी प्रस्तुत कार्य में सम्मिलित करने की शुरू में योजना थी ताकि टीका करने की संस्कृत की पद्धति से छात्रों का परिचय हो सके और ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन करने के इच्छुक छात्रों और अनुसन्धानकर्ताओं को मूल टीकाएँ भी उपलब्ध रहें। लेकिन ऐसा करने पर पुस्तक का कलेवर बहुत बड़ा हो जाने की आशंका से इस विचार को छोड़ दिया गया। लेकिन दोनों टीकाओं के महत्त्वपूर्ण अंशों का उपयोग हिन्दी व्याख्या में कर लिया गया है। ऐसा करना इसलिये भी ज़रूरी था कि इस विराट् ग्रन्थ के अनेक स्थलों को इन टीकाओं के बिना पूरा-पूरा या सही रूप में समझना बहुत कठिन है। विशेष रूप से इस कारण से कि जिस लक्ष्य के आधार पर ग्रन्थ में धारणाओं और सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है वह लक्ष्य आज हमें प्राप्त न होने से सिद्धान्तों के मूल आशय को समझा नहीं जा सकता। टीकाकारों ने प्राचीन लक्षण के साथ अपने समय के लक्ष्य का संबंध जोड़ते हुए और विरोधों और विसंगतियों का परिहार करते हुए सिद्धान्त परम्परा को अद्यतन (update) बनाने की कोशिश की है। लक्षण और लक्ष्य में सातत्य और परिवर्तन के अनवरत प्रवाह को हम तक पहुँचाने का काम टीकाकारों ने ही किया है। इसके साथ ही मूलग्रन्थ में कहीं-कहीं जो पाठभेद हैं वे भी इन टीकाओं में ही प्राप्त होते हैं। कई प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण और ग्रन्थकारों के उल्लेख भी इन टीकाओं में हैं जो उन ग्रन्थों में या अन्यत्र प्राप्त नहीं हैं। लेकिन कहीं-कहीं ग्रन्थ के आशय को समझने में टीकाकारों द्वारा भूल हुई लगती है। हमने ऐसे अंशों पर स्पष्टीकरण दिया है। ग्रन्थगत विषयों को स्पष्ट करने के लिये कहीं-कहीं लम्बी टिप्पणियाँ या व्याख्या देना ज़रूरी हो गया है।

यों तो सन् ६७-६८ तक संगीत के शास्त्रग्रन्थों के अनुवाद कुछ ज़्यादा नहीं हुए थे लेकिन जो भी देखने को मिले उनसे अलग हटकर हमने अनुवाद प्रस्तुत किया है। पूरे-पूरे श्लोक के अनुसार अनुवाद न देकर श्लोक को क, ख, ग, घ—इन चार चरणों में विभाजित करके विषय के अनुसार खण्ड बनाये हैं, श्लोक का अन्वय देते हुए हिन्दी में अनुवाद दिया है ताकि श्लोक का अर्थ समझने के साथ-साथ संस्कृत श्लोक का अर्थ निकालने का तरीक़ा भी छात्र समझ सकें। श्लोक के विभिन्न चरणों के आधार पर अन्वय और अर्थ देने की पद्धति के द्वारा, पूरे श्लोक के अनुसार अर्थ करने में रह जाने वाले अधूरेपन और अस्पष्टता से बचा जा सका है और बात अपने में पूरी और स्पष्ट रूप में कही जा सकी है।

विषय की स्पष्टता की दृष्टि से श्लोकों से पहले संस्कृत में और अनुवाद से पहले हिन्दी में प्रतिपाद्य विषय के अनुसार शीर्षक और उपशीर्षक दिये हैं। इस प्रकार क्रम यह रखा है—संस्कृत शीर्षक, श्लोक, हिन्दी शीर्षक, अन्वयसहित अर्थ (अ०) और फिर 'सरस्वती' (सर०) व्याख्या।

मूलग्रन्थ के पाठ के लिये आड्यार संस्करण के प्रथम खण्ड के १९४३ के संस्करण को आधार मानते हुए कहीं-कहीं आनन्दाश्रम संस्करण के पाठ को भी ध्यान में लिया है। दोनों टीकाओं में कहीं-कहीं प्राप्त पाठभेद की चर्चा और उस पर टिप्पणी संबद्ध अंश में ही कर दी गई है। संगीतरत्नाकर का Critical edition प्रस्तुत करना हमारे कार्य की सीमा में नहीं है इसलिये पाठभेद पादटिप्पणियों में नहीं दिये हैं।

मेरी उस छोटी बहन के नाम पर हिन्दी व्याख्या को 'सरस्वती' नाम दिया है जो अल्पायु में काल-कवलित हो गई थी लेकिन जिसका तेजस्वी चेहरा, आँखों की चमक, हाव-भाव, क्रियाकलाप और व्यवहार, तेजस्विता और बुद्धिमत्ता को प्रकट करता था। उसकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिये ही मैंने व्याख्या का यह नाम रखा है।

सरस्वती व्याख्या संबंधी कुछ प्रमुख पक्ष इस प्रकार हैं—

(१) सम्पूर्ण व्याख्या में संगीतरत्नाकर की दोनों टीकाओं के अलावा संगीतशास्त्र के मूलग्रन्थों और टीकाओं का उपयोग करके उसे प्रामाणिक बनाया है।

(२) प्राचीन लक्षण को यथासंभव वर्तमान लक्ष्य से जोड़ते हुए व्याख्या करने की कोशिश की गई है ताकि प्राचीन धारणाओं के अधिकाधिक नज़दीक पहुँचा जा सके।

....

(३) जातिप्रकरण में ७ शुद्धा जातियों के जो 'प्रस्तार' संगीतरत्नाकर में हैं उन्हें आज के प्रयोग से जोड़ कर समझने की दृष्टि से उन जातियों के स्वरों को आज के शुद्ध-विकृत स्वरों में रूपान्तरित करके वर्तमान अंकन पद्धति में जातिप्रस्तारों का रूपान्तरण दिया है। सितार पर जातियों के मूल स्वर स्थापित करके मूलप्रस्तारों को बजाने से उनके मूलरूप का कुछ अनुमान हो सकता है। दोनों ग्रामों की मूल स्वरावली को ठीक उसी रूप में गाकर प्रस्तुत करना आज बड़ा कठिन प्रयत्नसाध्य है लेकिन सितार जैसे वाद्य पर ग्रामिक स्वरावली स्थापित करके जातिप्रस्तारों का वादन करके अनुभव करना अपेक्षाकृत सरल है। इस दृष्टि से सितार पर इन जातियों के प्रत्यक्ष प्रयोग का एक कैसेट भी प्रस्तुत कार्य के साथ निकालने का विचार था किन्तु इसके लिये सक्षम वादक न मिल पाने और अन्य कठिनाइयों के कारण इस विचार को फ़िलहाल छोड़ देना ज़रूरी हो गया।

(४) प्रस्तुत कार्य के अन्त में निम्नलिखित ६ परिशिष्ट जोड़े गये हैं जो ग्रन्थ को समझने में उपयोगी होंगे।

परिशिष्ट (क)—सारणाविधि—प्राचीन भारतीय संगीतशास्त्र में आधारशिला के समान श्रुति की धारणा और श्रुतियों की संख्या को सिद्ध करने की शास्त्रोक्त 'चतुःसारणा' का विस्तार से इस परिशिष्ट में विश्लेषण किया गया है जिसके आधार पर २२ श्रुतियों का प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

परिशिष्ट (ख)—भरत और शार्ङ्गदेव के शुद्ध-विकृत स्वरों को वीणा के पर्दों पर स्थापित करने के दाक्षिणात्य ग्रन्थकारों के प्रयत्न और उनके परिणामों का विश्लेषण इस परिशिष्ट में है।

परिशिष्ट (ग)—गान्धारग्राम की जो संक्षिप्त चर्चा २-३ ग्रन्थों में हुई है उसके आधार पर इस ग्राम की स्वरव्यवस्था और प्रयोग से इसके लुप्त हो जाने से संबंधित कारणों पर इसमें विचार किया गया है।

परिशिष्ट (घ)—ग्रन्थों में प्राप्त मूर्च्छना भेदों के दो प्रकार के वर्गीकरण का तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण इस परिशिष्ट में हुआ है।

परिशिष्ट (ङ)—भरत के नाट्यशास्त्र में हुए 'अलंकार'-निरूपण और उस संदर्भ में अलंकार की धारणा पर इस परिशिष्ट में प्रकाश डाला गया है।

परिशिष्ट (च)—संगीतरत्नाकर के प्रणेता शार्ङ्गदेव और उनके दोनों टीकाकारों के मंगलाचरणों, आत्मपरिचयात्मक विवरणों और उपसंहारों के महत्त्व का संक्षिप्त परिचय इस परिशिष्ट का विषय है।

यों तो प्रस्तुत भूमिका में संगीतरत्नाकर और ग्रन्थकार से संबंधित आवश्यक जानकारी दे दी गई है लेकिन यह अपेक्षित है कि छात्रगण संगीतरत्नाकर के अन्य संस्करणों, ख़ास तौर पर आड्यार, डॉ० शृंगी के अंग्रेज़ी अनुवाद और डॉ० तारळेकर के मराठी अनुवाद वाले संस्करणों की भूमिकाएँ ज़रूर देखें ताकि ग्रन्थ, ग्रन्थकार और टीकाकारों के बारे में ज़्यादा जानकारी पा सकें।

कृतज्ञता-ज्ञापन

पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओम्कारनाथ ठाकुर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की धृष्टता तो मैं नहीं कर सकती क्योंकि सन्त कबीर की वाणी में—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

संगीत के मूलग्रन्थों के अध्ययन का बीज बोकर उन्होंने मुझमें जो संस्कार डाले उसी का सुफल यह कार्य है। इसलिये उनका स्मरण करते हुए, उन्हें प्रणाम निवेदित करते हुए यह कार्य उन्हीं को समर्पित करती हूँ।

बीज को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, फलित होने के लिये जैसे यथानुकूल खाद, पानी और उचित वातावरण की ज़रूरत होती है उसी तरह गुरुजी द्वारा बोये गये बीज के अंकुरण और विकास के लिये आवश्यक मार्गदर्शन-निर्देशन स्व० डॉ० प्रेमलता शर्मा से मुझे सतत प्राप्त हुआ। प्रस्तुत कार्य का सुझाव भी उन्होंने ही दिया और शुरू में इस संबंध में उचित सलाह भी वे देती रहीं। इसके लिये मैं हृदय से सबसे पहले उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

प्रख्यात संगीतशास्त्री स्व० ठाकुर जयदेव सिंह की हार्दिक इच्छा थी कि यह कार्य जल्दी प्रकाशित हो। उत्तर-प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष के अपने कार्यकाल में उन्होंने अकादमी से इसके प्रकाशन की व्यवस्था भी की जो उनका कार्यकाल पूरा हो जाने के बाद कार्यान्वित नहीं हो सकी। प्रस्तुत कार्य में 'जातिप्रस्तारों' को वर्तमान अंकन पद्धति में रूपान्तरित करके देने का उन्हीं का सुझाव और आग्रह था। उनके जीवनकाल में यह प्रकाशन नहीं हो सका, इसका मुझे दुःख है। लेकिन उनके स्नेहपूर्ण आशीर्वाद के लिये मैं उनके प्रति सदा आभारी रहूँगी।

पिण्डोत्पत्तिप्रकरण के संबंध में उठी प्रारंभिक शंकाओं का समाधान समय-समय पर करने के लिये डॉ० गंगासहाय पाण्डेय वाराणसी के प्रति आभारी हूँ। इस सम्पूर्ण प्रकरण के अनुवाद और व्याख्या को आद्योपान्त पढ़ कर, सुझाव देकर और प्रशंसा करके मेरा जिस प्रकार उत्साहवर्धन किया उसके लिये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग के प्रौफ़ेसर स्व० पं० यदुनन्दन उपाध्याय के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ।

अभिन्न मित्र स्व० डॉ० विमला मुसलगाँवकर के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रस्तुत कार्य में निरन्तर आईं बाधाओं के समय में अपने स्नेह और आत्मीयता के द्वारा मेरा मनोबल बनाए रखने में सहयोग दिया और जो इस कार्य के जल्दी प्रकाशन की आवश्यकता का निरन्तर बोध कराती रहीं। उनके पति महामहोपाध्याय पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर ने समय-समय पर दुर्लभ सन्दर्भ ग्रन्थ उपलब्ध करा कर, तत्संबंधी उपयोगी सामग्री देकर और अनुवादसंबंधी शंकाओं को दूर करके समय-समय पर जो सहयोग दिया उसके लिये उनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरे मित्र, मद्रास विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में अध्यक्ष और प्रौफ़ेसर डॉ० एॅन्० रामनाथन् ने धारणाओं के स्पष्टीकरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये इसके लिये उन्हें धन्यवाद देती हूँ।

डॉ० अनिल बिहारी ब्योहार, सम्प्रति इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (म० प्र०) के संगीतशास्त्र विभाग में सीनियर लैक्चरार और मेरे पूर्व छात्र, ने अनेकविध सुझाव देकर इस कार्य को छात्रों की दृष्टि से ज्यादा उपयोगी बनाने में सहयोग दिया इसके लिये और जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष हेतु उन्हें हार्दिक आशीर्वाद देती हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वेदविभाग में रीडर डॉ० कृष्णकान्त शर्मा ने प्रस्तुत कार्य के संस्कृत भाग को आद्योपान्त देखकर आवश्यक सुधार करके जो बहुमूल्य सहयोग दिया उसके लिये हृदय से उनके प्रति आभारी हूँ।

इनके अलावा जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष मदद की उन सबके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रस्तुत कार्य के प्रकाशक राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली विशेष धन्यवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक को सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने का कार्य किया है। साथ ही जे० आर० प्रिंटर्स, दिल्ली के श्री जयवीर सिंह को सुन्दर सैटिंग और बहुत कम समय में पूरी सामग्री की शुद्ध टाइपिंग के लिये बधाई देती हूँ।

वाराणसी,
श्रावणी पूर्णिमा,
वि० सवंत् २०५६,
२६ अगस्त ई० सन् १९९९

सुभद्रा चौधरी

संकेत-सूची

अ०	अन्वय (अन्वय और अनुवाद में)
अ०	अध्याय (संदर्भों में)
अनु०	अनुवाक्
अभि०	अभिनवभारती
कल्लि०	कल्लिनाथ
काव्य०	काव्यप्रकाश
चतु०	चतुर्दण्डीप्रकाशिका
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
नान्य०	नान्यदेव
ना०शा०	नाट्यशास्त्र
ना०शि०	नारदीयाशिक्षा
पृ०	पृष्ठ
पं०	पंक्ति
प्र०	प्रथम
बृह०	बृहद्देशी
भ० भा०	भरतभाष्य
राग०	रागविबोध
श्लो०	श्लोक
सर०	'सरस्वती' व्याख्या
सं० म०	संगीतमकरन्द
सं० र०	संगीतरत्नाकर
सं० राज	संगीतराज
सं० स० सार	संगीतसमयसार
संस्क०	संस्करण
सिंह०	सिंहभूपाल
स्वरमेल०	स्वरमेलकलानिधि

विषय-सूची

(प्रकरणों की पृष्ठसंख्या और प्रकरणों में विषयों की श्लोकसंख्या दी गई है)

प्रथम स्वरगताध्याय

श्रीनिःशङ्कशार्ङ्गदेवप्रणीतः

संगीतरत्नाकरः

प्रथमः स्वरगताध्यायः

तत्रादिमं पदार्थसंग्रहाख्यं प्रकरणम्

श्रीनिःशङ्कशार्ङ्गदेव-प्रणीत

संगीतरत्नाकर

प्रथम स्वरगताध्याय

पहला पदार्थसंग्रह नामक प्रकरण

(मङ्गलाचरणम्)

ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पङ्कजे
सूरीणामनुरञ्जकः श्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते।
यस्माद् ग्रामविभागवर्णरचनाऽलङ्कारजातिक्रमो
वन्दे नादतनुं तमुद्धुरजगद्गीतं मुदे शङ्करम्॥ १॥

मंगलाचरण

शंकर-पक्ष में

१. (अ०) यःजो (शंकर) सूरीणां हृत्पङ्कजे योगियों के हृदय-कमल (हृदय में स्थित द्वादशदल कमल या चक्र) में (प्रकाशित होता है); (जो) ब्रह्मग्रन्थिजमारुत-अनुगतिना चित्तेन ब्रह्मग्रन्थि से उठी हुई प्राणवायु की गति का अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा (प्रकाशित होता है); (जो) श्रुतिपदं श्रुति (अर्थात् वेद) का उत्पत्ति-स्थान (यानी 'प्रणव') है; (जो) अनुरञ्जकः अपने वाचक शब्दों के द्वारा ज्ञात होने अथवा साक्षात्कार होने के बाद (अनुभूति में आता है अथवा) अपने जैसा बना देता है; (जो) अयं यह स्वयं राजते स्वयं प्रकाशित होता है; यस्मात् जिससे ग्राम-विभाग-वर्णरचना-अलङ्कार-जातिक्रमः ग्राम और विभाग अथवा ग्राम-विभाग, वर्ण रचना, अलंकार, जाति (और) उनका क्रम (उत्पन्न होता है); (जिसका) नादतनुं शरीर नाद (ही है); जगत् उद्धुर-गीतं जगत् ने (जिसका) उत्कट (रूप से) गान किया है; तं शङ्करं उस शंकर की (मैं) मुदे (अपने) आनन्द के लिये वन्दे वन्दना करता हूँ।

संगीत-पक्ष में

(जो) सूरीणां हृत्पङ्कजे स्वरज्ञों के मन्द्रस्थान में (स्वयं उत्पन्न होता है), (जो) ब्रह्मग्रन्थिजमारुत-अनुगतिना चित्तेन

ब्रह्मग्रन्थि से उठने वाली वायु (को प्रेरित करने वाले और उस) का अनुसरण करने वाले चित्त में (प्रकाशित होता है); (जो) श्रुतिपदं श्रुति के (अपने) स्थान पर (ही) अनुरञ्जकः (और उससे) अविच्छिन्न रूप से (अर्थात् अपनी कारणभूत श्रुति के द्वारा ही) अपने स्वरूप के द्वारा (श्रोताओं को) सुखकर (होता है); यः अयं जो यह (शास्त्रों में प्रसिद्ध होने से अनुभूयमान है); (जो) स्वयं राजते (बिना किसी सहकारी के) स्वयं प्रकाशित होता है; यस्मात् जिससे ग्राम-विभाग-वर्ण-रचना-अलङ्कार-जातिक्रमः ग्राम (और उसका) विभाग, वर्ण (और उनकी) रचना, अलंकार, जाति (और उनका) क्रम (उत्पन्न होता है); (जो) नादतनुं नादरूप (ही है); (जिसके द्वारा) जगत् उद्धुर-गीतं जगत् उत्कट रूप से गाया गया (है); मुदे आनन्द के (अविर्भाव के) लिये (मैं) तं शङ्करं उस सुखकर (गीत) की वन्दे वन्दना करता हूँ।

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार ने प्रतिपाद्य विषय के मुख्य अंगों को समासोक्ति अलंकार के द्वारा कह कर शिष्टाचार के लिये और दृष्ट-अदृष्ट फल की इच्छा से शुरू में अपने इष्ट देवता की वंदना की है।

समासोक्ति अलंकार का लक्षण मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में यह है—'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः' (काव्य०, १०/९७)। अर्थात् 'श्लेष' युक्त यानी एक से ज्यादा अर्थों से युक्त, 'भेदक' यानी विशेषण पदों के द्वारा, 'पर-उक्ति' यानी अप्रस्तुत का कथन समासोक्ति है। 'समासोक्ति' शब्द का अर्थ है समास से यानी संक्षेप में कहना। इस अलंकार में कई अर्थ वाले शब्द से प्रस्तुत अर्थ के द्वारा अप्रस्तुत का कथन होता है। यहाँ मंगलाचरण में भी 'सूरीणां', 'हृत्पङ्कजे', 'श्रुतिपदं', 'ग्राम', 'वर्ण', 'अलङ्कार', 'जाति', 'शङ्कर' आदि शिलष्ट (दो-दो अर्थ वाले) शब्द हैं। शंकर की वंदना प्रस्तुत अर्थ है और प्रतिपाद्य विषय यानी संगीत के मुख्य अंग अप्रस्तुत हैं।

मंगलाचरण की टीका में कल्लिनाथ और सिंहभूपाल के दृष्टिकोण में कहीं-कहीं अन्तर है इसलिये पहले कल्लि० की टीका को आवश्यकतानुसार आधार मान कर इस श्लोक के मुख्य शब्दों का अर्थ दिया जा रहा है और फिर जिन शब्दों का सिंह० ने भिन्न अर्थ किया है उनका अर्थ सिंह० के अनुसार दिया जाएगा।

कल्लिनाथ के अनुसार—ईश्वर पक्ष में अर्थ

'सूरीणां हृत्पङ्कजे'—हृत्पंकज का शब्दार्थ है हृदय-कमल। योगदर्शन में शरीर के विशिष्ट स्थानों पर कमल की पंखुड़ियों के आकार के चक्र माने गये हैं जिन्हें 'चक्र' या 'कमल' कहा जाता है। (आगम परम्परा के विभिन्न ग्रन्थों में ६, ८, ९, १२ और १६ चक्र भी कहे गये हैं। लेकिन निगम परम्परा में षट्चक्रों से ज्यादा नहीं माने हैं।) हृदय में स्थित बारह पंखुड़ियों के आकार वाला चक्र 'द्वादशदलचक्र' है जो अनाहत नाद का उत्पत्ति स्थान होने के कारण 'अनाहतचक्र' कहलाता है। योगियों द्वारा अनुभव किया जाने वाला यह अनाहत नाद ईश्वर के साक्षात्कार में सहायक होता है और हृदय में स्थित इसी कमल में ईश्वर स्वयं प्रकाशित होता है इसलिये 'सूरीणां हृत्पङ्कजे' का प्रयोग किया है।

'ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन'—नाभि में स्थित ब्रह्मग्रन्थि में रहने वाली वायु क्रमशः नाभि से हृदय, कण्ठ और मुँह की ओर बढ़ती है और शब्दों के उच्चारण का मूलकारण है। इस प्राणवायु की गति का अनुसरण करने वाले चित्त यानी अन्तःकरण के द्वारा ही वह ईश्वर प्रकाशित होता है।

'श्रुतिपदं अनुरञ्जकः'—'श्रुति' का अर्थ वेद और 'पद' का अर्थ उत्पत्तिस्थान है। ब्रह्म के सूचक पदों की उत्पत्ति वेदों में होने से प्रणव 'श्रुतिपद' है यानी वेदों का उत्पत्तिस्थान है (यहाँ 'अनु' को श्रुतिपद रूप ईश्वर के लिये 'लक्षण' अर्थ में अन्वित माना गया है)। अथवा यह कह सकते हैं कि उसका शाब्दिक ज्ञान होने के बाद ही प्रत्यक्ष संभव होने से 'अनु' (पश्चात्) सार्थक है और सोने के समान अपने से भिन्न वस्तु को अपने में अन्तर्भूत करके अपने आकार का बना लेने के कारण 'रञ्जक' सार्थक है। 'अनु' का पश्चात् अर्थ लेने पर 'श्रुतिपदं' का यह अर्थ समझना चाहिये—श्रुतियों के 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' से लेकर 'तत्त्वमसि' तक के महावाक्य, जो स्वयं वेद न होते हुए भी वेदों के अवान्तर वाक्य कहे जा सकते हैं और जिनका ज्ञान उपक्रम-उपसंहार आदि ६ लिङ्गों से होता है, उनका पद यानी उनके उत्पत्तिस्थान रूप ईश्वर के वाचक 'तत्' आदि शब्दों के सुनने पर ही उसका ज्ञान होता है तब अभ्यास के द्वारा 'तत्' और 'त्वं' के भेद का निरास (समाप्ति) होने पर 'तत्' और

'त्वं' की ऐक्य-प्रतीति होती है यानी साक्षात्कार होता है। सार यह है कि इन वाक्यों को सुनने के बाद पहले शाब्दी प्रतिपत्ति होती है, फिर भेद का निरास होने पर ही 'तत्' और 'त्वं'—इन पदार्थों की एकता का अभ्यास होने पर—इतना अर्थ 'अनु' शब्द से संकेतित है।

***'योऽयं स्वयं राजते'*—'यः' का अर्थ है जो शास्त्रों के द्वारा जाना जाता है। ईश्वर का ज्ञान शब्द-प्रमाण से ही होता है। इसीलिये शास्त्रों के द्वारा वेद्य (जाना जाने योग्य) माना जाता है। 'अयं' अर्थात् 'यह' जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। ईश्वरसूचक शब्द के श्रवण के बाद उसका मनन करने पर मानसप्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार होता है। 'स्वयं राजते' का अर्थ है स्वयं प्रकाशित होता है यानी अपने प्रकाशन के लिये उसे किसी दूसरे प्रकाश की जरूरत नहीं होती। उससे साक्षात्कार होने का अर्थ है चित्त की वृत्तिरूप उपाधि का निरास होना (हट जाना)। तब ईश्वर, जो स्वयंप्रकाश है, हमारे लिये अपने ही स्वरूप से प्रकाशित होता है। ऐसा होने पर जीव और ईश्वर में अन्तर नहीं रहता। इसी के प्रमाण में कल्लि० ने 'योगयाज्ञवल्क्य' का जो उद्धरण दिया है उसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। वहाँ कहा गया है कि तब आत्मा उसी तरह स्वयं प्रकाशित होता है जैसे आकाश में सूर्य। तब पुरुष जिस-जिसको देखता है वह सब 'आत्मवत्' (अपने ही जैसा) और 'आत्मा में' (अपने भीतर ही) दिखाई देता है। यानी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होने पर आत्मा से भिन्न कुछ नहीं रहता।**

***'अलङ्कारजाति'*—ईश्वर के पक्ष में अलंकार का अलग से अर्थ नहीं जुड़ता इसलिये इसे जाति का विशेषण बना कर ब्राह्मणादि वर्णों का उपकारक कहा है। वर्णों के परस्पर मिश्रण से जो जातियाँ बनती हैं वे वर्णों की उपकारक होने से अलंकार-जाति कहलाती हैं।**

***'क्रमः'*—ग्राम, वर्ण, अलंकारजाति आदि का क्रम जिससे होता है, यह अर्थ है।**

'यस्मात्' से 'जातिक्रमः' तक के द्वारा ग्रन्थकार ने यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर के प्रति जगत् तटस्थ लक्षण है यानी वह ईश्वर जिससे ग्राम वर्णादि की उत्पत्ति होती है। किसी पदार्थ का ऐसा लक्षण जो उसके स्वरूप का प्रतिपादक नहीं बल्कि आगन्तुक हो यानी जिसके बिना भी पदार्थ की सत्ता रहे वह 'तटस्थ' लक्षण कहलाता है। जगत् का निर्मातृत्वादि (निर्माण करना) ईश्वर का स्वरूप लक्षण नहीं है क्योंकि जगत् के बिना भी उसकी निरपेक्ष सत्ता है। ब्राह्मणादि वर्ण उसी से उत्पन्न हैं। श्रुतियों ने ऐसा कहा है कि ब्राह्मणादि उसके मुख, क्षत्रिय उसकी भुजाएँ, वैश्य उसकी जंघा और शूद्र उसके पैर हैं।

***'नादतनुं'*—अर्थात् नाद ही जिसका शरीर है। ईश्वर जगत् के पदार्थों से अलग शरीर धारण करके नहीं रहता बल्कि उन पदार्थों में ही प्रवेश कर जाता है, ऐसा वेद का प्रमाण है। फिर भी यहाँ 'नादतनु' का प्रयोग विशेष प्रयोजन से किया गया है। संगीतरत्नाकर में नादतत्त्व की उपासना विधि बताई जाने वाली है इसलिये नाद को प्रधानता देने के लिये नादरूप शरीर कहा है। या सृष्टि के उत्पत्तिक्रम में सबसे पहला तन्मात्र 'शब्द' यानी 'नाद' है, उसे उत्पन्न करके ईश्वर नादरूप देह में ही प्रविष्ट हो गया इसलिये 'नादतनु' कहा है।**

स्वर पक्ष में अर्थ

***'सूरीणां'*—यानी स्वर के ज्ञाताओं के 'हृत्पङ्कजे' यानी मन्द्रस्थान में प्रकाशित होता है। संगीत में मन्द्रस्वरों का उत्पत्ति स्थान हृदय माना जाता है इसलिये लक्षणा से 'हृत्' का अर्थ मन्द्र किया गया है। यों तो स्वर मध्य और तार स्थानों में भी होते हैं लेकिन यहाँ सिर्फ़ मन्द्रस्वर इसलिये कहा है कि मन्द्रस्वरों के ही क्रमशः दुगने-दुगने स्वर मध्य और तारस्थान में होते हैं।**

***'ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना'*—ब्रह्मग्रन्थि से उत्पन्न वायु की गति का अनुसरण करते हुए ऐसे चित्त के द्वारा अनुभूत होता है जो आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर वायु को प्रेरित करता है।**

***'श्रुतिपदं'*—श्रुतियाँ अनेक होने से 'पदानि' होना चाहिये, लेकिन 'श्रुतिपदं' में पद शब्द में जातिसूचक एकवचन है इसलिये इसका अर्थ है सभी श्रुतियों के स्थान। ऊर्ध्वनाडी यानी सुषुम्णा से संलग्न २२ नाड़ियाँ हैं जो तिरछी हैं। चित्त के द्वारा**

आकृष्ट वायु से जब उन नाड़ियों में आघात होता है तब नाद उत्पन्न होता है यानी श्रुतियों की उत्पत्ति का स्थान ये नाड़ियाँ हैं। नाड़ियों में स्थित होने से इस नाद को लक्षणा के द्वारा 'पद' शब्द से सूचित समझना चाहिये।

'अनुरञ्जकः'—नाद इन २२ नाड़ियों से उत्पन्न होता है लेकिन स्वर जिस श्रुति पर स्थित होता है वह स्वर उस श्रुति से अलग नहीं बल्कि उसी श्रुति पर स्थित रह कर अपने स्वरूप के द्वारा श्रोताओं के आनन्द का कारण बनता है।

'योऽयं'—'जो' शास्त्रों में प्रसिद्ध ऐसा 'यह' (स्वर) यानी श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षगम्य होने वाला स्वर।

'स्वयं राजते'—इन शब्दों के द्वारा स्वर का स्वरूप लक्षण भी कहा गया है और 'स्वर' शब्द की निरुक्ति भी दी गई है। किसी सहायक तत्त्व के बिना अपने आप प्रकाशित होता है, ऐसा स्वर है। 'स्वयं' से 'स्व' और 'राजते' से 'र'—इन अक्षरों के साम्य से 'स्वर' शब्द की व्याख्या भी की गई है।

शार्ङ्गदेव के समय से ही संगीत के प्राचीन शास्त्रग्रन्थ दुर्बोध हो गये थे इसका संकेत देते हुए सिंहभूपाल ने टीका आरम्भ करने से पहले ही कहा है कि भरत, दत्तिल, कोहल आदि के द्वारा प्रतिपादित संगीत के शास्त्रग्रन्थों का रहस्य दुर्बोध हो गया था इसलिये परम करुणावान् शार्ङ्गदेव ने लोक के उपकार के लिये 'संगीतरत्नाकर' नाम का यह ग्रन्थ रचा जिसमें संगीत का सार प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये सदाचार और स्मृति से अनुमित तथा श्रुतियों में विहित शंकररूप विशिष्ट इष्टदेवता की वंदनारूप मंगलाचरण किया है और प्रसंगवश प्रतिपाद्य विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध भी उसी श्लोक में कह दिये हैं।

कल्लि० ने क्रियापद 'वन्दे' को अन्त में रख कर टीका की है लेकिन सिंह० ने 'वन्दे' से शुरू करके उसके साथ पदों का अन्वय करते हुए खण्ड-खण्ड करके टीका की है।

'वन्दे'—नमस्कार है। *'शङ्करं'*—शंकर अथवा सुखदायक ईश्वर को। 'उद्धुरजगद्गीतं'—जगत् के द्वारा उत्कट रूप से गाये गए। 'नादतनुं'—नाद अथवा शब्द अथवा आकाश ही जिसका शरीर है (ऐसे ईश्वर को)। 'तं यस्मात्'—उस ईश्वर को जिससे। 'ग्राम .... क्रमः'—ग्राम, विभाग, वर्ण, रचना, अलंकार, जाति, क्रम आदि उत्पन्न होते हैं अथवा इनका क्रम उत्पन्न होता है। 'योऽयं स्वयं राजते'—जो अन्य किसी के ज्ञान आदि की अपेक्षा के बिना स्वयं प्रकाशित होता है। 'सूरीणां हृत्पङ्कजे अनुरञ्जकः'—जो ज्ञानियों के हृदय में अभिव्यक्त होता है। 'चित्तेन'—चित्त के द्वारा। 'ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना'—ब्रह्मग्रन्थि से उत्पन्न वायु के साथ-साथ जाने वाले (चित्त के द्वारा जो अभिव्यक्त होता है उस ईश्वर को नमस्कार है)। सिंह० ने 'श्रुतिपदं' को अन्वित करके नहीं दिखाया है। लेकिन इसे 'यस्मात् .... क्रमः' के बाद रखा जा सकता है।

सिंहभूपाल के अनुसार—ईश्वर-पक्ष में अर्थ

पदों का क्रम उलट देने पर सिंह० की टीका के अनुसार इस श्लोक का ईशवंदनारूप अर्थ इस प्रकार है—ब्रह्मग्रन्थि से उत्पन्न वायु के साथ-साथ चलने वाले चित्त के द्वारा ज्ञानियों के हृदय कमल में जो वेदों में वर्णित ब्रह्म के वाचक पदों के श्रवण के बाद अभिव्यक्त होता है और जो स्वयं प्रकाशित होता है; जिससे ग्राम, विभाग, वर्ण, रचना, अलंकार, जाति, क्रम उत्पन्न होते हैं, जो नादरूप है, जगत् के द्वारा जो उत्कटता से गाया जाता है, उस सुखदायक ईश्वर को प्रसन्नता के लिये नमस्कार है।

श्लोक का आरम्भ 'ब्रह्म' शब्द से इसलिये किया गया है कि सब विघ्नों का नाश करने वाले परमात्मा के वाचक 'ब्रह्म' शब्द का सबसे पहले प्रयोग करने से मंगलाचरण भी होगा और ब्रह्म नाद-स्वरूप और मोक्षदायक भी होता है।

ग्रन्थकार ने 'वन्दे' शब्द का प्रयोग किया 'स्तौति' या 'नमति' का नहीं; इसमें विशेष प्रयोजन है। 'स्तौति' और 'नमति' में क्रम से स्तुति और अभिवादन एक-एक ही अर्थ है लेकिन 'वन्दे' में दोनों हैं। इसका प्रमाण 'धातुपाठ' का 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' है जिसके अनुसार 'वद' धातु अभिवादन और स्तुति अर्थ वाली है।

वंदना तीन प्रकार की होती है—मानसिक, वाचिक और कायिक (शारीरिक)। यहाँ 'वन्दे' शब्द के द्वारा जो वन्दना की है उसमें किसी एक का विशेष कथन न होने से तीनों का ग्रहण करना चाहिये। अथवा 'वन्दे' का अन्वय 'चित्तेन' के साथ 'चित्तेन वन्दे'—यों किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि मानसिक वंदना अभिप्रेत है क्योंकि चित्त के साथ श्रद्धा का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से वंदना में श्रद्धा के भाव की प्रधानता है और श्रद्धापूर्वक की गई वंदना मानसिक ही होती है। श्रुति में इसका प्रमाण है 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धया-'। लेकिन ग्रन्थ के आरंभ में वंदना की गई है इसलिये वाचिक भी है यह तो अर्थतः ही सिद्ध है। श्रद्धावान् आस्तिक व्यक्ति के वाचिक और कायिक नमस्कार में भेद नहीं होता यानी वे शरीर और वाणी से एक-साथ वंदना करते हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि 'वन्दे' में मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रकार का नमस्कार निवेशित है।

'शङ्कर' का सीधा अर्थ तो 'शंकररूप ईश्वर को' है। लेकिन 'शं करोतीति शङ्करः तं शङ्करं'—यह व्याख्या करने से जो निरपेक्ष सुख देने वाला है उस ईश्वर की ही वंदना की है। इससे सापेक्ष सुख देने वाले राजा आदि का निराकरण हो जाता है। लेकिन संसार से निरपेक्ष व्यक्ति भी जगत् के आनन्द के लिये यत्न करते हैं, उनका निरास करने के लिये 'उद्धुर' विशेषण का प्रयोग किया है। यानी जो उत्कटता से जगत् के द्वारा स्तुत्य होता है। जगत् ईश्वर की ही स्तुति करता है, निरपेक्ष व्यक्तियों की नहीं।

'गीतं'—जगत् के द्वारा जो ईश्वर गाया जाता है उसकी वंदना की है। गीत शब्द की व्युत्पत्ति 'गै शब्दे' धातु से है। इसलिये 'गीतं' का अर्थ शब्द होने पर भी ईश्वर से संवद्ध होने के कारण यहाँ प्रकरणप्राप्त अर्थ 'स्तुति' ही है।

'नादतनुं'—नाद ही जिसका शरीर अथवा स्वरूप है। सिंह० ने नाद शब्द के कई अर्थ देकर 'नादतनुं' की सार्थकता सिद्ध की है। ब्रह्म को 'शब्दब्रह्म' भी कहा जाता है और शब्द भी नाद का रूप है इसलिये शब्द ही जिसका स्वरूप है यह अर्थ हो सकता है। अथवा जैसे कार्य से कारण का उपलक्षण किया जाता है उसी प्रकार नाद से आकाश का ग्रहण किया जाय तो आकाश ही जिसका स्वरूप है यह अर्थ हो सकता है। आकाश ईश्वर का केवल एक रूप है समग्र रूप नहीं, फिर आकाश का ही ग्रहण क्यों किया जाय?—इस शंका का जो समाधान सिंह० ने किया उसका सार यह है कि शब्द जिसका कार्य है ऐसे कारणरूप परमेश्वर का अनुग्रह ग्रन्थरूप शब्द विस्तार की निर्विघ्न समाप्ति का साधन है इसे अभिव्यक्त करने के अभिप्राय से शब्द गुण वाले आकाशरूप कार्य से लक्षणा के द्वारा परमेश्वर की वंदना करने के लिये 'नादतनुं' का प्रयोग हुआ है।

'यस्मात् ग्राम.........क्रमः'—'ग्राम' से पृथ्वी आदि लोक अथवा नगर, गाँव, बस्ती आदि समझे जा सकते हैं। 'विभज्यते इति विभागः'—इस व्युत्पत्ति से विभाग का अर्थ धनधान्य आदि है क्योंकि इनका विभाजन होता है। या ग्रामों का विभाग भी हो सकता है। 'वर्ण' यानी ब्राह्मण, क्षत्रियादि, 'रचना' यानी द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (पशु), षट्पद (कीड़े-मकोड़े) आदि, 'अलङ्कार' यानी आभूषण, 'जातियाँ' जैसे गोत्व, अश्वत्वादि, 'क्रम' जैसे बालक-युवा-वृद्ध या उत्पत्ति-पालन-संहार अथवा ऋतुओं का क्रम। 'यस्मात्' में पंचमी विभक्ति होने से पाणिनि के 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' सूत्र के अनुसार इसका अर्थ है—यह सब जिससे उत्पन्न होता है। 'यस्मात्' और 'क्रम' का अन्वय सिंह० ने अन्य दो प्रकार से भी किया है। एक में 'यस्मात्' और 'क्रम' दोनों का अन्वय ग्राम आदि हरेक के साथ किया है यानी जिससे ग्राम और ग्राम का क्रम, जिससे विभाग और विभाग का क्रम, जिससे वर्ण और वर्ण का क्रम, जिससे रचना और रचना का क्रम, जिससे अलंकार और अलंकार का क्रम, जिससे जाति और जाति का क्रम उत्पन्न होता है। पहले 'क्रम' को भी ग्रामादि के समान विशेष अर्थ के रूप में समझाया है और उसका अन्वय हरेक की परिपाटी के रूप में किया है। दूसरे अर्थ में 'क्रम' को प्रत्येक के साथ अलग-अलग नहीं जोड़ा बल्कि ग्राम से लेकर जाति के अन्त में 'क्रम' अन्वित किया है यानी ग्राम, विभाग, वर्ण, रचना, अलंकार जाति—समग्र रूप से इन सबका जो क्रम या परिपाटी है, वह।

'योऽयं स्वयं राजते'—जो यह स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश इस रूप में कहा गया है कि वह ईश्वर ज्ञान का विषय न होने पर भी अपरोक्ष व्यवहार के योग्य है अर्थात् ईश्वर के प्रकाशित होने के लिये हमारे ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, वह हमारे

ज्ञान के बिना ही स्वप्रकाश से प्रकाशित रहता है, किन्तु हमारे लिये वह अपरोक्ष रूप में प्रकाशित होता है। 'अपरोक्ष' शब्द का प्रयोग परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के ज्ञान का निरास करने के लिये किया है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय सन्निकर्ष आवश्यक है लेकिन ईश्वर का साक्षात्कार इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। परोक्ष ज्ञान में अक्ष यानी इन्द्रिय से परे का भाव तो है लेकिन परोक्ष हमसे अलग है। 'अपरोक्ष' का सूक्ष्म अर्थ है—जो परोक्ष नहीं। 'अ' लगाकर मुख्य रूप से 'हमसे भिन्न' का निषेध किया है क्योंकि अक्ष का निषेध तो 'परोक्ष' में हो ही जाता है। ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान इसलिये कहा है कि वह प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं लेकिन परोक्ष यानी हमसे अलग भी नहीं होता। हमारे भीतर ही ईश्वर का साक्षात्कार होने के कारण वह अपरोक्ष व्यवहार के योग्य माना गया है।

'सूरीणां हृत्पङ्कजे'—योगियों के हृदय में वह ईश्वर रहता है। इसका प्रमाण है कि आत्मा के मध्य में 'अंगुष्ठ-मात्र पुरुष' रहता है। ईश्वर तो व्यापक तत्त्व है और एक स्थान पर स्थित होना मूर्त पदार्थ का धर्म है फिर ईश्वर हृदय में कैसे रह सकता है, यह शंका हो सकती है। इसके समाधान में सिंह० ने 'अनुरञ्जकः' को 'हृत्पङ्कजे' के साथ अन्वित किया है। इसका अर्थ यह है कि व्यापक होते हुए भी परमात्मा की अभिव्यक्ति प्राणियों के हृदय में ही होती है।

'चित्तेन'—इस परमात्मा की अभिव्यक्ति चित्त के द्वारा ही होती है।

'ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना'—यह समस्तपद 'चित्तेन' का विशेषण है यानी जो चित्त ऐसा है उसके द्वारा परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है। सुषुम्णा के साथ इडा और पिंगला—इन दो नाड़ियों का जहाँ सम्बन्ध होता है वह स्थान ब्रह्मग्रन्थि कहलाता है। उससे उठने वाली वायु की अनुगति वाला यानी साथ-साथ चलने वाला चित्त। 'अनु' का अर्थ 'सह' यानी साथ-साथ है। 'अनुगति' शब्द की दो तरह से व्युत्पत्ति की है—अनु+गति और अनुगत+इन्। दोनों का अर्थ लगभग एकसा है। मन और पवन सहचारी माने गये हैं इसलिये 'मारुतानुगतिना चित्तेन' कहा है।

'तं मुदे वन्दे'—ऐसा जो विशिष्ट परमेश्वर है, प्रसन्नता के लिये उसकी वन्दना करता हूँ।

संगीत-पक्ष में अर्थ

सिंह० के अनुसार संगीत के पक्ष में इस श्लोक का अर्थ यह होगा—ब्रह्मग्रन्थि से उत्पन्न वायु की गति के साथ-साथ जाने वाले चित्त के द्वारा जो स्वर-सन्दर्भ संगीत के तत्त्व को जानने वालों के हृत्पंकज में निरपेक्ष रूप से आनन्द देने वाला है; जिससे ग्राम, ग्रामविभाग, वर्ण, वर्णरचना, अलंकार, जाति की व्यवस्था बनती है; जिससे उत्कट जगत् में जाति, एला आदि (प्रबन्ध) गाये जाते हैं; जो नादरूप ही है; उस 'श्रुतिपद' (श्रुतियों के आश्रय) रंजक स्वर-सन्दर्भरूप गीत को नमस्कार है।

संगीतपक्ष में भी सिंह० ने 'वन्दे' से ही शुरू किया है। गीत की वन्दना की है क्योंकि रंजक स्वर-सन्दर्भ को गीत कहा जाता है जो संगीत के अन्तर्गत कहे जाने वाले गीत, वाद्य, नृत्त में से सबसे प्रधान है। संगीतरत्नाकर का प्रतिपाद्य विषय संगीत है, संगीत के तीन अंगों में से गीत एक है और वही प्रमुख है जिसके द्वारा अन्य दोनों का भी ग्रहण हो जाता है इसलिये गीत की वंदना की गई है, यह कहना उचित है। अथवा 'नादतनु' की वंदना की है। ऐसा स्वर-सन्दर्भ जिसका स्वरूप ही नाद है उसकी वंदना है। 'उद्धुरजगद्गीतं' की सिंह० की टीका कल्लि० से भिन्न है। कल्लि० के अनुसार इसका अर्थ है—जिस स्वर के द्वारा उत्कट जगत् गाया जाता है। सिंह० ने 'उद्धुर' को 'जगत्' का विशेषण बनाकर दोनों में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करके यह अर्थ किया है—उद्धुर जगत् में जिस स्वर-सन्दर्भ से जाति और एलादि प्रबन्ध गाये जाते हैं। 'मुदे' के द्वारा प्रयोजन व्यक्त किया है। 'शङ्करं'—जो सुख देने वाला है यानी सुख का जनक है। 'मुदे' और 'शङ्करं' के द्वारा जन्य-जनक सम्बन्ध भी दिखाया है क्योंकि सुख प्रयोजन है जो जन्य है और 'शं सुखं करोति इति शङ्करः' के अनुसार उस सुख का जनक स्वर-सन्दर्भ है। स्वरसमूहरूप 'ग्राम', ग्राम के षड्ज-मध्यम-गान्धार रूप 'विभाग', गानक्रियारूप 'वर्ण', उनका सुन्दर सन्निवेशरूप 'रचना', विशिष्ट वर्णसन्दर्भरूप 'अलंकार', षाड्जी आदि तथा षड्जकैशिकी आदि १८ 'जातियाँ' और उनकी व्यवस्था-रूप 'क्रम'—ये सब जिस स्वर-सन्दर्भ रूप गीत से उत्पन्न होते हैं उसकी वंदना है। 'योऽयं स्वयं राजते' के द्वारा यह लक्षित किया है कि

सहकारी की अपेक्षा के बिना जो स्वतः आनन्ददायक होते हैं ऐसे स्वरसन्दर्भ को नमस्कार किया है। साथ ही 'स्वर' शब्द की निरुक्ति भी की है। 'सूरीणाम् अनुरञ्जकः' के द्वारा अधिकारी का निर्देश किया है। जो संगीत के तत्त्व को जानने वाले हैं उन्हीं को यह आनन्द प्रदान करने वाला है अन्यों को नहीं, यह लक्षणा से अर्थ निकलता है। 'हृत्पङ्कजे' का अर्थ है हृदयस्थान जहाँ से मन्द्रस्वर उद्भूत होते हैं। लेकिन लक्षणा से कण्ठ और मूर्धा—स्वरों की उत्पत्ति के इन दोनों स्थानों का भी ग्रहण होता है। नाद की उत्पत्ति में चित्त भी कारण है इसलिये 'चित्तेन' कहा है।

वंशवर्णनम्

अस्ति स्वस्तिगृहं वंशः श्रीमत्काश्मीरसंभवः।
ऋषेर्वृषगणाज्जातः कीर्त्तिक्षालितदिङ् मुखः॥ २॥

वंशवर्णन

२. (अ०) श्रीमत् काश्मीर-संभवः श्री से युक्त काश्मीर देश में उद्भूत, वृषगणात् ऋषेः जातः वृषगण (नाम के) ऋषि से उत्पन्न, स्वस्तिगृहं वंशः कल्याण का आश्रय वंश अस्ति है (जिसने) कीर्त्ति-क्षालित-दिङ्मुखः कीर्ति से दिशाओं के मुख को धौत (उज्ज्वल) किया (है)।

(सर०) सिंह० ने वृषगण के दो अर्थ किये हैं—वृषगण ऋषि और वृषगण गोत्र। 'अस्ति'—इस वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग वंश के चिरकाल तक रहने को सूचित करता है।

यज्वभिर्धर्मधीधुर्यैर्वेदसागरपारगैः।
यो द्विजेन्द्रैरलञ्चक्रे ब्रह्मभिर्भूगतैरिव॥ ३॥

तत्राभूद्भास्करप्रख्यो भास्करस्तेजसां निधिः।
अलङ्कर्तुं दक्षिणाशां यश्चक्रे दक्षिणाऽयनम्॥ ४॥

३-४. (अ०) यज्वभिः याज्ञिकों के द्वारा, धर्म-धी-धुर्यैः धर्मबुद्धि की धुरी को धारण करने वालों के द्वारा, वेद-सागर-पारगैः वेद-सागर के पार जाने वालों के द्वारा, भूगतैः पृथ्वी पर अवतरित हुए ब्रह्मभिः इव ब्रह्मा के समान द्विजेन्द्रैः श्रेष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा यः अलञ्चक्रे जो (वंश) अलंकृत हुआ, तत्र उसमें भास्करप्रख्यः भास्कर (सूर्य) सदृश भास्करः भास्कर (नामक) तेजसां निधिः अभूत् तेजोनिधि हुआ, यः जिसने दक्षिणाशां अलङ्कर्तुं दक्षिण दिशा (अथवा दक्षिण के प्रवीणों की आशा) को अलंकृत करने के लिये दक्षिणा-अयनं चक्रे दक्षिण (देश या दिशा) में अयन (गमन अथवा निवास) किया।

(सर०) ग्रन्थकार ने अपने वंश की धार्मिकता के बारे में इन श्लोकों में कहा है। 'तेजोनिधि' शब्द के दो अर्थ हैं—ब्रह्मतेज तथा कान्ति। भास्कर नामक पितामह के पक्ष में ब्रह्मतेज और सूर्यपक्ष में कान्ति अर्थ होगा। 'दक्षिण' का व्यक्तिपक्ष में दक्षिण देश और सूर्यपक्ष में दक्षिण दिशा अर्थ होगा।

तस्याभूत्तनयः प्रभूतविनयः श्रीसोढलः, प्रौढधी-
र्येन श्रीकरणप्रवृद्धविभवं भूवल्लभं भिल्लमम्।
आराध्याखिललोकशोकशमनी कीर्तिः समासादिता
जैत्रे जैत्रपदं न्यधायि महती श्रीसिङ्घणे श्रीरपि॥ ५॥

५. (अ०) तस्य उसका प्रभूतविनयः अत्यन्त विनयसम्पन्न, प्रौढधीः प्रौढ बुद्धि वाला श्रीसोढलः श्रीसोढल (नाम का) तनयः पुत्र अभूत् हुआ येन जिसके द्वारा श्रीकरण-प्रवृद्ध-विभवं श्री के करण (श्री से युक्त और) प्रवृद्ध (फैले हुए) विभव

वाले भिल्लमं भूवल्लभं आराध्य भिल्लम राजा की आराधना करके अखिल-लोक-शोक-शमनी कीर्तिः पूरे लोक के शोक का शमन करने वाली कीर्ति सम्-आसादिता सम्यक् रूप से प्राप्त की गई (और) जैत्रे जैत्र नगर अथवा जैत्रपाल नामक राजा में जैत्रपदं (क्रम से) विजयस्तम्भ अथवा विजयपद (और) श्रीसिङ्घणे श्रीसिंघण (नामक राजा) में महती श्रीः अपि अत्यधिक श्री (महिमा, ऐश्वर्य) का भी न्यधायि निधान किया गया।

एकः क्ष्मावलये क्षितीश्वरमिलन्मौलीन्द्रनीलावलि-
प्रोदञ्चद्द्युतिचित्रिताङ्घ्रिनखरश्रेणिर्नृपालाग्रणीः।
श्रीमत्सिङ्घणदेव एव विजयी यस्य प्रतापानलो
विश्वव्याप्यपि दन्दहीति हृदयान्येव द्विषामुद्धुरः॥ ६॥

६. (अ०) क्षितीश्वर-मौलि-मिलन् राजाओं के सिरों से मिलती हुई (सिरों पर शोभायमान मुकुटों में जड़े हुए) इन्द्रनील-अवलि इन्द्रनील मणियों की पंक्तियों से प्रोदञ्चत् द्युति बिखरती हुई कान्ति से चित्रित-अङ्घ्रि-नखर-श्रेणिः (जिसके) पदनखों की श्रेणी चित्रित (शोभित) है, (ऐसा) नृपाल-अग्रणीः राजाओं में अग्रणी क्ष्मावलये पूरी पृथ्वी में श्रीमत् सिङ्घणदेव एव श्रीमान् सिंघणदेव ही एकः विजयी एकमात्र विजयी (राजा है) यस्य उद्धुरः प्रतापानलः जिसका उत्कट प्रतापानल (प्रतापरूपी अग्नि) विश्वव्यापी अपि विश्वव्यापी होते हुए भी द्विषां हृदयानि एव द्वेषियों (शत्रुओं) के हृदय को ही दन्दहीति बार-बार जलाता है।

(सर०) श्रीसिंघण के प्रताप का वर्णन है। प्रतापरूपी अग्नि जलाने का कारण-रूप है फिर भी वह सबको नहीं जलाता, केवल शत्रुओं के हृदय को ही जलाता है, इस कथन में कारण के होने पर भी कार्य न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। विशेषोक्ति अलंकार का यह लक्षण है—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। (काव्य०, १०/१०८)

इसके अनुसार सभी कारणों के होने पर भी फल को न कहना विशेषोक्ति अलंकार होता है।

तं प्रसाद्य सुधीधुर्यो गुणिनं गुणरागिणम्।
गुणग्रामेण यो विप्रानुपकारैरतीतृपत्॥ ७॥

ददौ न किं न किं जज्ञौ न दधौ कां च संपदम्।
कं धर्मं विदधौ नैष न बभौ कैर्गुणैरयम्॥ ८॥

७-८. (अ०) गुणिनं गुणी गुणरागिणं (और) गुणानुरागी तं उस (श्रीसिंघणदेव) को (अपने) गुणग्रामेण प्रसाद्य गुणग्राम (गुणों के समूह) से प्रसन्न करके सु-धी-धुर्यः अच्छी बुद्धि वालों की धुरी (रूप) यः जिस (सोढल) ने विप्रान् विप्रों (बुद्धिमानों) को उपकारैः अतीतृपत् उपकारों से तृप्त किया; (ऐसे) एष इस (श्रीसोढल) ने किं न ददौ क्या नहीं दिया? किं न जज्ञौ क्या नहीं जाना? कां च संपदं और कौनसी संपदा को न दधौ धारण नहीं किया? कं धर्मं किस धर्म को न विदधौ विशेष रूप से धारण नहीं किया? कैः गुणैः किन गुणों से अयं न बभौ यह शोभित नहीं हुआ?

(सर०) अर्थात् उसने सब दिया, सब जाना, सब सम्पत्ति और सब धर्म धारण किये तथा वह सर्वगुणसम्पन्न था।

ग्रन्थकृत् प्रशंसा

तस्माद्दुग्धाम्बुधेर्जातः शार्ङ्गदेवः सुधाकरः।
उपर्युपरि सर्वान्यः सदौदार्यस्फुरत्करः॥ ९॥

ग्रन्थकार की प्रशंसा

९. (अ०) तस्मात् दुग्ध-अम्बुधेः उस क्षीरसागर से सुधाकरः शार्ङ्गदेवः चन्द्रमा (रूप) शार्ङ्गदेव जातः उत्पन्न हुआ यः जो सर्वान् उपरि-उपरि सबके ऊपर सत्-औदार्य-स्फुरत्-करः सत् (उत्तम) उदारता को बिखेरने वाली किरणों से युक्त है।

(सर०) ग्रन्थ की विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये ग्रन्थकार ने अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन ९वें से १४वें श्लोकों में किया है।

कृतगुरुपदसेवः प्रीणिताशेषदेवः
कलितसकलशास्त्रः पूजिताशेषपात्रः।
जगति विततकीर्त्तिर्मन्मथोदारमूर्तिः
प्रचुरतरविवेकः शार्ङ्गदेवोऽयमेकः॥ १०॥

१०. (अ०) (जिसने) कृत-गुरुपदसेवः गुरु के चरणों की सेवा की (है), प्रीणित-अशेषदेवः अशेष (सभी) देवताओं को प्रसन्न किया (है), कलित-सकलशास्त्रः सब शास्त्रों का संग्रह किया (है), पूजित-अशेषपात्रः अनन्त पात्रों (योग्य व्यक्तियों) की पूजा की (है), जगति विततकीर्त्तिः जगत् में (जिसकी) कीर्ति फैली (है), (जो) मन्मथ-उदारमूर्तिः कामदेव के समान उदारमूर्ति (सुन्दर) (है), (जिसमें) प्रचुरतरविवेकः अत्यधिक विवेक (है) (ऐसा) एकः एकमात्र अयं शार्ङ्गदेवः यह शार्ङ्गदेव (है)।

नानास्थानेषु संभ्रान्ता परिश्रान्ता सरस्वती।
सहवासप्रिया शश्वद्विश्राम्यति तदालये॥ ११॥

११. (अ०) नानास्थानेषु संभ्रान्ता अनेक स्थानों में घूम कर परिश्रान्ता थकी हुई सहवासप्रिया सरस्वती (शार्ङ्गदेव के) सहवास को चाहने वाली सरस्वती तत् आलये उस (शार्ङ्गदेव) के आवास में शश्वत् विश्राम्यति सदा विश्राम करती है।

(सर०) शार्ङ्गदेव के समय तक काश्मीर और उत्तराखण्ड पर मुग़लों के आक्रमण हो चुके थे, इस कारण विद्वानों और पण्डितों को सदा इधर-उधर आश्रय खोजने के लिये भटकना पड़ता था। इसीलिये 'नानास्थानेषु संभ्रान्ता परिश्रान्ता सरस्वती' कहा है। शार्ङ्गदेव के पूर्वज काश्मीर में उत्पन्न हुए थे और सरस्वती यानी विद्याओं का उन्नयन भी काश्मीर में हुआ माना जाता है, इसलिये सरस्वती को उसकी 'सहवासप्रिया' कहा है। अथवा शार्ङ्गदेव विद्याविलासी था इसलिये ऐसा कहा, यह भी संभव है। प्रस्तुत श्लोक में ग्रन्थकार की कल्पना बड़ी सुन्दर है।

स विनादैकरसिको भाग्यवैदग्ध्यभाजनम्।
धनदानेन विप्राणामार्तिं संहृत्य शाश्वतीम्॥ १२॥

जिज्ञासूनां च विद्याभिर्गदार्तानां रसायनैः।
अधुनाऽखिललोकानां तापत्रयजिहीर्षया॥ १३॥

शाश्वताय च धर्माय कीर्त्त्यै निःश्रेयसाप्तये।
आविष्करोति संगीतरत्नाकरमुदारधीः॥ १४॥

१२-१४. (अ०) सः वह विनोद-एकरसिकः विनोद में एकमात्र रसिक (है और) भाग्य-वैदग्ध्य-भाजनं भाग्य की विदग्धता (चातुर्य) का पात्र (है)। धनदानेन विप्राणां धनदान के द्वारा ब्राह्मणों के, विद्याभिः जिज्ञासूनां विद्याओं के द्वारा जिज्ञासुओं के च और रसायनैः गद-आर्तानां औषधियों के द्वारा रोग पीड़ितों के शाश्वतीम् आर्तिं संहृत्य शाश्वत कष्टों को

दूर करके अधुना अब उदारधीः उदार बुद्धि वाला (शार्ङ्गदेव) अखिललोकानां समस्त लोकों के तापत्रयजिहीर्षया तीनों तापों का हरण करने की इच्छा से शाश्वताय धर्माय च और शाश्वत धर्म (की प्राप्ति अथवा बनाए रखने) के लिये, कीर्त्त्यै कीर्ति के लिये, निःश्रेयस्-आप्तये मोक्ष प्राप्त करने के लिये संगीतरत्नाकरम् आविष्करोति संगीतरत्नाकर का आविष्कार (को प्रकट) करता है।

(सर०) शार्ङ्गदेव आयुर्वेदाचार्य और वेदान्तविद् भी था, यह प्रसिद्ध है। इसका संकेत इन श्लोकों से भी मिलता है। 'विद्या' से गीता में कही गई 'परा-अपरा विद्या' अथवा चतुर्दश विद्याओं का ग्रहण हो सकता है। (चौदह विद्याएँ ये हैं—४ वेद, वेदों के ६ अंग (षडंग), धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा और तर्कशास्त्र।)

ग्रन्थकार द्वारा 'आविष्करोति' शब्द के प्रयोग में यह सूक्ष्म संकेत है कि 'संगीतरत्नाकर' के रूप में ग्रन्थकार ने कोई सर्वथा नई रचना नहीं की बल्कि पूर्वाचार्यों के मतों का सार निकाल कर उसे 'प्रकट' किया है। ग्रन्थकार ने अगले श्लोकों में पूर्वाचार्यों का स्मरण करने के बाद ऐसा कहा भी है।

२-१४ तक के श्लोक काव्यात्मक सौंदर्य से भरपूर हैं।

पूर्वाचार्यस्मरणम्

सदाशिवः शिवा ब्रह्मा भरतः कश्यपो मुनिः।
मतङ्गो याष्टिको दुर्गाशक्तिः शार्दूलकोहलौ॥ १५॥

विशाखिलो दत्तिलश्च कम्बलोऽश्वतरस्तथा।
वायुर्विश्वावसू रम्भाऽर्जुनो नारदतुम्बुरू॥ १६॥

आञ्जनेयो मातृगुप्तो रावणो नन्दिकेश्वरः।
स्वातिर्गणो बिन्दुराजः क्षेत्रराजश्च राहलः॥ १७॥

रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा।
परमर्दी च सोमेशो जगदेकमहीपतिः॥ १८॥

व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्त्तिधरः परः॥ १९॥

अन्ये च बहवः पूर्वे ये संगीतविशारदाः।
अगाधबोधमन्थेन तेषां मतपयोनिधिम्॥ २०॥

निर्मथ्य श्रीशार्ङ्गदेवः सारोद्धारमिमं व्यधात्।

पूर्वाचार्यों का स्मरण

१५-२१ ख. (अ०) श्लोक १५ से १८ तक सिर्फ़ पूर्वचार्यों के नाम हैं और उनमें अन्वय की आवश्यकता नहीं है इसलिये इन श्लोकों का संस्कृत अन्वय न देकर यहाँ नाम ही गिनाये जा रहे हैं और १९वें श्लोक से अन्वय भी दिया जा रहा है।

सदाशिव, शिवा (पार्वती), ब्रह्मा, भरत, कश्यप मुनि, मतंग, याष्टिक, दुर्गाशक्ति, शार्दूल, कोहल, विशाखिल और दत्तिल, कम्बल और अश्वतर, वायु, विश्वावसु, रम्भा, अर्जुन, नारद, तुम्बुरु, आञ्जनेय, मातृगुप्त, रावण, नन्दिकेश्वर, स्वाति (नामक) गण, बिन्दुराज, क्षेत्रराज और राहल (अथवा राहुल), रुद्रट, नान्यभूपाल (नान्यदेव), भोजराज तथा परमर्दी सोमेश (सोमेश्वर), जगदेकमल्ल, भारतीये व्याख्यातारः भरत (के नाट्यशास्त्र) संबन्धी व्याख्याकार लोल्लट-उद्भट-शङ्कुकाः लोल्लट, उद्भट,

शंकुक, भट्ट-अभिनवगुप्तः भट्ट अभिनवगुप्त **च परः** और अन्य **श्रीमत् कीर्त्तिधरः** श्रीमान् कीर्तिधर **अन्ये च** और अन्य **बहवः** बहुत से **ये** जो **पूर्वे संगीतविशारदाः** पूर्ववर्ती संगीतविशारद (हुए) **तेषां** उनके **मतपयोनिधिं** मतरूपी पयोनिधि (दूध के सागर) को **अगाध-बोध-मन्थेन** अगाध बोधरूपी मथानी से **निर्मथ्य** मथ कर **श्रीशार्ङ्गदेवः** श्री शार्ङ्गदेव ने **इमं सारोद्धारं व्यधात्** यह सार (नवनीत) का उद्धार (कार्य) किया (है)।

(सर०) ऊपर जिन आचार्यों के नाम ग्रन्थकार ने दिये हैं उनमें से संगीतरत्नाकर में भरत, मतंग, दत्तिल, याष्टिक, विशाखिल, अभिनवगुप्त, नारद, कश्यप अथवा काश्यप, कीर्तिधर, नन्दिकेश्वर, कम्बल, अश्वतर, दुर्गाशक्ति, सोमेश्वर, सव्यसाची अथवा धनंजय अथवा अर्जुन और कोहल—इन १९ के नामों सहित मत दिये गये हैं, शेष का विषय-निरूपण में उपयोग किया गया है।

सिंह० ने यह स्पष्ट किया है कि इतने ग्रन्थों का अध्ययन करना सामान्य व्यक्तियों के लिये संभव नहीं है इसलिये ग्रन्थकार ने सबके मतों का सार निकाल कर ग्रन्थ में सूत्रबद्ध किया है और इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता और महत्त्व को भी प्रकट किया है।

इन ग्रन्थकारों में से अनेकों के ग्रन्थ प्राप्त हैं। जैसे—नारद, भरत, मतंग, दत्तिल, वायु, कोहल (कोहल के नाम से 'कोहलीयम्' नाम का एक ग्रन्थ प्राप्त है हालाँकि इसके रचयिता कोहल ही हैं यह संदिग्ध है), सोमेश्वर, जगदेकमल्ल, अभिनवगुप्त, नन्दिकेश्वर ('नन्दिकेश्वरकारिका' आज उपलब्ध नहीं है लेकिन उस पर उपमन्यु की टीका उपलब्ध है)। अभिनयदर्पण, भरतार्णव भी इनके कहे जाते हैं। अर्जुन के नाम से 'अर्जुनभरत' नाम का एक ग्रन्थ प्राप्त है। कुछ के ग्रन्थ प्राप्त नहीं केवल उद्धरण अथवा मत प्राप्त हैं। जैसे—कश्यप, तुम्बुरु, दुर्गाशक्ति, मातृगुप्त, आंजनेय, याष्टिक, विश्वावसु, शार्दूल, स्वाति, राहल, लोल्लट, उद्भट, शंकुक, कीर्तिधर। कुछ ऐसे नाम भी हैं जिनके ग्रन्थ, उद्धरण अथवा मत तो प्राप्त नहीं होते लेकिन ग्रन्थकारों द्वारा किसी विशेष नियम के निरूपण अथवा अपने मत की पुष्टि में नाम लिया गया है। जैसे—अश्वतर, कम्बल, क्षेत्रराज, रावण, सदाशिव (यद्यपि 'औमापतम्' नामक ग्रन्थ के सांथ भी यह नाम जुड़ा है), ब्रह्मा, बिन्दुराज आदि।

कुछ नाम ऐसे भी हैं जो रामायण, महाभारत या पुराणों में प्राप्त होने के कारण पौराणिक माने जाते हैं। लेकिन उनके ग्रन्थ, उद्धरण या मत प्राप्त होने के कारण, निश्चित काल या देश अज्ञात होते हुए भी, वे ऐतिहासिक भी कहे जायँगे। जैसे—अर्जुन, अश्वतर, कम्बल, तुम्बुरु, नन्दिकेश्वर, नारद, मतंग, आंजनेय, रावण, रम्भा, वायु, विश्वावसु, सदाशिव अथवा शिव, स्वाति, शिवा अथवा पार्वती, ब्रह्मा आदि।

इन आचार्यों में एक वर्ग ऐसे शास्त्रकारों का भी है जो मूलतः काव्यशास्त्र अथवा नाट्यशास्त्र अथवा अन्य शास्त्रों के लेखक माने जाते हैं लेकिन भरत के नाट्यशास्त्र पर भी इन्होंने टीकाएँ लिखीं। जैसे—लोल्लट, उद्भट, शंकुक, कीर्तिधर, अभिनवगुप्त।

यह सर्वविदित ही है कि मध्यकाल में अनेक ग्रन्थ नष्ट हुए अथवा लुप्त हो गये। इसलिये जिनके केवल मत या नाम ही ग्रन्थकारों द्वारा उल्लिखित हैं उनके ग्रन्थ या चिन्तन परम्परा न रही हो, यह नहीं माना जा सकता।

इन ग्रन्थकारों में अनेक नाम ऐसे हैं जिनका, इतिहास की पाश्चात्य धारणा के अनुसार निश्चित देश या काल तो ज्ञात नहीं है लेकिन उनके ग्रन्थ, उद्धरण अथवा मत प्राप्त होने के कारण भारतीय संगीत के अध्ययन की दृष्टि से उन्हें ऐतिहासिक मानना होगा।

भारतीय धारणा के आधार पर इन नामों को देवी-देवता, देवमानुष और मनुष्य—इन वर्गों में रख कर भी विचार किया जा सकता है। देवी-देवता देशकाल से अतीत माने गये हैं। ब्रह्मा, शिव, पार्वती, आंजनेय इस वर्ग में रखे जा सकते हैं। देवमानुष यानी गन्धर्व, अप्सरा आदि जो देवता और मनुष्य के बीच की योनि के माने जाते हैं और संगीत के विशेष प्रयोक्ता माने गये हैं। विश्वावसु, तुम्बरु को गन्धर्व तथा रम्भा को अप्सरा कहा जाता है। मनुष्यों में भी ऋषि-मुनियों को विशिष्ट स्थान दिया जाता है। चेतना की विशेष अवस्था में अन्तर्दृष्टि से ऋषियों को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह समग्र होने के कारण ऋषियों को सर्वोच्च और उनके वचनों को आप्त माना जाता है। मुनियों का ज्ञान भी सूक्ष्म चिन्तन पर आधारित होने के कारण सामान्य मनुष्यों की

अपेक्षा ज्यादा व्यापक होता है इसलिये चिन्तन-परंपरा में उनका भी विशेष स्थान माना गया है। भरत और नारद को ऋषि और कभी-कभी मुनि भी कहा गया है तथा मतंग मुनि के रूप में जाने जाते हैं।

सं०र० में जो नाम दिये गये हैं उनमें से अनेक नाम ऊपर कहे गये एकाधिक वर्ग से एकसाथ संबद्ध हो सकते हैं। इसलिये उन्हें किसी एक वर्ग में रखना कठिन है। लेकिन इन नामों पर किन-किन दृष्टियों से विचार करना संभव है यह संकेत देने का ऊपर प्रयास किया गया है।

संगीतलक्षणं तद्भेदौ च

गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते॥ २१॥

संगीत का लक्षण और दो भेद

२१ ग-घ. (अ०) गीतं वाद्यं तथा नृत्तं गीत, वाद्य और नृत्त त्रयं तीनों को संगीतम् उच्यते संगीत कहा जाता है।

(सर०) ग्रन्थकार १४वें श्लोक में कह चुके हैं कि शार्ङ्गदेव संगीतरत्नाकर की रचना करता है इसलिये इस श्लोक में 'संगीत' शब्द की व्याख्या की है। लोक में संगीत शब्द से 'गीत' अर्थ की ही प्रसिद्धि है इसलिये 'संगीत' शब्द का प्रयोग करने से कोई ऐसा न समझ ले कि ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय केवल गीत ही है, वाद्य और नृत्त नहीं—इस शंका का परिहार करने की इच्छा से ग्रन्थकार ने आरम्भ में ही कह दिया कि गीत, वाद्य और नृत्त—तीनों का समुच्चय संगीत है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गै' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगाकर (सम्+गै+क्त) 'संगीतं' शब्द बनता है। अगर ग्रन्थकार को केवल गीत ही अभिप्रेत होता तो 'सम्' उपसर्ग न लगाते। यदि यह समझा जाय कि 'गीत' के विशेषण के रूप में 'सम्' लगा कर 'संगीतं' बनाया है तो यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि गीत की व्याख्या करते समय आगे कहा जाने वाला है, 'रञ्जकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते' (४/१)। इसके अनुसार रंजकता तो गीत का लक्षण ही है फिर 'सम्' उपसर्ग निष्प्रयोजन सिद्ध होगा। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'सम्' उपसर्ग गीत शब्द के साथ लगाये जाने के कारण अपने भीतर यह अर्थ समेटे हुए है कि गीत केवल अपने द्वारा अतिशयता का आधान करने में यानी पूरा उत्कर्ष प्राप्त करने में या भाव भरने में समर्थ नहीं है; इसलिये वाद्य और नृत्त का योग आवश्यक है। अतः शब्द यानी ध्वनि की सामान्यता के द्वारा अर्थात् गीत और वाद्य दोनों में ध्वनि समान रूप से होने से वाद्य का गीत से संबंध और नृत्त का भी गीत से संबंध विशेष रूप से दिखाना ग्रन्थकार को अभिप्रेत है; क्योंकि वाद्य में गीत की ध्वनि का और नृत्त में गीत के भाव का अनुकरण रहता ही है। यानी संगीत शब्द के द्वारा ग्रन्थकार गीत, वाद्य और नृत्त तीनों का ग्रहण कराना चाहता है। कभी-कभी केवल गीत के अर्थ में भी संगीत शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा होने पर अवयव के द्वारा अवयवी का लक्षणा से ग्रहण होता है; जैसे—कपड़े के टुकड़े के लिये भी 'कपड़ा' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

उपर्युक्त टीका कल्लि० के अनुसार है जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि 'संगीत' शब्द में 'सम्' उपसर्ग लगाने से गीत के साथ-साथ वाद्य और नृत्त का भी ग्रहण होता है, केवल गीत का नहीं क्योंकि गीत अकेला रह कर भाव की व्यंजना में पूरी तरह समर्थ नहीं होता।

'नृत्तं' के बारे में यह ध्यान दिलाना जरूरी है कि 'नृत्त' और 'नृत्य'—इन दोनों में जो अन्तर किया जाता है वह नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। वहाँ 'नृत्त' और 'अभिनय'—ये दो शब्द हैं लेकिन 'नृत्य' नहीं है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जब 'नृत्त' और 'अभिनय'—इन दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग हो तब 'नृत्त' भावरहित प्रकार का और 'अभिनय' भावसहित प्रकार का सूचक है। अकेले 'नृत्त' शब्द के प्रयोग में दोनों अर्थ समाहित हैं। 'दशरूपक' में धनंजय ने केवल ताललयाश्रित प्रकार को 'नृत्त' और भावपूर्ण प्रकार को 'नृत्य' कहा है—

......भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम्॥ (१/९)

नर्तनाध्याय में शार्ङ्गदेव ने भी 'नृत्य' और 'नृत्त' में अन्तर किया है—

आङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत्।
तन्नृत्यं ………………………………………… ॥
गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम्।
आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुः॥ (७/२६-२७)

लेकिन 'संगीत' के लक्षण में 'नृत्त' को गात्रविक्षेप मात्र का वाचक नहीं माना जा सकता। यहाँ 'नृत्त' में नृत्त और नृत्य दोनों का ग्रहण करना होगा।

सिंह० ने इस बारे में एक और दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। गीत, वाद्य और नृत्य—इन तीनों के सम्मिलित रूप को संगीत कहा गया है लेकिन इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग रहने पर भी असंगीतत्व नहीं होगा, क्योंकि संगीत शब्द का प्रयोग गीत, वाद्य और नृत्त में से किसी एक के लिये भी हो सकता है। इसके अनुसार सिर्फ़ गीत को भी संगीत कहा जा सकता है, अकेले वाद्य को भी (जैसे, वाद्य संगीत) और अकेले नृत्य को भी (जैसे नृत्यसंगीत)।

'संगीत' की उपर्युक्त व्याख्या के संदर्भ में अभिनवगुप्त का उल्लेख करना आवश्यक है। ना०शा० के 'ताण्डवलक्षण' नामक चौथे अध्याय में नाट्य और नृत्त-संबंधी दो पक्षों—१. दोनों में अभेद और २. दोनों में भेद—पर लम्बी चर्चा करते हुए उसने गीत, वाद्य, नृत्त और अभिनय के परस्पर संबंध पर बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से और विस्तार से प्रकाश डाला है। उस चर्चा का सार यह है कि अकेले रहने पर गीत में भावाभिव्यक्ति का पूरा सामर्थ्य नहीं होता इसलिये इन चारों का एक साथ ग्रहण किया जाता है। गीत के स्वरांश को वाद्य और उसके अभिनयांश को नृत्त पुष्ट करते हैं। संगीत में स्वरतत्त्व की प्रधानता और स्वर की उत्पत्ति मूलतः कण्ठ में होने के कारण गीत प्रधान यानी उपजीव्य है और वाद्य तथा नृत्त गौण अर्थात् उपजीवी हैं। फिर भी तीनों के सम्मिलित प्रयोग के समय तीनों का उत्कर्ष एकसा नहीं रहता अर्थात् तीनों में एक साथ समान रूप से वैचित्र्य का आधान नहीं किया जा सकता। गीत, वाद्य, नृत्त में से कोई एक प्रधान और शेष दो गौण हो जाते हैं। कभी-कभी तीनों गौण रहकर अभिनय के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। इसकी पुष्टि में अभिनवगुप्त के निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य हैं—

यदा गीतकादेः प्राधान्यं तदा तदनुसार्यङ्गं भवति (ना० शा०, ४, पृ० १६५)। यदा तु नृत्तस्यादृष्टसम्पादकत्वे प्राधान्यं क्रियते तदा तदनुसारेण गीतकादेराश्रयणम् (वही, पृ० १६६)। एवं ध्रुवागानादावपि द्रष्टव्यम्।……इह तु गीतमङ्गं च द्वयमपि स्वप्रतिष्ठितम् (वही)। तत्रापि वैचित्र्येण मध्ये मध्ये गीतवाद्यादेरपि प्राधान्यम् (वही, पृ० १६७)।

मार्गो देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते।
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः॥ २२॥
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः।

२२-२३ ख. (अ०) तत् वह (संगीत) मार्गः देशी मार्ग (और) देशी—इति द्विधा यों दो प्रकार का (होता है)। तत्र उनमें से मार्गः स उच्यते मार्ग उसे कहा जाता है यः जो विरिञ्चि-आद्यैः मार्गितः ब्रह्मा आदि के द्वारा खोजा गया, भरत-आदिभिः भरत आदि (मुनियों) के द्वारा शम्भोः देवस्य पुरतः शंभु देवता के सामने प्रयुक्तः प्रयुक्त हुआ (तथा जो) नियत-अभ्युदयप्रदः नियत (सदा निश्चित रूप से) अभ्युदय (ऐहिक कल्याण) देने वाला है।

(सर०) 'मार्ग' शब्द खोजना अर्थ वाली 'मार्ग' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर बनता है और इसी धातु से निष्ठा यानी 'क्त' प्रत्यय लगाने पर 'मार्गितः' शब्द बनता है। मार्गित का अर्थ है अन्वेषित यानी खोजा गया। इसलिये मार्ग वह संगीत है जो खोजा गया। इसमें इस तथ्य की ओर संकेत है कि मार्ग संगीत सहज रूप से प्रयुक्त होने वाला, स्वतः विकसित या लोक में प्रचलित संगीत नहीं है, बल्कि प्रचलित संगीत के आधार पर सप्रयोजन परिष्कृत किया गया संगीत है क्योंकि किसी भी वस्तु का परिष्कृत अथवा शास्त्रीय रूप उसके प्रचलित रूप के आधार पर ही बनता है।

'विरिञ्च्याद्यैः' के द्वारा नाट्यवेद की उत्पत्ति संबंधी ना०शा० में वर्णित कथा की ओर संकेत है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—सत्ययुग के बीत जाने पर त्रेतायुग में वैवस्वत मनु की सन्तान यानी मानव के काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्यादि से पीड़ित होने पर देवताओं ने ब्रह्मा से ऐसा दृश्य तथा श्रव्य खिलौना माँगा जो अन्य बातों के साथ-साथ धर्म. अर्थ, यश और उपदेश भी दे। तब ब्रह्मा ने ऋग्वेद से 'पाठ्य', यजुर्वेद से 'अभिनय', सामवेद से 'गीत' और अथर्ववेद से 'रस' लेकर पाँचवें नाट्यवेद की रचना की और भरतादि के द्वारा शम्भु के सम्मुख उसका प्रयोग कराया।

देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम्॥ २३॥

गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते।

२३ ग-२४ ख. (अ०) यत् जो देशे देशे देश-देश में (अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों में) जनानां रुच्या लोगों की रुचि के द्वारा हृदयरञ्जकं हृदयरंजक होनेवाला गीतं वादनं नृत्तं च गीत, वाद्य और नृत्त (है), तत् वह देशी इति अभिधीयते 'देशी' कहा जाता है।

(सर०) 'देशी' शब्द अतिसर्जन (देना) अर्थवाली 'दिश' धातु से 'ङीष्' प्रत्यय लगाने पर बनता है। देशी संगीत विभिन्न देशों से संबंधित होने के कारण देशी कहलाता है क्योंकि विभिन्न देशों के लोगों के द्वारा अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार इसका प्रयोग होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि लोकरुचि व इच्छानुसार प्रयोग होने के कारण देशी में देश, काल और पात्र के भेद से परिवर्तन होते रहते हैं।

बाह्य रूप की दृष्टि से आज का देश-देश का संगीत देशी है क्योंकि वह परिवर्तनशील है, किन्तु प्रयोजन-भेद के आधार पर वह मार्ग भी हो सकता है।*

गीतप्रशंसा

नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च॥ २४॥

अतो गीतं प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते।
सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः॥ २५॥

गीतप्रशंसा

२४ ग-२५. (अ०) नृत्तं वाद्य-अनुगं नृत्त को वाद्य का अनुग (पीछे चलने वाला) वाद्यं च और वाद्य को गीत-अनुवर्ती प्रोक्तं गीत का अनुवर्ती (पीछे रहने वाला) कहा गया है। अतः इसलिये गीतं प्रधानत्वात् गीत को (उसकी) प्रधानता होने के कारण अत्र यहाँ आदौ अभिधीयते आरम्भ में कहा जाता है। इदं गीतं इस गीत को पितामहः ब्रह्मा ने सामवेदात् संजग्राह सामवेद से (सार निकाल कर) संगृहीत किया।

(सर०) गीत, वाद्य और नृत्त में गीत की प्रधानता है इसलिये गीत को सबसे पहले रखा गया है, इसे सिद्ध करने के लिये ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि नृत्त वाद्य का अनुसरण करता है और वाद्य गीत का। गीत के अनुकरण पर ही वाद्य प्रयोग किया जाता है। इसलिये वाद्य गीत के पीछे चलने वाला है और नृत्त में तालवाद्य का अनुसरण होने के कारण वह वाद्य का अनुगामी होता है। यों नृत्त में गीत के भाव का अनुकरण होने से परम्परा से भी नृत्त गीत का अनुकारक है। गीत ही चतुर्विध वाद्यों से उत्पन्न होता है, उनसे उपरंजित होता है और उनके द्वारा नापा जाता है, इसलिये वही प्रमुख है।

---

* द्रष्टव्य—लेखिका का लेख 'मार्ग और देशी का विवेचन'—स्वर्ण जयन्ती स्मारिका, भातखण्डे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय, लखनऊ (उ० प्र०)।

चार वेदों में से सामवेद गीतात्मक है इसलिये उसके साथ 'गीत' का सहज संबंध जोड़ा गया है। कल्लि० के अनुसार सामवेद के क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य—इन ७ स्वरों से ही लौकिक संगीत में षड्ज, ऋषभादि स्वरों का ग्रहण हुआ है। इसलिये भी सामवेद से गीत का संग्रह कहा गया है। इस प्रकार सामवेद से संबद्ध होने के कारण गीत में वेदमूलकता तो है लेकिन ब्रह्मा के द्वारा ब्राह्मण आदि सभी वर्गों के द्वारा प्रयोग के योग्य कहे जाने के कारण वेदों की तरह उच्च वर्गों के लिये ही प्रयोज्य होने का बंधन इसमें नहीं है।

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशं गतः॥ २६॥

२६. (अ०) गीतेन गीत के द्वारा पार्वतीपतिः सर्वज्ञः देवः पार्वतीपति सर्वज्ञ देवता (शंकर) प्रीयते प्रसन्न होते हैं। अनन्तः अपि (विष्णु) अनन्त होते हुए भी गोपीपतिः गोपीपति (कृष्ण के रूप में) वंशध्वनि-वशं गतः वंश (वंशी) की ध्वनि के वशीभूत हुए।

सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः॥ २७॥

२७. (अ०) ब्रह्मा सामगीतिरतः ब्रह्मा सामगान में रत (हैं), सरस्वती वीणा-आसक्ता सरस्वती वीणा में आसक्त (हैं), यक्ष-गन्धर्व-देव-दानव-मानवाः यक्ष, गन्धर्व, देव, दानव, मनुष्य (आदि) अन्ये किं अन्यों की (तो बात ही) क्या (है)?

अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यङ्किकागतः।
रुदन्गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥ २८॥

२८. (अ०) अज्ञात-विषय-आस्वादः जिसे विषयों का स्वाद ज्ञात नहीं है ऐसा पर्यङ्किकागतः खटोले में पड़ा हुआ, रुदन् बालः रोता हुआ बालक गीत-अमृतं पीत्वा गीत के अमृत को पीकर हर्ष-उत्कर्षं हर्ष के उत्कर्ष को प्रपद्यते प्राप्त करता है।

वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्॥ २९॥

२९. (अ०) चित्रं आश्चर्य (है कि) वनेचरः वन में विचरने वाला, तृण-आहारः तृण (तिनका, घास) का आहार करने वाला, लुब्धक-संगीते लुब्धः बहेलिये के संगीत पर मोहित हुआ मृगशिशुः पशुः मृगशिशु पशु (भी) गीते गीत पर जीवितं यच्छति प्राण दे देता है।

तस्य गीतस्य माहाऽऽत्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ॥ ३०॥

३०. (अ०) धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाणां धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (आदि सभी पुरुषार्थों) का इदम् एव यही (जो) एक-साधनं एक साधन (है) तस्य गीतस्य उस गीत के माहाऽऽत्म्यं माहात्म्य (महानता) की प्रशंसितुं प्रशंसा करने में के ईशते कौन समर्थ है?

(सर०) २६-३० तक के श्लोकों के द्वारा ग्रंथकार ने यह प्रतिपादित किया है कि सर्वज्ञ ईश्वर से लेकर पशु तक सभी को गीत के द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है।

धर्म, अर्थ, काम आदि के अपने-अपने साधन होते हुए भी एकमात्र गीत में ही ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा इन चारों की सिद्धि हो सकती है। श्रुतियों (उपनिषदों) में कई स्थानों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जो लोग गान करते हैं

वे उसी ईश्वर का गान करते हैं। जैसे—*'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति'*, (छान्दो०, १/७/६)। जातियों के प्रसंग में ग्रन्थकार स्वयं ही कहने वाले हैं कि जाति का सम्यक् प्रयोग ब्रह्महत्या के पाप को भी नष्ट कर देता है (१/७/११४) लोक में गीत के द्वारा अर्थ का साधन तो प्रत्यक्ष ही है। गीत के द्वारा काम के साधन के लिये वेद और लोक दोनों में प्रमाण हैं। वेदों में कहा गया है कि गाने वाला स्त्रियों को मोहित करता है। साथ ही शृंगार रस में उद्दीपन विभाव के रूप में संगीत काम का साधन बनता है। मोक्षसाधन के रूप में तो स्मृतियों और शास्त्रग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उल्लेख है। याज्ञवल्क्य स्मृति का *'वीणावादनतत्त्वज्ञः'*, इसका प्रमाण है। संगीतरत्नाकर में भी इसका प्रतिपादन प्रकरण गीतों के संदर्भ में किया जाने वाला है (५/५६)।

पदार्थसंग्रहः

तत्र स्वरगताध्याये प्रथमे प्रतिपाद्यते।
शरीरं नादसंभूतिः स्थानानि श्रुतयस्तथा॥ ३१॥

ततः शुद्धाः स्वराः सप्त विकृता द्वादशाप्यमी।
कुलानि जातयो वर्णा दीपान्यार्षं च दैवतम्॥ ३२॥

छन्दांसि विनियोगाश्च स्वराणां श्रुतिजातयः।
ग्रामाश्च मूर्च्छनास्तानाः शुद्धाः कूटाश्च संख्यया॥ ३३॥

प्रस्तारः खण्डमेरुश्च नष्टोद्दिष्टप्रबोधकः।
स्वरसाधारणं जातिसाधारणमतः परम्॥ ३४॥

काकल्यन्तरयोः सम्यक् प्रयोगो वर्णलक्षणम्।
त्रिषष्टिरप्यलङ्कारास्त्रयोदशविधं ततः॥ ३५॥

जातिलक्ष्म ग्रहांशादि कपालानि च कम्बलम्।
नानाविधा गीतयश्चेत्येतावान्वस्तुसंग्रहः॥ ३६॥

विषयसंग्रह

३१-३६. (अ०) तत्र प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथमे स्वरगत-अध्याये प्रथम स्वरगताध्याय में शरीरं शरीर, नादसंभूतिः नाद की उत्पत्ति की विधि, स्थानानि तथा श्रुतयः स्थान और श्रुतियाँ, ततः इसके बाद सप्त शुद्धाः स्वराः सात शुद्ध स्वर अमी द्वादश विकृताः अपि ये बारह विकृत (स्वर) भी, स्वराणां स्वरों के कुलानि जातयः वर्णाः द्वीपानि आर्षं दैवतं छन्दांसि च स्वरों के कुल, जाति, वर्ण, द्वीप, ऋषि, देवता और छन्द विनियोगाः च और (उनका) विनियोग, श्रुतिजातयः श्रुतिजातियाँ, ग्रामाः मूर्च्छनाः च ग्राम और मूर्च्छनाएँ, संख्यया संख्या सहित शुद्धाः कूटाः च तानाः शुद्ध और कूटतानें, प्रस्तारः नष्ट-उद्दिष्ट-प्रबोधकः खण्डमेरुः च प्रस्तार और नष्ट तथा उद्दिष्ट का प्रबोधक खण्डमेरु, स्वरसाधारणं स्वरसाधारण, जातिसाधारणं जातिसाधारण, अतः परं इसके बाद काकली-अन्तरयोः सम्यक् प्रयोगः काकली और अन्तर (स्वरों) का सम्यक् (उचित) प्रयोग, वर्णलक्षणं वर्ण का लक्षण, त्रिषष्टि अलङ्काराः अपि त्रेसठ अलंकार भी, ततः तब ग्रह-अंशादिः ग्रह-अंश आदि त्रयोदशविधं जातिलक्ष्म तेरह प्रकार का जातिलक्षण, कपालानि कम्बलं च कपाल और कम्बल (आदि), नानाविधाः गीतयः च और अनेक प्रकार की गीतियाँ—इति एतावान् वस्तुसंग्रहः इस प्रकार इतने विषयों का प्रतिपाद्यते प्रतिपादन किया जाता है (अर्थात् किया जायगा)।

(सर०) पहले अध्याय का नाम स्वराध्याय न रख कर स्वरगताध्याय इसलिये रखा गया है कि इसमें 'स्वरगत' अर्थात् स्वरसंबंधी सभी विषयों का अध्ययन या प्रतिपादन किया गया है। शरीर ही स्वर की उत्पत्ति का मूलस्थान होने के कारण गीत का उपकारक है इसलिये 'गीत' से पहले 'शरीर' का निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है।

अथ रागविवेकाख्येऽध्याये वक्ष्यामहे क्रमात्।
ग्रामरागांश्चोपरागान्रागान्भाषाविभाषिकाः॥ ३७॥

ततोऽप्यन्तरभाषाश्च रागाङ्गाण्यखिलान्यपि।
भाषाऽङ्गाण्यप्युपाङ्गानि क्रियाऽङ्गाणि च तत्त्वतः॥ ३८॥

३७-३८. (अ०) अथ इसके बाद रागविवेक-आख्ये अध्याये रागविवेक नामक अध्याय में क्रमात् क्रम से ग्रामरागान् ग्रामरागों को उपरागान् च और उपरागों को, रागान् रागों को, भाषा-विभाषिकाः भाषाओं (और) विभाषाओं को, ततः तब अन्तरभाषाः अपि च अन्तरभाषाओं को भी और अखिलानि सभी रागाङ्गाणि-भाषाङ्गाणि-उपङ्गानि-क्रियाङ्गाणि अपि च रागांग, भाषांग, उपांग और क्रियांगों को भी तत्त्वतः वक्ष्यामहे तत्त्वतः कहेंगे।

(सर०) इस अध्याय में ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा विभाषा, अन्तरभाषा, रागांग, भाषांग, उपांग और क्रियांग—इन १० प्रकार के रागों का असंकीर्ण रूप से यानी अपने-अपने पृथक् और स्पष्ट स्वरूप में निरूपण हुआ है, इसलिये अध्याय के नाम में 'विवेक' शब्द रखा है।

ततः प्रकीर्णकाध्याये तृतीये कथयिष्यते।
वाग्गेयकारो गान्धर्वः स्वरादिर्गायनस्तथा॥ ३९॥

गायनी गुणदोषाश्च तयोः शब्दभिदास्तथा।
गुणदोषाश्च शब्दस्य शारीरं तद्गुणास्तथा॥ ४०॥

तद्दोषा गमकः स्थाया आलप्तिर्वृन्दलक्षणम्।

३९-४१ ख. (अ०) ततः तब तृतीये प्रकीर्णक-अध्याये तीसरे प्रकीर्णकाध्याय में वाग्गेयकारः गान्धर्वः स्वरादिः गायनः वाग्गेयकार, गांधर्व, स्वरादि, गायक तथा गायनी और गायिका, तयोः उन दोनों (गायक और गायिका) के गुणः दोषाः च गुण और दोष, शब्दभिदाः शब्द (कण्ठध्वनि) के भेद तथा और शब्दस्य गुण-दोषाः च शब्द के गुण और दोष शारीरं शारीर (कण्ठध्वनि की विशेष शक्ति) (और) तत् गुणाः तथा तत् दोषाः उसके गुण और उसके दोष, गमकः स्थायाः गमक, स्थाय, आलप्तिः आलप्ति (और) वृन्दलक्षणं वृन्द (का) लक्षण कथयिष्यते कहा जाएगा।

(सर०) प्रकीर्णक का अर्थ है बिखरा हुआ, फुटकर। जो विषय स्वर, राग, प्रबन्ध, वाद्य और नर्तन—इनमें से किसी में भी समग्र रूप से समेटे नहीं जा सकते उन्हें यहाँ एकत्र किया गया है इसलिये 'प्रकीर्णकाध्याय' नाम रखा है।

ततः प्रबन्धाध्याये तु धातवोऽङ्गानि जातयः॥ ४१॥

प्रबन्धानां द्विधा सूडः शुद्धश्छायालगस्तथा।
आलिक्रमप्रबन्धाश्च सूडस्था आलिसंश्रयाः॥ ४२॥

विप्रकीर्णास्ततश्छायालगसूडसमाश्रिताः ।
गीतस्था गुणदोषाश्च वक्ष्यन्ते शार्ङ्गसूरिणा॥ ४३॥

४१ ग ४३. (अ०) ततः इसके बाद प्रबन्ध-अध्याये तु प्रबन्धाध्याय में तो धातवः धातुएँ, अङ्गानि अंग, प्रबन्धानां जातयः प्रबन्धों की जातियाँ तथा और शुद्धः छायालगः द्विधा सूडः शुद्ध और छायालग—दो प्रकार के सूड **सूडस्थाः आलिसंश्रयाः आलिक्रमप्रबन्धाः च** 'आलि'संश्रित यानी 'आलि' वर्ग के प्रबन्ध (जो) सूडस्थित यानी सूडक्रम के मध्य में स्थित (होने पर) आलिक्रम प्रबन्ध (कहलाते हैं), **विप्रकीर्णाः** विप्रकीर्ण (प्रबन्ध), **ततः** फिर **छायालगसूड-समाश्रिताः** छायालग सूडों के समाश्रित (प्रबन्ध) **गीतस्थाः गुण-दोषाः च** गीत में स्थित गुण और दोष **शार्ङ्गसूरिणा** विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा **वक्ष्यन्ते** कहे जायँगे।

(सर०) प्रबन्धों के तीन मुख्य वर्ग हैं—सूड (जो शुद्ध और छायालग—दो प्रकार के हैं), आलि और विप्रकीर्ण। इनमें से शुद्ध सूड और आलि के विशेष प्रकार के संबंध से आलिक्रम प्रबन्ध बनते हैं। विप्रकीर्ण प्रबन्ध स्वतंत्र रूप से यानी अलग-अलग गाए जाने वाले प्रबन्ध हैं।*

तालाध्याये पञ्चमे तु मार्गतालाः कलास्तथा।
पाता मार्गाश्च चत्वारस्तथा मार्गकलाऽष्टकम्॥ ४४॥

गुरुलघ्वादिमानं चैककलत्वादयो भिदाः।
पादभागास्तथा मात्रास्ताले पातकलाविधिः॥ ४५॥

अङ्गुलीनां च नियमो भेदा युग्मादयस्तथा।
परिवर्तो लयस्तेषां यतयो गीतकानि च॥ ४६॥

छन्दकादीनि गीतानि तालाङ्गनिचयस्तथा।
गीताङ्गानि च वक्ष्यन्ते देशीतालाश्च तत्त्वतः॥ ४७॥

निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन तालानां प्रत्ययास्तथा।

४४-४८ ख. (अ०) पञ्चमे तालाध्याये तु पाँचवें तालाध्याय में तो **मार्गतालाः** मार्गताल, **कलाः तथा पाताः** कला (निःशब्द क्रियाएँ) और पात (सशब्द क्रियाएँ), **चत्वारः मार्गाः च** (ध्रुव आदि) चार मार्ग भी **तथा मार्गकला-अष्टकं** तथा (ध्रुवका, पतिता आदि) आठ प्रकार की मार्गकलाएँ, **गुरु-लघु-आदि मानं** गुरु, लघु आदि नाप, **एककलत्व-आदयः भिदाः च** एककलत्व आदि भेद भी, **पादभागाः तथा मात्राः** पादभाग और मात्रा **ताले पातकलाविधिः** ताल में पात और कला की विधि, **अङ्गुलीनां नियमः च** अंगुलियों (के प्रयोग) का नियम भी, **युग्म-आदयः भेदाः** युग्म (चतुरश्र) आदि भेद **तथा परिवर्तः लयः** और परिवर्त (तथा) लय, **तेषां यतयः** उन (लयों) की यतियाँ, **गीतकानि च** और गीतक (मद्रकादि सप्त गीतक), **छन्दक-आदीनि गीतानि** छन्दक आदि (अन्य सात) गीत **तथा तालाङ्ग-निचयः** और तालांगों का समूह **गीताङ्गानि च** और गीतांग, **देशीतालाः च** देशीताल भी **तथा तालानां प्रत्ययाः** और तालों के प्रत्यय (प्रस्तार, संख्या आदि) **निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन** निःशंक शार्ङ्गदेव के द्वारा **तत्त्वतः** तत्त्व से (तात्त्विक रूप में) **वक्ष्यन्ते** कहे जायँगे।

षष्ठे नानाविधं वाद्यमध्याये कथयिष्यते॥ ४८॥

सप्तमे नर्तनं नानारसभावाः क्रमेण च।

---

* प्रबन्ध-वर्गीकरण के लिये द्रष्टव्य लेखिका की पुस्तकें—

१. भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, प्रका०—कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर (राजस्थान) और

२. Time Measure and Compositional Types in Indian Music, Pub.—Aditya Prakashan, F-14/65, Model Town II, Delhi-110009.

इति प्रथमे स्वरगताध्याये पदार्थसंग्रहाख्यमादिमं प्रकरणम्॥ १॥

४८ ग-४९ ख. (अ०) षष्ठे अध्याये छठे अध्याय में **नानाविधं वाद्यं** अनेक प्रकार का वाद्य **कथयिष्यते** कहा जायगा। **सप्तमे** सातवें (नर्तनाध्याय) में **क्रमेण** क्रम से **नर्तनं** नर्तन (नाट्य, नृत्य, नृत्त) **नानारसभावाः च** और अनेक रस-भाव (कहे जायँगे)।

(सर०) यहाँ 'वाद्य' शब्द में जातिसूचक एकवचन का प्रयोग हुआ है इसलिये वाद्य शब्द विभिन्न प्रकार के वाद्यों का सूचक है।

रस का समग्र निरूपण केवल श्रव्य या केवल दृश्य के प्रसंग में नहीं हो सकता बल्कि दृश्य-श्रव्य दोनों के एकसाथ होने पर ही रस व्यक्त हो सकता है। नर्तन के साथ गीत और वाद्य भी रहते हैं इसलिये गीत या वाद्य के प्रसंग में रसभाव को न कह कर नर्तनाध्याय में कहा गया है।

इस अध्याय को नृत्य या नृत्त या नाट्य नाम न देकर सामान्य संज्ञा 'नर्तन' दी है क्योंकि इन तीनों की तरह 'नर्तन' शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ़ नहीं है। 'नर्तन' में इन तीनों का समावेश कर लिया गया है।

ग्रन्थकार ने ५ अध्यायों का तो संक्षिप्त विषयसंग्रह दिया है लेकिन छठे और सातवें का नहीं। सुविधा के लिये इन दोनों अध्यायों का संक्षिप्त विषयसंग्रह यहाँ दिया जा रहा है।

वाद्याध्याय में तत, सुषिर, अवनद्ध और घन—इन चतुर्विध वाद्यों के भेदों और उनके लक्षण (बनावट आदि) का निरूपण है। तत के अन्तर्गत करण, धातु, निर्गीत आदि, अवनद्ध में हस्तपाट, वाद्य तथा वाद्यप्रबन्ध आदि और चतुर्विध वाद्यों के तथा वादकों के गुण-दोष का ग्रन्थकार ने निरूपण किया है।

नर्तनाध्याय संगीतरत्नाकर का सबसे बड़ा अध्याय है। पूरे ग्रन्थ के कुल ४७३० श्लोकों में से १६७८ श्लोक इसी अध्याय में है। संगीत के तीनों अंगों—गीत, वाद्य, नृत्त—पर लिखे गये ग्रन्थों में से इसी में नृत्त का सबसे अधिक विस्तार है। इस अध्याय में नाट्योत्पत्ति, अभिनय-भेद, नाट्य-नृत्य-नृत्त, ताण्डव और लास्य, अंग, प्रत्यंग, उपांग, कर-चरण आदि भेद, मुखराग, करण, अंगहार, चारी, स्थानक, मण्डल, लास्यांग, पात्र, उपाध्याय, सम्प्रदाय, आचार्य, नट, नर्तक, वैतालिक, चारण, कोल्हाटिक, सभासद, रस-भाव आदि का भेदों सहित निरूपण है। नर्तनाध्याय में रस-भाव का निरूपण इस ग्रन्थ की विशेषता है क्योंकि सामान्य रूप से नृत्य में रस-भाव की चर्चा करने की परम्परा नहीं रही है।

प्रथम स्वरगताध्याय में पदार्थसंग्रह नामक पहला प्रकरण समाप्त॥ १॥

अथ द्वितीयं पिण्डोत्पत्तिप्रकरणम्

दूसरा पिण्डोत्पत्तिप्रकरण

नादस्य प्रशंसा द्वैविध्यञ्च

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम्॥ १॥

नाद की प्रशंसा और दो भेद

१. (अ०) गीतं गीत नाद-आत्मकं नादात्मक (है)। वाद्यं वाद्य नादव्यक्त्या नाद की (अभि)व्यक्ति (करने) के कारण प्रशस्यते प्रशंसित होता है। नृत्तं नृत्त तत्-द्वय-अनुगतं उन दोनों का अनुगत (है)। अतः इसलिये त्रयं तीनों (गीत, वाद्य और नृत्त) नाद-अधीनं नाद के अधीन (हैं)।

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥ २॥

२. (अ०) नादेन नाद से वर्णः वर्ण, वर्णात् पदं वर्ण से पद, पदात् वचः पद से वाक्य व्यज्यते व्यक्त होता है। वचसः वाक्य से (ही) अयं व्यवहारः यह (जगत् का) व्यवहार (होता है)। अतः इसलिये जगत् नाद-अधीनं जगत् नाद के अधीन है।

आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते।
सोऽयं प्रकाशते पिण्डे तस्मात्पिण्डोऽभिधीयते॥ ३॥

३. (अ०) आहतः अनाहतः च इति आहत और अनाहत—यों नादः नाद द्विधा दो प्रकार से (का) निगद्यते कहा जाता है। सः अयं वह, यह (नाद) पिण्डे शरीर में प्रकाशते प्रकाशित होता है, तस्मात् इसलिये पिण्डः अभिधीयते शरीर (के बारे में) कहा जाता है (अर्थात् कहता हूँ)।

(सर०) भारतीय दर्शनशास्त्र और उससे प्रभावित संगीतशास्त्र दोनों में नाद शब्द का बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। व्यक्त-अव्यक्त, आहत-अनाहत, वर्णयुक्त-वर्णरहित आदि ध्वनि के जितने रूप हो सकते हैं सभी को 'नाद' शब्द अपने भीतर समाहित करता है। आधुनिक ध्वनिविज्ञान में 'राव' (शोर आदि) के विपरीत संगीतोपयोगी ध्वनि के लिये नाद शब्द का प्रयोग किया जाता है जो अंग्रेज़ी के 'musical sound' (संगीतोपयोगी ध्वनि) के अनुकरण पर सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है। ग्रन्थकार ने नाद शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है, यह उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है। संगीतोपयोगी ध्वनि के लिये भारतीय संगीतशास्त्र में 'स्वर' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

आहत और अनाहत नाद भी मूलतः शरीर में ही प्रकट होते हैं। 'आहत', जो सामान्य मनुष्य के वाचिक व्यवहार का आधार है वह तो शरीर में व्यक्त होता ही है, अनाहत, जो योगिगम्य माना जाता है वह भी योगियों द्वारा अपने शरीर के

भीतर ही सुना जाता है। इस प्रकार नादमात्र की अभिव्यक्ति शरीर में होने के कारण ही सर्वप्रथम शरीर का निरूपण किया गया है।

संगीत का मुख्य उपादान नाद है और नाद के द्वारा साधना करने वाले संगीतज्ञ को उसके सही प्रयोग की दृष्टि से नादोत्पादक अंगों का और वे अंग जिसके घटक हैं उस 'अंगी' शरीर का भी ज्ञान होना चाहिये, इस दृष्टि से शार्ङ्गदेव ने पिण्ड (शरीर) की उत्पत्ति और रचना का निरूपण करना आवश्यक समझा है। इसीलिये पदार्थ संग्रह के बाद सबसे पहले पिण्डोत्पत्ति का निरूपण किया है।

कल्लि० ने इस प्रकरण के शुरू में ही यह शंका उठाई कि गीत का प्रथम उपादान नाद है इसलिये ग्रन्थकार को उसी का प्रतिपादन सबसे पहले करना चाहिये था फिर उसने शरीर का निरूपण पहले क्यों किया? इसका समाधान उसने इस तरह किया कि गीत, वाद्य, नृत्त ही नाद के अधीन नहीं हैं बल्कि वाणी पर आधारित जगत् का सारा व्यवहार ही नाद के अधीन है। उस नाद की अभिव्यक्ति शरीर में होती है इसलिये पहले उसका निरूपण उचित है।

संगीतसंबंधी ग्रन्थों में सामान्यतः शरीर के निरूपण की परम्परा नहीं रही है। लेकिन शार्ङ्गदेव आयुर्वेद के ज्ञाता थे और न केवल वैद्यक्रिया करते थे बल्कि उन्होंने आयुर्विज्ञान संबंधी ग्रन्थ की रचना भी की थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं इसी प्रकरण में (श्लोक ११९ में) कहा है। प्रस्तुत प्रकरण में ग्रन्थकार ने वेदान्त और आयुर्वेद के आधार पर गर्भ में जीव के प्रवेश से लेकर हर महीने भ्रूण में होने वाले परिवर्तनों, विकास की अवस्थाओं और विशेषताओं के अनुसार शरीर की रचना का संक्षिप्त लेकिन सम्पूर्ण निरूपण किया है।

ब्रह्मस्वरूपम्

अस्ति ब्रह्म चिदानन्दं स्वयंज्योतिर्निरञ्जनम्।
ईश्वरं लिङ्गमित्युक्तमद्वितीयमजं विभुः॥ ४॥
निर्विकारं निराकारं सर्वेश्वरमनश्वरम्।
सर्वशक्ति च सर्वज्ञं तदंशा जीवसंज्ञकाः॥ ५॥

ब्रह्म का स्वरूप

४-५. (अ०) (जो) ब्रह्म अस्ति ब्रह्म 'है' (अर्थात् सत्-रूप है), चित्-आनन्दं चिदानन्द (चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द-रूप), स्वयंज्योतिः स्वयं प्रकाश(मान्), निरञ्जनं निर्लेप, ईश्वरं ईश्वर (स्वतंत्र), लिङ्गं लिंग (जिसमें संसार विलीन होता है अथवा जो सबका कारण है), अद्वितीयं अद्वितीय, अजं अजन्मा, विभुः व्यापक, निर्विकारं निर्विकार (उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, विपरिणाम, क्षय और विनाश—इन ६ विकारों से रहित), निराकारं आकाररहित, सर्व-ईश्वरं पूरे जगत् का कर्ता, अनश्वरं नाशरहित, सर्वशक्ति सर्वशक्ति(मान्), सर्वज्ञं च और सर्वज्ञ इति उक्तं ऐसा कहा गया (है), जीवसंज्ञकाः जीव संज्ञा वाले तत्-अंशाः उसके अंश (हैं)।

(सर०) ग्रन्थकार ने इन श्लोकों में वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का और अगले श्लोकों में ब्रह्म के मनुष्य शरीर में संक्रमण करने के क्रम का निरूपण किया है। वेदान्त में ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—निर्गुण और सगुण। तात्त्विक दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है, केवल दृष्टिकोण का भेद है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म सगुण है और पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण। दोनों एक ही सत्ता के दो नाम हैं, जैसे नाट्यशाला में किसी अन्य व्यक्ति की भूमिका निभाने वाला राम नामक व्यक्ति वहाँ नट कहलाता है लेकिन नाट्य से बाहर राम ही रहता है।

उपर्युक्त श्लोक में दिये गए ब्रह्म के लक्षण उसके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से संबंधित हैं। 'जीवसंज्ञकाः तदंशाः' से ब्रह्म के सगुण रूप के संक्रमण का क्रम आरम्भ किया है।

जीवस्वरूपं जीवानां देहप्राप्तिश्च

अनाद्यविद्योपहिता यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गकाः।
दार्वाद्युपाधिसंभिन्नास्ते कर्मभिरनादिभिः॥ ६॥

सुखदुःखप्रदैः पुण्यपापरूपैर्नियन्त्रिताः।
तत्तज्जातियुतं देहमायुर्भोगं च कर्मजम्॥ ७॥

प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते,

जीव का स्वरूप और जीवों द्वारा देह प्राप्ति

६-८ क. (अ०) यथा जैसे अग्नेः विस्फुलिङ्गकाः अग्नि के विस्फुलिंग (चिनगारियाँ) दारु-आदि-उपाधि-संभिन्नाः लकड़ी आदि उपाधियों (के कारण) भिन्न-भिन्न (प्रकार के होते हैं उसी प्रकार) अनादि-अविद्या-उपहिता अनादि अविद्या से अवच्छिन्न, पुण्यपापरूपैः पुण्य पापरूप, सुखदुःखप्रदैः सुख दुःख देने वाले अनादिभिः कर्मभिः नियन्त्रिताः अनादि कर्मों से नियंत्रित ते वे (जीव) तत्-तत्-जातियुतं उस-उस जाति से युक्त देहं आयुः कर्मजं भोगं च शरीर, आयु और कर्म से उत्पन्न भोग को प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते हर जन्म में प्राप्त करते हैं।

(सर०) शरीर और आयु भी कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं फिर भी 'कर्मज भोग' विशेष रूप से इसलिये कहा है कि देह और आयु पूर्वसंचित कर्मों के अदृष्ट फल हैं, लेकिन ये प्राप्त होने के बाद यानी इस जन्म में किये जाने वाले अनेक कर्मों के दृष्ट फल भी होते हैं, वे भी नियत होते हैं।

तेषामस्त्यपरं पुनः।
सूक्ष्मं लिङ्गशरीरं तदामोक्षादक्षयं मतम्॥ ८॥

सूक्ष्मभूतेन्द्रियप्राणावस्थाऽऽत्मकमिदं विदुः।

८ ख-९ ख. (अ०) तेषां उन (जीवों) में पुनः फिर अपरं अन्य सूक्ष्मं लिङ्गशरीरं सूक्ष्म लिंगशरीर अस्ति है। तत् वह आमोक्षात् मोक्ष होने तक अक्षयं मतं अक्षय (नष्ट न होने वाला) माना गया है। इदं यह (सूक्ष्म शरीर) सूक्ष्मभूत-इन्द्रिय-प्राणावस्था-आत्मकं (पंच) सूक्ष्मभूत, (पंच ज्ञान-)इन्द्रिय और (पंच) प्राण की अवस्थास्वरूप विदुः (विद्वानों ने) जाना है।

(सर०) भारतीय दर्शन मानते हैं कि मनुष्य का स्थूल शरीर बार-बार नष्ट होने पर भी सूक्ष्म शरीर तब तक नष्ट नहीं होता जब तक जीव का मोक्ष नहीं हो जाता। यह सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर की उत्पत्ति और कर्मफल के भोग का कारण होता है।

जीवानामुपभोगाय जगदेतत्सृजत्यजः॥ ९॥

स आत्मा परमात्मा च विश्रान्त्यै संहरत्यथ।
तदेतत्सृष्टिसंहारं प्रवाहानादि संमतम्॥ १०॥

९ ग-१०. (अ०) अजः परमात्मा अजन्मा (जन्मरहित) परमात्मा जीवानाम् उपभोगाय जीवों के (कर्मफल के) उपभोग के लिये एतत् जगत् इस जगत् की सृजति सृष्टि करता है अथ च और इसके (जगत् की सृष्टि और पालन के) बाद (जीवों की) विश्रान्त्यै विश्रान्ति के लिये स आत्मा वह आत्मा (ब्रह्म) संहरति संहार करता है। तत् एतत् वह यह सृष्टि-संहारं सृष्टि (और) संहार प्रवाह प्रवाह (रूप से) अनादि अनादि संमतं माना गया है।

जीवात्मजगतामभेदः

ते जीवा नात्मनो भिन्ना भिन्नं वा नात्मनो जगत्।
शक्त्या सृजन्नभिन्नोऽसौ सुवर्णं कुण्डलादिव॥ ११॥

सृजत्यविद्ययेत्यन्ये यथा रज्जुर्भुजङ्गमम्।

जीव, आत्मा और जगत् का अभेद

११-१२ ख. (अ०) ते जीवाः वे जीव आत्मनः आत्मा से भिन्नाः न भिन्न नहीं है (और) न वा न ही जगत् जगत् आत्मनः भिन्नं आत्मा से भिन्न (है)। असौ यह (आत्मा) (अपनी) शक्त्या शक्ति से सृजन् (जगत् की) सृष्टि करता हुआ (भी उससे उसी तरह) अभिन्नः अभिन्न (है) सुवर्णं कुण्डलात् इव जैसे सोना कुंडल (आदि आभूषणों) से (भिन्न नहीं है)। अन्ये अन्य (मत) में अविद्यया सृजति अविद्या के द्वारा (जगत् की) सृष्टि करता है यथा जैसे रज्जुः रस्सी भुजङ्गमं साँप की (सृष्टि करती है)।

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार ने आत्मा और जीव के संबंध के बारे में वेदान्त के दो मतों—परिणामवाद और विवर्तवाद—का भेद दिखाते हुए आत्मा और जगत् का ऐक्य सिद्ध किया है।

परिणामवाद के अनुसार आत्मा और जीव में अंश-अंशी भाव से और जीव तथा जगत् में कारण-कार्य भाव से अभेद है क्योंकि आत्मा का ही एक अंश जीव है और जीव का परिणाम ही जगत्; जैसे सोने और कुंडल आदि आभूषणों में अभेद है। कुंडल आदि सोने का परिणाम हैं लेकिन जैसे कुंडल बनने के बाद सोना उससे अभिन्न है उसी तरह जगत् की सृष्टि होने पर ब्रह्म का अंशरूप जीव भी जगत् से अभिन्न रहता है।

माया अथवा अविद्या ब्रह्म की इच्छाशक्ति है जिसके द्वारा वह जगत् की सृष्टि करता है। इस अविद्या की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति वस्तु के शुद्ध स्वरूप को ढक देती है और तब विक्षेप शक्ति उस वस्तु में किसी अन्य वस्तु का आरोप कर देती है। इस प्रकार आवरण और विक्षेप के द्वारा मूल स्वरूप ढका जाकर अन्य वस्तु का आरोप होने के बाद जो मिथ्या रूप दिखाई देता है वह 'विवर्त' कहलाता है। जैसे, अँधेरे में पड़ी रस्सी के असली स्वरूप पर आवरण पड़ कर उसमें साँप का आरोप होना और तब रस्सी को साँप ही समझ लिया जाना। यही वेदान्त में 'विवर्तवाद' कहलाता है। इसके अनुसार यह जगत् आत्मा का उसी तरह विवर्त है जैसे साँप रस्सी का विवर्त है।

सूत्र रूप में आत्मा और जगत् में अवास्तविक परिणाम को 'विवर्त' और वास्तविक परिणाम को 'परिणाम' कहा गया है।

११वें श्लोक के पूर्वार्ध का सिंह० ने यह पाठ दिया है—*'तेजोवदात्मनो भिन्नाभिन्नया वाऽऽत्मनो जगत्'*। इसका अर्थ यह है—जैसे सूर्य से उसका तेज अभिन्न होने पर भी 'सूर्य का तेज'—यह भेदपूर्ण व्यवहार किया जाता है उसी तरह आत्मा से जगत् अभिन्न होने पर भी भिन्न मान लिया जाता है।

सृष्टिक्रमः

आत्मनः पूर्वमाकाशस्ततो वायुस्ततोऽनलः॥ १२॥

अनलाज्जलमेतस्मात्पृथिवी समजायत।
महाभूतान्यमून्येषा विराजो ब्रह्मणस्तनुः॥ १३॥

सृष्टि का क्रम

१२ ग-१३. (अ०) आत्मनः आत्मा से पूर्वम् आकाशः सबसे पहले आकाश, ततः वायुः तब (आकाश से) वायु, ततः अनलः तब (वायु से) अग्नि, अनलात् जलं अग्नि से जल, एतस्मात् (और) उससे (जल से) पृथिवी समजायते पृथ्वी उत्पन्न होती है। अमूनि ये (आकाश आदि) महाभूतानि महाभूत विराजः ब्रह्मणः विराट् ब्रह्म का एषा यह तनुः शरीर (है)।

(सर०) 'एषा' का अर्थ है—यह जो प्रत्यक्ष का विषय है। महाभूतों का प्रत्यक्ष होता है इसलिये 'एषा तनुः' कहा गया है।

ब्रह्म ब्रह्माणमसृजत्तस्मै वेदान्प्रदाय च।
भौतिकं वेदशब्देभ्यः सर्जयामास तेन तत्॥ १४॥

१४. (अ०) ब्रह्म ब्रह्म ने ब्रह्माणं ब्रह्मा को असृजत् उत्पन्न किया (और) तस्मै उसके लिये (अर्थात् उसे) वेदान् च प्रदाय वेदों को भी देकर (तथा) तत् उस (ब्रह्म) ने तेन उसके (ब्रह्मा के) द्वारा वेदशब्देभ्यः वेद शब्दों से भौतिकं सर्जयामास भौतिक (जगत्) की सृष्टि कराई।

(सर०) ब्रह्म ने स्वयं ब्रह्मा और वेदों को उत्पन्न किया। फिर स्वयं प्रयोजक कर्ता (निमित्तस्वरूप) रह कर ब्रह्मा को प्रयोज्य कर्ता (जिसके द्वारा कोई काम कराया जाय) बना कर उसके द्वारा भौतिक जगत् की सृष्टि कराई। 'वेद शब्दों के द्वारा' कहने का आशय यह है कि जगत् की सृष्टि का क्रम अनन्त काल से चल रहा है लेकिन प्रत्येक व्यक्तिगत क्रम में कल्पान्तरों में हुई सृष्टि का स्मरण वेद शब्दों के द्वारा ही होता है।

तदाज्ञयाऽसृजद् ब्रह्मा मनसैव प्रजापतीन्।
तेभ्यस्तु रैतसी सृष्टिः,

१५ क-ग. (अ०) तत् आज्ञया उस (ब्रह्म) की आज्ञा से ब्रह्मा ब्रह्मा ने मनसा एव मन के द्वारा ही प्रजापतीन् (दक्ष आदि) प्रजापतियों को असृजत् उत्पन्न किया (और) तेभ्यः तु उनके द्वारा तो रैतसी सृष्टिः रैतसी (वीर्य अथवा रक्त वाली) सृष्टि (की)।

शरीराणां निरूप्यते॥ १५॥

स्वेदोद्भेदजराय्वण्डहेतुभेदाच्चतुर्विधम्।
देहं यूकाऽऽदिनः स्वेदादुद्भेदात्तु लताऽऽदिनः॥ १६॥
जरायोर्मानुषादीनामण्डात्तु विहगादिनः।

१५ घ-१७ ख. (अ०) स्वेद-उद्भेद-जरायु-अण्ड-हेतु भेदात् स्वेद (पसीना), उद्भेद (अंकुर फूटना), जरायु (गर्भाशय) (और) अंडे के कारण के भेद से शरीराणां शरीरों का (के) चतुर्विधं निरूप्यते चार प्रकार का निरूपण किया जाता है। स्वेदात् पसीने से यूका-आदिनः देहं जूँ आदि का शरीर, उद्भेदात् तु अंकुरण से तो लता-आदिनः लता आदि का, जरायोः गर्भाशय से मानुष-आदीनां मनुष्य आदि का (और) अण्डात् तु अंडे से तो विहग-आदिनः पक्षी आदि का (शरीर उत्पन्न होता है)।

तत्र नादोपयोगित्वान्मानुषं देहमुच्यते॥ १७॥

१७ ग-घ. (अ०) तत्र उनमें से नाद-उपयोगित्वात् नाद के उपयोगी होने से मानुषं देहं मनुष्य शरीर को उच्यते (यहाँ) कहा जाता है (अर्थात् उसका निरूपण किया जा रहा है)।

(सर०) ऊपर चार प्रकार के शरीर बताए गए। इनमें से मनुष्य शरीर में ही विविध नाद उत्पन्न होता है। इसीलिये केवल

मानव देह का ही निरूपण किया जा रहा है। नाद की उत्पत्ति मनुष्य के शरीर में ही क्यों मानी है इसका कारण कल्लि० ने इस प्रकार दिया है। लता आदि (उद्भेदज) अचेतन हैं, जूँ आदि (स्वेदज) बहुत छोटी होती हैं; पक्षियों (अण्डज) में पूरी धातुएँ और नाडियाँ नहीं होतीं और गर्भ से उत्पन्न (जरायुज) पशुओं में धातु-नाडी आदि पूरी होने पर भी वे तिर्यक होते हैं यानी सीधे खड़े नहीं होते, उनका शरीर आड़ी स्थिति में रहता है और उच्चारण शक्ति बहुत सीमित होती है। केवल मनुष्य में ही वर्णरहित और वर्णयुक्त, आहत-अनाहत आदि नाद के विविध रूपों की अभिव्यक्ति की शक्ति होती है इसलिये मनुष्य शरीर ही नादोपयोगी है।

मानुषदेहस्योत्पत्तिक्रमः

क्षेत्रज्ञः स्थित आकाश आकाशाद्वायुमागतः।
वायोर्धूमं ततश्चाभ्रमभ्रान्मेघेऽवतिष्ठते॥ १८॥

मनुष्य शरीर की उत्पत्ति का क्रम

१८. (अ०) आकाशे स्थितः आकाश में स्थित क्षेत्रज्ञः जीव आकाशात् आकाश से वायुम् आगतः वायु को (में) आया। वायोः धूमं वायु से धूम (अग्नि) को (में), ततः च और तब (अग्नि से) अभ्रं वायुमण्डल को (में), अभ्रात् वायुमण्डल से मेघे अवतिष्ठते बादल में आता है।

(सर०) जीव आकाश से गर्भ में किस प्रकार आता है इस क्रम को ग्रन्थकार ने यहाँ से शुरू किया है।

आहुत्याऽऽप्यायितो ग्रस्तरसो ग्रीष्मे च भानुभिः।
भानुर्मेघे घनरसं निधत्ते तं बलाहकः॥ १९॥

यदा वर्षति वर्षेण सह जीवस्तदा भुवः।
वनस्पत्योषधीर्जाताः संक्रामत्यविलक्षितः॥ २०॥

१९-२०. (अ०) आहुत्या आप्यायितः (यज्ञ में दी गई) आहुति के द्वारा (जो) तृप्त हुआ (है) ग्रीष्मे च और ग्रीष्म (ऋतु) में भानुभिः किरणों के द्वारा (पृथ्वी का) ग्रस्तरसः जिसने रस सोखा है (ऐसा) भानुः सूर्य मेघे मेघ में तं घनरसं उस घने रस को निधत्ते डालता है। यदा जब बलाहकः मेघ वर्षेण सह वर्षा के साथ वर्षति बरसता है तदा तब भुवः जाताः पृथ्वी से उत्पन्न वनस्पति-ओषधीः वनस्पति (पेड़-पौधे) ओषधियों (जड़ी-बूटियों) में जीवः जीव अविलक्षितः अप्रत्यक्ष रूप से संक्रमति संक्रमण करता है।

ताभ्योऽन्नं जातमन्नं तत्पुरुषैः शुक्लतां गतम्।
शुद्धार्तवाया योषाया निषिक्तं स्मरमन्दिरे॥ २१॥

सहार्तवेन शुद्धं चेद्गर्भाशयगतं भवेत्।
जीवकर्मप्रेरितं तद् गर्भमारभते तदा॥ २२॥

२१-२२.(अ०) ताभ्यः उन (वनस्पति, ओषधी आदि) से अन्नं जातं अन्न उत्पन्न हुआ। तत् वह (अन्न) पुरुषैः पुरुष के द्वारा (खाया जाकर) शुक्लतां (श्वेत शुक्र रूप) शुक्लता को गतं गया (प्राप्त हुआ)। शुद्ध-आर्तवाया शुद्ध आर्तव (रज) वाली योषाया (संभोगरत) स्त्री के द्वारा स्मरमन्दिरे कामदेव के मन्दिर (अर्थात् योनि) में निषिक्तं सींचा गया (वह शुक्र रूप जीव) आर्तवेन सह आतंव के साथ शुद्धं चेत् शुद्ध होता है (तथा) गर्भाशयगतं भवेत् गर्भाशय में जाता है। तदा तब (भविष्य में उत्पन्न होने वाले) जीवकर्मप्रेरितं जीव के कर्मों से प्रेरित तत् वह (गर्भाशय में गया हुआ शुक्र) गर्भं गर्भ (शरीर के उपादान यानी गर्भाशय में गये हुए शुक्र और रज के संघात) को आरभते आरंभ करता है (अर्थात् क्रियाशील बनाता है)।

मासचतुष्टये गर्भस्य वृद्धिक्रमः

द्रवत्वं प्रथमे मासि कललाख्यं प्रजायते।
द्वितीये तु घनः पेशीषद्घनमर्बुदम्॥ २३॥

पुंस्त्रीनपुंसकानां स्युः प्रागवस्थाः क्रमादिमाः।

चार महीनों में गर्भ की वृद्धि का क्रम

२३-२४ ख. (अ०) प्रथमे मासि पहले महीने में कलल-आख्यं-द्रवत्वं 'कलल' नामक द्रवरूप (केवल शुक्र और रज का मिश्र रूप) प्रजायते उत्पन्न होता है। द्वितीये तु दूसरे (महीने) में तो घनः पिण्डः ठोस लौंदा, पेशी पेशी (वर्गाकार माँस पिंड) (और) ईषद् घनम् अर्बुदं कुछ ठोस अर्बुद (सेमल के फूल) (का आकार होने पर) क्रमात् क्रम से पुं-स्त्री-नपुंसकानां पुरुष, स्त्री (और) नपुंसकों की इमाः ये प्राक् अवस्थाः पूर्व अवस्थाएँ स्युः होती हैं।

(सर०) यहाँ से गर्भ की वृद्धि का क्रम शुरू करके हर महीने में होने वाले परिवर्तनों और विशेषताओं का निरूपण किया है। यह निरूपण मुख्य रूप से चरक और सुश्रुत संहिताओं पर आधारित है जो भारतीय आयुर्विज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं।

श्लोक २३ घ में सिंह० का पाठ 'पेशी च घनमर्बुदं' है। इसके आधार पर उसने पिण्ड के पेशीरूप होने पर पुरुष, ठोस होने पर स्त्री और अर्बुद (लम्बाकार) होने पर नपुंसक अवस्था कही है। लेकिन कल्लि० ने पिंड से पुरुष, पेशी से स्त्री और अर्बुद से नपुंसक कहा है जिसकी पुष्टि चरक (४/१०) और सुश्रुत (३/१९) संहिताओं के द्वारा भी होती है।*

गर्भ के पहले महीने में कोई आकार नहीं होता, केवल द्रवरूप होता है। दूसरे महीने से वह कुछ आकार लेने लगता है जिसके आधार पर भ्रूण का लिंग निश्चित हो जाता है।

तृतीये त्वङ्कुराः पञ्च कराङ्घ्रिशिरसो मतः॥ २४॥
अङ्गप्रत्यङ्गभागाश्च सूक्ष्माः स्युर्युगपत्तदा॥
विहाय श्मश्रुदन्तादीञ्जन्मानन्तरसंभवान्॥ २५॥

एषा प्रकृतिरन्या तु विकृतिः संमता सताम्।

२४ ग-२६ ख. (अ०) तृतीये तु तीसरे (महीने) में तो पञ्च अङ्कुराः पाँच अंकुर कर-अङ्घ्रि-शिरसः (दो) हाथ, (दो) पैर (और) सिर मताः माने गए हैं। जन्म-अनन्तर-संभवान् जन्म के बाद होने वाले श्मश्रु-दन्त-आदीन् विहाय दाढ़ी-मूँछ (और) दाँत आदि को छोड़कर सूक्ष्माः अङ्ग-प्रत्यङ्ग-भागाः च सूक्ष्म अंग, प्रत्यंग और (उनके) भाग युगपत् (इनके ठीक) साथ-साथ तदा तभी स्युः होते हैं। एषा यह प्रकृतिः प्रकृति (सामान्य स्वभाव) अन्या तु इससे भिन्न तो सतां बुद्धिमानों (की दृष्टि) में विकृतिः विकृति संमता मानी गई है।

(सर०) तीसरे महीने में मनुष्य शरीर की आकृति के पाँच प्रमुख अंग यानी सिर, दो हाथ और दो पैर पाँच अंकुरों के रूप में बनने लगते हैं।

दाढ़ी-मूँछ, दाँत आदि का जन्म के बाद होना गर्भ से उत्पन्न होने वाले का साधारण धर्म है इसलिये इन्हें 'प्रकृति' कहा है। लेकिन ये जन्म के साथ ही उत्पन्न हो जायँ या बाद में भी उत्पन्न न हों अथवा यथास्थान न हों या निश्चित संख्या से कम-ज्यादा हों, यह विकार है इसलिये इन्हें 'विकृति' कहा है।

---

* संगीतरत्नाकर के पिण्ड-निरूपण और चरक तथा सुश्रुत संहिताओं की तुलना के लिये द्रष्टव्य संगीतरत्नाकर के अंग्रेज़ी अनुवाद का Appendix I, Vol. 1, Dr. R.K. Shringy, Pub. Motilal Banarasidass.

चतुर्थे व्यक्तता तेषां भावानामपि जायते॥ २६॥

पुंसां शौर्यादयो भावा भीरुत्वाद्यास्तु योषिताम्।
नपुंसकानां संकीर्णा भवन्तीति प्रचक्षते॥ २७॥

२६ ग-२७. (अ०) चतुर्थे चौथे (महीने) में तेषां उनके भावानां व्यक्तता अपि भावों की व्यक्तता भी जायते उत्पन्न होती है (अर्थात् भिन्न लिंगों के भाव भी उत्पन्न होते हैं)। पुंसां पुरुषों के शौर्य-आदयः भावाः शौर्य आदि भाव, भीरुत्व-आद्याः तु भीरुत्व (डर) आदि तो योषितां स्त्रियों के (और) नपुंसकानां नपुंसकों के संकीर्णाः भवन्ति संकीर्ण (मिले-जुले) होते हैं इति प्रचक्षते ऐसा (विद्वान्) कहते हैं।

(सर०) चौथे महीने में विभिन्न अंग विकसित होते हैं। विभिन्न भाव यानी अनुभूति की शक्ति भी भ्रूण में इसी महीने में आ जाती है।

दोहदम्

मातृजं चास्य हृदयं विषयानभिकाङ्क्षति।
अतो मातुर्मनोऽभीष्टं कुर्याद्गर्भसमृद्धये॥ २८॥

दोहद

२८. (अ०) अस्य मातृजं इस माता से उत्पन्न होने वाले का हृदयं च हृदय भी विषयान् विषयों को (की) अभिकाङ्क्षति इच्छा करता है। अतः इसलिये गर्भसमृद्धये गर्भ की समृद्धि के लिये मातुः मनः माता के मन का अभीष्टं कुर्यात् अभीष्ट करना चाहिये।

(सर०) गर्भस्थ जीव चौथे महीने में अपने हृदय की इच्छाओं को माता के हृदय के द्वारा प्रकट करता है यानी माता के हृदय में उन विषयों की इच्छा उत्पन्न होती है जिनकी इच्छा गर्भस्थ जीव को होती है। इसलिये गर्भस्थ के विकास के लिये माता की इच्छा को पूरा करना चाहिये। माता की इच्छा पूरी न होने पर, उत्पन्न हुए बालक में व्यंगता आदि हो सकती है, जैसे, सिंह० के अनुसार, कानापन, अंधापन, पंगुता आदि।

आगे २९-३२ श्लोकों में ग्रन्थकार ने यह निरूपण किया है कि किस वस्तु की दोहद से किस प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती है।

तां च द्विहृदयां नारीमाहुर्दौहृदिनीं बुधाः।
अदानाद्दोहदानां स्युर्गर्भस्य व्यङ्गताऽदयः॥ २९॥

मातुर्यद्विषयालाभस्तदार्तो जायते सुतः।

२९-३० ख. (अ०) तां च उसी दौहृदिनीं नारीं गर्भवती स्त्री को बुधाः बुद्धिमान लोगों ने द्विहृदयां दो हृदय वाली आहुः कहा है। दोहदानाम्-अदानात् दोहद (दो हृदय वाली की इच्छा) के अदान (पूरी न होने) से गर्भस्य गर्भ (में स्थित बालक) की व्यङ्गता-आदयः व्यंगता (अंगों का विकारयुक्त होना) आदि (दोष) स्युः होते हैं। मातुः माता की यत् विषय-अलाभः जिस विषय की अप्राप्ति (होती है) तत्-आर्तः उससे पीड़ित सुतः सन्तान जायते उत्पन्न होती है।

गर्भः स्यादर्थवान्भोगी दोहदाद्राजदर्शने॥ ३०॥

अलङ्कारेषु ललितो धर्मिष्ठस्तापसाश्रमे।
देवतादर्शने भक्तो हिंस्रो भुजगदर्शने॥ ३१॥

गोधाऽशने तु निद्रालुर्बली गोमांसभक्षणे।
माहिषे शुकरक्ताक्षं लोमशं सूयते सुतम्॥ ३२॥

३० ग-३२. (अ०) राजदर्शने दोहदात् राजा के दर्शन में दोहद से गर्भः गर्भ अर्थवान् भोगी अर्थवान् (और) भोगी (तथा) अलङ्कारेषु अलंकारों में (आभूषणों की दोहद से) ललितः स्यात् ललित होता है। तापस-आश्रमे तपस्वी के आश्रम में (दोहद से) धर्मिष्ठः धर्मिष्ठ, देवतादर्शने देवता के दर्शन में (दोहद से) भक्तः भक्त, भुजगदर्शने साँप के दर्शन में (दोहद से) हिंस्रः हिंसक, गोधा-अशने तु घड़ियाल (का माँस) खाने (की दोहद) में निद्रालुः निद्रालु, गोमांस-भक्षणे गाय (का माँस खाने की दोहद) में बली बलवान् माहिषे भैसें (का माँस खाने की दोहद) में शुक-रक्त-अक्षं तोते के समान लाल आँखों वाली (और) लोमशं बड़े-बड़े रोएँ वाली सुतं सन्तान (को स्त्री) सूयते उत्पन्न करती है।

पञ्चमादि-सप्तमान्तमासेषु गर्भस्य वृद्धिक्रमः

प्रबुद्धं पञ्चमे चित्तं मांसशोणितपुष्टता।
षष्ठेऽस्थिस्नायुनखरकेशरोमविविक्तता॥ ३३॥
बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता।

पाँचवें से सातवें महीनों में गर्भ की वृद्धि का क्रम

३३-३४ ख. (अ०) पञ्चमे पाँचवें (महीने) में चित्तं प्रबुद्धं चित्त प्रबुद्ध (होता है तथा) मांस-शोणितपुष्टता माँस (और) रक्त की पुष्टता (होती है)। षष्ठे छठे (महीने) में अस्थि-स्नायु-नखर-केश-रोम-विविक्तता अस्थि (हड्डी), स्नायु (शिरा) नख, बाल, रोमों की पृथक्ता (और) बलवर्णौ च बल तथा वर्ण (रंग) उपचितौ उपचित होते हैं (वृद्धि को प्राप्त होते हैं)। सप्तमे तु सातवें (महीने) में तो अङ्गपूर्णता अंगों की पूर्णता (होती है)।

(सर०) पाँचवें महीने में चित्त क्रियाशील हो जाता है। छठे में अंगों के विकास के साथ-साथ बल और रंग बढ़ते और स्पष्ट होते हैं।

सप्तममासि गर्भस्य मोक्षोपायचिन्तनम्

पाल्यन्तरितहस्ताभ्यां श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय सः॥ ३४॥

उद्विग्नो गर्भसंवासादास्ते गर्भाशयान्वितः।
स्मरन्पूर्वानुभूताः स नानाजातीश्च यातनाः॥ ३५॥

मोक्षोपायमभिध्यायन्वर्ततेऽभ्यासतत्परः।

सातवें महीने में गर्भ द्वारा मोक्ष के उपाय का चिन्तन

३४ ग-३६ ख. (अ०) पालि-अन्तरित-हस्ताभ्यां पालि (जाँघ) जिनके बीच में पड़ी हैं ऐसे हाथों से श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय कानों के छिद्रों को ढक कर सः वह (जीव) गर्भाशय-अन्वितः गर्भाशय से घिरा हुआ गर्भ-संवासात् गर्भ में रहने के कारण उद्विग्नः आस्ते उद्विग्न (भय या वैराग्य से आपन्न) रहता है। सः वह पूर्व-अनुभूताः पहले (पूर्वजन्मों में) अनुभव की गई नानाजातीः च अनेक प्रकार की यातनाः स्मरन् यातनाएँ स्मरण करता हुआ मोक्ष-उपायम् अभिध्यायन् मोक्ष के उपाय का ध्यान करता हुआ अभ्यासतत्परः वर्तते अभ्यास (चिन्तन) में लगा रहता है।

(सर०) 'पालि' का अर्थ सिंह० ने कर्णपाली यानी कान और कल्लि० ने ऊरु यानी जाँघ किया है। सातवें महीने में गर्भस्थ शिशु के घुटने सिकुड़ कर छाती से लगे रहते हैं जिससे कलाई से कुहनी के बीच का भाग जाँघ और पैरों को तथा हथेली कानों को ढके रहती हैं। इस तरह एक ओर हाथ जाँघों को व्यवहित किये रहते हैं और दूसरी ओर कर्णपाली को। इसलिये दोनों टीकाकारों द्वारा दिये गये 'पालि' के अर्थ भिन्न होते हुए भी सातवें महीनी में गर्भस्थ बालक की वास्तविक स्थिति को ही सूचित करते हैं।

अष्टमे मासि गर्भस्य-अवस्थाविशेषः

अष्टमे त्वक्स्मृती स्यातामोजश्चैतच्च हृद्भवम्॥ ३६॥
शुद्धमापीतरक्तं च निमित्तं जीविते मतम्।
पुनरम्बां पुनर्गर्भं चञ्चलं तत्प्रधावति॥ ३७॥

आठवें महीने में गर्भ की अवस्था-विशेष

३६ ग-३७. (अ०) अष्टमे आठवें (महीने) में **त्वक्-स्मृती** त्वचा और स्मृति **ओजः च** (और) ओज भी **स्यातां** होते हैं **च** और **हृद्भवं** हृदय में होने वाला **शुद्धं** शुद्ध **आपीतरक्तं च** और कुछ पीले लाल रंग वाला **एतत्** यह (ओज) **जीविते** जीवन का **निमित्तं मतं** कारण माना गया है। **तत्** वह (ओज) **पुनः अम्बां** बार-बार (गर्भ से) माता की ओर (और) **पुनः गर्भं** फिर (माता से) गर्भ की ओर **चञ्चलं प्रधावति** चंचलता से (बार-बार) दौड़ता है।

(सर०) सिंह० ने '**त्वक-स्मृती**' के स्थान पर '**त्वक्श्रुती**' पाठ लिया है और '**श्रुति**' का यह अर्थ किया है कि गर्भस्थ बालक बाहर की ध्वनियों को सुनता है।

आठवें महीने में उत्पन्न यह ओज स्थिर नहीं रहता बल्कि माता से बालक और बालक से माता की ओर दौड़ता रहता है और इस महीने में माता और बालक दोनों के जीवन का कारण होता है।

अतो जातोऽष्टमे मासि न जीवत्योजसोज्झितः।
किञ्चित्कालमवस्थानं संस्कारात्खण्डिताङ्गवत्॥ ३८॥

३८. (अ०) अतः इसलिये **ओजसा-उज्झितः** ओज से अलग हुआ **अष्टमे मासि जातः** आठवें मास में उत्पन्न (बालक) **न जीवति** जीवित नहीं रहता। **खण्डित-अङ्गवत्** कट कर अलग हुए अंग के समान **संस्कारात्** संस्कार के कारण **किञ्चित् कालम् अवस्थानं** कुछ काल तक जीवित (रह सकता है)।

(सर०) आठवें महीने में जब ओज गर्भ को छोड़ कर माता में संक्रमण करता है तब गर्भस्थ में ओज का संचार न होने के कारण उस समय उत्पन्न हुआ बालक जीवित नहीं रहता। इसी तरह जब ओज गर्भ में गया हुआ हो तब बालक उत्पन्न हो तो माता जीवित नहीं रहती। यदि ओज संक्रमण की स्थिति में हो यानी न माता में हो और न गर्भस्थ में बल्कि बीच में हो, यदि उस समय बालक का जन्म हो तो माता और बालक में से कोई भी जीवित नहीं रहता। जब ओज माता में गया हो उस समय उत्पन्न बालक कभी-कभी कुछ देर के लिये जीवित रह जाता है। इसका कारण यह है कि ओजसंचार का कुछ संस्कार गर्भस्थ में रह गया होता है जैसे शरीर से कट कर अलग हुए अंग में प्राणसंचार का संस्कार रह जाने से वह अंग कभी-कभी थोड़ी देर तक हिलता दिखाई देता है।

नवममासि गर्भस्य स्थितिः

समयः प्रसवस्य स्यान्मासेषु नवमादिषु।
मातृ रसवहां नाडीमनुबद्धा पराऽभिधा॥ ३९॥

नाभिस्थनाडी गर्भस्य मात्राहाररसावहा।

नवें महीने में गर्भ की स्थिति

३९-४० ख. (अ०) नवम-आदिषु मासेषु नवें आदि महीनों में **प्रसवस्य समयः स्यात्** प्रसव का समय होता है। **मातुः** माता की **रसवहाम् अभिधा** रसवहा नाम की **नाडीम् अनुबद्धा** नाडी से संबद्ध **गर्भस्य** गर्भ की **नाभिस्थ** नाभि में स्थित **मात्रा** माता से (गर्भ में) **आहार-रसवहा** आहार को रस रूप में ले जाने वाली **परा नाडी** अन्य नाडी (होती है)।

(सर०) नवें 'आदि' इसलिये कहा है कि कभी १० वें और कभी ११ वें महीने में भी प्रसव होता है।

कृताञ्जलिर्ललाटेऽसौ मातृपृष्ठमभिस्थितः॥ ४०॥
अध्यास्ते संकुचद्गात्रो गर्भं दक्षिणपार्श्वगः।
वामपार्श्वस्थिता नारी क्लीबं मध्यस्थितं मतम्।। ४१॥

४० ग-४१. (अ०) संकुचत्-गात्रः अंगों को सिकोड़े हुए, **ललाटे कृत-अञ्जलिः** ललाट में अंजलि किये हुए **असौ** यह (जीव) **गर्भे** गर्भ में **मातृपृष्ठम् अभिस्थितः** माता की पीठ की ओर स्थिर होकर **अध्यास्ते** रहता है। **दक्षिणपार्श्वगः** दाहिनी ओर को स्थित (गर्भ) (पुरुष), **वामपार्श्वस्थिता नारी** बाईं ओर स्थित स्त्री (और) **मध्यस्थितं क्लीबं** बीच में स्थित नपुंसक **मतं** माना गया है।

प्रसूतिः

क्रियतेऽधःशिराः सूतिमारुतैः प्रबलैस्ततः।
निःसार्यते रुजद्गात्रो यन्त्रच्छिद्रेण बालकः॥ ४२॥

प्रसूति

४२. (अ०) ततः तब **प्रबलैः सूतिमारुतैः** प्रसूति की प्रबल वायु के द्वारा (जन्म के समय बालक) **अधःशिराः क्रियते** नीचे (की ओर) सिर वाला कर दिया जाता है (और) **रुजत् गात्रः** पीड़ित देह वाला **बालकः** बालक **यन्त्रच्छिद्रेण** यन्त्र छिद्र (योनि के छिद्र) से (होकर) **निःसार्यते** बाहर निकाल दिया जाता है।

जीवस्य नित्यता

जातमात्रस्य तस्याथ प्रवृत्तिः स्तन्यगोचरा।
प्रागजन्मबोधसंस्कारादिति जीवस्य नित्यता॥ ४३॥

जीव की नित्यता

४३. (अ०) अथ अब **जातमात्रस्य** उत्पन्न हुए की (अर्थात् उत्पन्न होते ही) **प्राक्-जन्मबोधसंस्कारात्** पूर्वजन्म के बोध के संस्कारों के कारण **तस्य** उस (उत्पन्न हुए बालक) की **स्तन्यगोचरा प्रवृत्तिः** स्तनपान की प्रवृत्ति (होती है), **इति** इस प्रकार (यह) **जीवस्य नित्यता** जीव की नित्यता (सिद्ध है)।

जातस्य भावभेदाः

भावाः स्युः षड्विधास्तस्य मातृजाः पितृजास्तथा।
रसजा आत्मजाः सत्त्वसंभवाः सात्म्यजास्तथा॥ ४४॥

उत्पन्न हुए (बालक) के भावभेद

४४. (अ०) तस्य उस (बालक) के षड्विधा ६ प्रकार के भावाः स्युः भाव होते हैं—मातृजाः तथा पितृजाः माता से उत्पन्न (और) पिता से उत्पन्न, रसजाः रस से उत्पन्न, आत्मजाः आत्मा से उत्पन्न, सत्त्वसंभवाः सत्त्व से उत्पन्न तथा और सात्म्यजाः चिर-परिचित संस्कारों से होने वाले।

मृदवः शोणितं मेदो मज्जा प्लीहा यकृद् गुदम्।
हृन्नाभीत्येवमाद्यास्तु भावा मातृभवा मताः॥ ४५॥

४५. (अ०) शोणितं रक्त, मेदः चर्बी, मज्जा मज्जा (हड्डी और माँस के बीच का रस), प्लीहा तिल्ली, यकृत् जिगर, गुदं गुदा, हृत् हृदय (और) नाभि नाभि—इति एवं आद्याः तु इत्यादि तो मृदवः मृदुता से युक्त मातृभवाः माता से उत्पन्न होने वाले भावाः भाव मताः माने गये हैं।

श्मश्रुलोमकचाः स्नायुसिराधमनयो नखाः।
दशनाः शुक्लमित्याद्याः स्थिराः पितृसमुद्भवाः॥ ४६॥

४६. (अ०) श्मश्रु-लोम-कचाः दाढ़ी-मूँछ, रोम, बाल, स्नायु-सिरा-धमनयः स्नायु, सिरा, धमनियाँ, नखाः नख, दशनाः दाँत, शुक्लम् इति आद्याः शुक्र आदि स्थिराः कठिन (हैं और) पितृसमुद्भवाः पिता से उत्पन्न होने वाले (भाव हैं)।

शरीरोपचयो वर्णो वृद्धिः सुप्तिर्बलं स्थितिः।
अलोलुपत्वमुत्साह इत्यादीन्रसजान्विदुः॥ ४७॥

४७. (अ०) शरीर-उपचयः शरीर का बढ़ना, वर्णः रंग, वृद्धिः लम्बाई, सुप्तिः नींद, बलं बल, स्थितिः स्थिति, अलोलुपत्वं लालच का न होना, उत्साहः इति-आदीन् उत्साह इत्यादि को रसजान् विदुः (खाए हुए अन्न के) रस से उत्पन्न जाना गया है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं धर्माधर्मौ च भावना।
प्रयत्नो ज्ञानमायुश्चेन्द्रियाणीत्यात्मजा मताः॥ ४८॥

४८. (अ०) इच्छा द्वेषः इच्छा, द्वेष, सुखं दुःखं सुख, दुःख, धर्म-अधर्मौ च धर्म और अधर्म, भावना भावना, प्रयत्नः प्रयत्न, ज्ञानम् आयुः च ज्ञान और आयु, इन्द्रियाणि इन्द्रियाँ—इति ये आत्मजाः आत्मा से उत्पन्न होने वाले (भाव) मताः माने गये हैं।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रवणं स्पर्शनं दर्शनं तथा।
रसनं घ्राणमित्याहुः पञ्च तेषां तु गोचराः॥ ४९॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्ध इति क्रमात्।

४९-५० ख. (अ०) श्रवणं श्रवण, स्पर्शनं स्पर्शन, दर्शनं दर्शन, रसनं रसन, घ्राणं घ्राण—इति पञ्च ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाँ (विद्वानों ने) आहुः कही हैं। तेषां तु उनके तो क्रमात् क्रम से शब्दः शब्द, स्पर्शः स्पर्श तथा रूपं और रूप, रसः रस, गन्धः गन्ध—इति ये (विषय) गोचराः दिखाई देते हैं।

वाक्कराङ्घ्रिगुदोपस्थानाहुः कर्मेन्द्रियाणि तु॥ ५०॥

वचनादानगमनविसर्गरतयः क्रमात्।
क्रियास्तेषां,

५० ग-५१ ग. (अ०) कर्मेन्द्रियाणि तु कर्मेन्द्रियाँ तो वाक्-कर-अङ्घ्रि-गुदा-उपस्थान जिह्वा, हाथ, पैर, गुदा (और) उपस्थ (विद्वानों ने) आहुः कही हैं। तेषां क्रिया: उनकी क्रियाएँ क्रमात् क्रम से वचन-आदान-गमन-विसर्ग-रतयः बोलना, लेना, जाना, मल त्याग (और) रति (संभोग) (हैं)।

मनो बुद्धिरित्यन्तःकरणद्वयम्॥ ५१॥

सुखं दुःखं च विषयौ विज्ञेयौ, मनसः क्रिया।
स्मृतिभ्रान्तिविकल्पाद्या धियोऽध्यवसितिर्मता॥ ५२॥

५१ ग-५२. (अ०) मनः बुद्धिः मन (और) बुद्धि—इति अन्तःकरण-द्वयं—ये दो अन्तःकरण (हैं)। सुखं दुःखं च सुख और दुःख विषयौ (ये) दो विषय विज्ञेयौ जाने जाते हैं। स्मृति-भ्रान्ति-विकल्प-आद्याः स्मृति, भ्रान्ति, विकल्प (अनिर्णय) आदि मनसः क्रिया मन की किया (और) धियः बुद्धि की (क्रिया) अध्यवसितिः मता अध्यवसिति (निश्चय करना) मानी गई है।

(सर०) सिंह० ने 'धियो व्यवस्थितिः' पाठ लिया है और इन श्लोकों की व्याख्या अलग ढंग से की है। उसके अनुसार सुख और दुःख—ये दो विषय मन की क्रियाएँ और स्मृति, भ्रान्ति, विकल्प आदि बुद्धि के व्यापार हैं। लेकिन यह अर्थ व्याकरण और वेदान्त के अनुसार सही नहीं लगता। हमने वेदान्त के अनुसार अर्थ दिया है और वह व्याकरण की दृष्टि से भी सही है। ५२ वें श्लोक में 'सुखं दुःखं' नपुंसकलिंग एकवचन शब्द है और 'विषयौ विज्ञेयौ' नपुंसकलिंग द्विवचन पद हैं तथा वे परस्पर अन्वित होते हैं। 'क्रिया' स्त्रीलिंग एकवचन शब्द होने के कारण 'विषयौ विज्ञेयौ' के साथ अन्वित नहीं होता। 'आद्या' स्त्रीलिंग एकवचन है जिसका अन्वय 'क्रिया' के साथ है। अगर क्रिया का संबंध 'विषयौ विज्ञेयौ' से हो तो उसका रूप 'क्रिये' होना चाहिये। वेदान्त के अनुसार भ्रान्ति आदि मन के व्यापार माने गये हैं और बुद्धि निश्चयात्मिका मानी गई है। इसलिये यहाँ वास्तव में 'सुखं दुःखं च विषयौ विज्ञेयौ' 'स्मृतिभ्रान्तिविकल्पाद्या मनसः क्रिया', 'धियः अध्यवसितिर्मता'—इस प्रकार अन्वय होना चाहिये। ऊपर हमने इसी के अनुसार अर्थ दिया है।

ब्रह्मयोनीनीन्द्रियाणि भौतिकान्यपरे जगुः

५३ क-ख. (अ०) ब्रह्मयोनीनि-इन्द्रियाणि इन्द्रियों की योनि (कारण) ब्रह्म है। अपरे जगुः अन्य (लोग) कहते हैं (कि वे इन्द्रियाँ) भौतिकानि भौतिक (हैं)।

(सर०) वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही इन्द्रियों का कारण है क्योंकि पूरा प्रपंच ही ब्रह्म का विवर्त है। सांख्य के अनुसार भी इन्द्रियाँ अभौतिक हैं। वैशेषिक मत से पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ भौतिक हैं।

सत्त्वाख्यमन्तःकरणं गुणभेदात्त्रिधामतम्॥ ५३॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः सत्त्वात्तु सात्त्विकात्।
आस्तिक्यशुद्धधर्मैकरुचिप्रभृतयो मताः॥ ५४॥

सत्त्वात्तु राजसाद्भावाः कामक्रोधमदादयः।
निद्राऽऽलस्यप्रमादार्तिवञ्चनाद्यास्तु तामसात्॥ ५५॥

५३ ग-५५. (अ०) गुणभेदात् गुणों के भेद से सत्त्व-आख्यम्-अन्तःकरणं सत्त्व (स्वभाव) नाम का अन्तःकरण (अर्थात् अन्तःकरण का ही नाम सत्त्व या स्वभाव है) त्रिधा मतं तीन प्रकार का माना गया (है)। सत्त्वं रजस् तमः इति गुणाः सत्त्व, रज, तम—ये गुण हैं। सात्त्विकात् सत्वात् तु सात्त्विक सत्त्व से तो आस्तिक्य आस्तिकता, शुद्धधर्म-एकरुचिप्रभृतयः शुद्ध धर्म के प्रति ही रुचि (और अधर्म से निवृत्ति) आदि मताः माने गये (हैं)। राजसात् सत्त्वात् तु राजस सत्त्व से तो काम-क्रोध-मद-आदयः भावाः काम, क्रोध, मद आदि भाव (और) निद्रा-आलस्य-प्रमाद-आर्ति-वञ्चना-आद्याः तु निद्रा, आलस्य प्रमाद, रोग, वंचना (धोखा देना) आदि (भाव) तो तामसात् तामस (सत्त्व) से (माने गये हैं)।

प्रसन्नेन्द्रियताऽऽरोग्यानालस्याद्यास्तु सात्म्यजाः।
देहो भूतात्मकस्तस्मादादत्ते तद्गुणानिमान्॥ ५६॥

५६. (अ०) प्रसन्न-इन्द्रियता इन्द्रियों की प्रसन्नता, आरोग्य-अनालस्य-आद्याः तु आरोग्य, आलस्य का न होना आदि तो सात्म्यजाः सात्म्यज (भाव हैं)। देहः भूतात्मकः शरीर भूतात्मक है तस्मात् इसलिये (वह) इमान् तद् गुणान् इन भूतगुणों को आदत्ते ग्रहण करता है।

देहे भूतगुणाः

शब्दं श्रोत्रं सुषिरतां वैविक्त्यं सूक्ष्मबोद्धताम्।
बिलं च गगनाद्वायोः स्पर्शं च स्पर्शनेन्द्रियम्॥ ५७॥

उत्क्षेपणमवक्षेपाकुञ्चने गमनं तथा।
प्रसारणमितीमानि पञ्च कर्माणि रूक्षताम्॥ ५८॥

शरीर में पंचमहाभूतों के गुण

५७-५८ (अ०) गगनात् आकाश से शब्दं शब्द, श्रोत्रं श्रोत्र, सुषिरतां सूक्ष्म छिद्रयुक्तता, वैविक्त्यं पृथक्त्व, सूक्ष्मबोद्धतां दुर्बोध अर्थ का भी अनायास ज्ञान होना, बिलं च और बड़ा छेद (आदि गुणों को शरीर लेता है)। (शरीर) वायोः वायु से स्पर्शं च स्पर्शनेन्द्रियं स्पर्श और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा), उत्क्षेपणं ऊपर जाना, अवक्षेप-आकुञ्चने नीचे आना (और) सिकोड़ना, गमनं तथा प्रसारणं जाना और फैलाना—इति इमानि इस प्रकार ये पञ्च कर्माणि पाँच कर्म (और) रूक्षतां रूखापन (लेता है)।

प्राणापानौ तथा व्यानसमानोदानसंज्ञकान्।
नागं कूर्मं च कृकरं देवदत्तं धनञ्जयम्॥ ५९॥

दशेति वायुविकृतीस्तथा गृह्णाति लाघवम्।

५९-६० ख. (अ०) प्राण-अपानौ प्राण, अपान तथा व्यान-समान-उदान-संज्ञकान् और व्यान, समान (तथा) उदान संज्ञा वाले, नागं कूर्मं च नाग और कूर्म, कृकरं देवदत्तं धनञ्जयं कृकर, देवदत्त (और) धनंजय—इति दश ये दस वायुविकृतीः वायु के विकार तथा लाघवं और हल्केपन को (शरीर वायु से) गृह्णाति ग्रहण करता है।

तेषां मुख्यतमः प्राणो नाभिकंदादधः स्थितः॥ ६०॥

चरत्यास्ये नासिकयोर्नाभौ हृदयपङ्कजे।
शब्दोच्चारणनिःश्वासोच्छ्वासकासादिकारणम्॥ ६१॥

वाक्कराङ्घ्रिगुदोपस्थानाहुः कर्मेन्द्रियाणि तु॥ ५०॥
वचनादानगमनविसर्गरतयः क्रमात्।
क्रियास्तेषां,

५० ग-५१ ग. (अ०) कर्मेन्द्रियाणि तु कर्मेन्द्रियाँ तो वाक्-कर-अङ्घ्रि-गुदा-उपस्थान जिह्वा, हाथ, पैर, गुदा (और) उपस्थ (विद्वानों ने) आहुः कही हैं। तेषां क्रियाः उनकी क्रियाएँ क्रमात् क्रम से वचन-आदान-गमन-विसर्ग-रतयः बोलना, लेना, जाना, मल त्याग (और) रति (संभोग) (हैं)।

मनो बुद्धिरित्यन्तःकरणद्वयम्॥ ५१॥

सुखं दुःखं च विषयौ विज्ञेयौ, मनसः क्रिया।
स्मृतिभ्रान्तिविकल्पाद्या धियोऽध्यवसितिर्मता॥ ५२॥

५१ ग-५२. (अ०) मनः बुद्धिः मन (और) बुद्धि—इति अन्तःकरण-द्वयं—ये दो अन्तःकरण (हैं)। सुखं दुःखं च सुख और दुःख विषयौ (ये) दो विषय विज्ञेयौ जाने जाते हैं। स्मृति-भ्रान्ति-विकल्प-आद्याः स्मृति, भ्रान्ति, विकल्प (अनिर्णय) आदि मनसः क्रिया मन की किया (और) धियः बुद्धि की (क्रिया) अध्यवसितिः मता अध्यवसिति (निश्चय करना) मानी गई है।

(सर०) सिंह० ने 'धियो व्यवस्थितिः' पाठ लिया है और इन श्लोकों की व्याख्या अलग ढंग से की है। उसके अनुसार सुख और दुःख—ये दो विषय मन की क्रियाएँ और स्मृति, भ्रान्ति, विकल्प आदि बुद्धि के व्यापार हैं। लेकिन यह अर्थ व्याकरण और वेदान्त के अनुसार सही नहीं लगता। हमने वेदान्त के अनुसार अर्थ दिया है और वह व्याकरण की दृष्टि से भी सही है। ५२ वें श्लोक में 'सुखं दुःखं' नपुंसकलिंग एकवचन शब्द है और 'विषयौ विज्ञेयौ' नपुंसकलिंग द्विवचन पद हैं तथा वे परस्पर अन्वित होते हैं। 'क्रिया' स्त्रीलिंग एकवचन शब्द होने के कारण 'विषयौ विज्ञेयौ' के साथ अन्वित नहीं होता। 'आद्या' स्त्रीलिंग एकवचन है जिसका अन्वय 'क्रिया' के साथ है। अगर क्रिया का संबंध 'विषयौ विज्ञेयौ' से हो तो उसका रूप 'क्रिये' होना चाहिये। वेदान्त के अनुसार भ्रान्ति आदि मन के व्यापार माने गये हैं और बुद्धि निश्चयात्मिका मानी गई है। इसलिये यहाँ वास्तव में 'सुखं दुःखं च विषयौ विज्ञेयौ' 'स्मृतिभ्रान्तिविकल्पाद्या मनसः क्रिया', 'धियः अध्यवसितिर्मता'—इस प्रकार अन्वय होना चाहिये। ऊपर हमने इसी के अनुसार अर्थ दिया है।

ब्रह्मयोनीनीन्द्रियाणि भौतिकान्यपरे जगुः

५३ क-ख. (अ०) ब्रह्मयोनीनि-इन्द्रियाणि इन्द्रियों की योनि (कारण) ब्रह्म है। अपरे जगुः अन्य (लोग) कहते हैं (कि वे इन्द्रियाँ) भौतिकानि भौतिक (हैं)।

(सर०) वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही इन्द्रियों का कारण है क्योंकि पूरा प्रपंच ही ब्रह्म का विवर्त है। सांख्य के अनुसार भी इन्द्रियाँ अभौतिक हैं। वैशेषिक मत से पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ भौतिक हैं।

सत्त्वाख्यमन्तःकरणं गुणभेदात्त्रिधामतम्॥ ५३॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः सत्त्वात्तु सात्त्विकात्।
आस्तिक्यशुद्धधर्मैकरुचिप्रभृतयो मताः॥ ५४॥

सत्त्वात्तु राजसाद्भावाः कामक्रोधमदादयः।
निद्राऽऽलस्यप्रमादार्तिवञ्चनाद्यास्तु तामसात्॥ ५५॥

५३ ग-५५. (अ०) गुणभेदात् गुणों के भेद से **सत्त्व-आख्यम्-अन्तःकरणं** सत्त्व (स्वभाव) नाम का अन्तःकरण (अर्थात् अन्तःकरण का ही नाम सत्त्व या स्वभाव है) **त्रिधा मतं** तीन प्रकार का माना गया (है)। **सत्त्वं रजस् तमः इति गुणाः** सत्त्व, रज, तम—ये गुण हैं। **सात्त्विकात् सत्वात् तु** सात्त्विक सत्त्व से तो **आस्तिक्य** आस्तिकता, **शुद्धधर्म-एकरुचिप्रभृतयः** शुद्ध धर्म के प्रति ही रुचि (और अधर्म से निवृत्ति) आदि **मताः** माने गये (हैं)। **राजसात् सत्त्वात् तु** राजस सत्त्व से तो **काम-क्रोध-मद-आदयः भावाः** काम, क्रोध, मद आदि भाव (और) **निद्रा-आलस्य-प्रमाद-आर्ति-वञ्चना-आद्याः तु** निद्रा, आलस्य प्रमाद, रोग, वंचना (धोखा देना) आदि (भाव) तो **तामसात्** तामस (सत्त्व) से (माने गये हैं)।

प्रसन्नेन्द्रियताऽऽरोग्यानालस्याद्यास्तु सात्म्यजाः।
देहो भूतात्मकस्तस्मादादत्ते तद्गुणानिमान्॥ ५६॥

५६. (अ०) प्रसन्न-इन्द्रियता इन्द्रियों की प्रसन्नता, **आरोग्य-अनालस्य-आद्याः तु** आरोग्य, आलस्य का न होना आदि तो **सात्म्यजाः** सात्म्यज (भाव हैं)। **देहः भूतात्मकः** शरीर भूतात्मक है **तस्मात्** इसलिये (वह) **इमान् तद् गुणान्** इन भूतगुणों को **आदत्ते** ग्रहण करता है।

देहे भूतगुणाः

शब्दं श्रोत्रं सुषिरतां वैविक्त्यं सूक्ष्मबोद्धताम्।
बिलं च गगनाद्वायोः स्पर्शं च स्पर्शनेन्द्रियम्॥ ५७॥

उत्क्षेपणमवक्षेपाकुञ्चने गमनं तथा।
प्रसारणमितीमानि पञ्च कर्माणि रूक्षताम्॥ ५८॥

शरीर में पंचमहाभूतों के गुण

५७-५८ (अ०) गगनात् आकाश से **शब्दं** शब्द, **श्रोत्रं** श्रोत्र, **सुषिरतां** सूक्ष्म छिद्रयुक्तता, **वैविक्त्यं** पृथक्त्व, **सूक्ष्मबोद्धतां** दुर्बोध अर्थ का भी अनायास ज्ञान होना, **बिलं च** और बड़ा छेद (आदि गुणों को शरीर लेता है)। (शरीर) **वायोः** वायु से **स्पर्शं च स्पर्शनेन्द्रियं** स्पर्श और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा), **उत्क्षेपणं** ऊपर जाना, **अवक्षेप-आकुञ्चने** नीचे आना (और) सिकोड़ना, **गमनं तथा प्रसारणं** जाना और फैलाना—**इति इमानि** इस प्रकार ये **पञ्च कर्माणि** पाँच कर्म (और) **रूक्षतां** रूखापन (लेता है)।

प्राणापानौ तथा व्यानसमानोदानसंज्ञकान्।
नागं कूर्मं च कृकरं देवदत्तं धनञ्जयम्॥ ५९॥

दशेति वायुविकृतीस्तथा गृह्णाति लाघवम्।

५९-६० ख. (अ०) प्राण-अपानौ प्राण, अपान **तथा व्यान-समान-उदान-संज्ञकान्** और व्यान, समान (तथा) उदान संज्ञा वाले, **नागं कूर्मं च** नाग और कूर्म, **कृकरं देवदत्तं धनञ्जयं** कृकर, देवदत्त (और) धनंजय—**इति दश** ये दस **वायुविकृतीः** वायु के विकार **तथा लाघवं** और हल्केपन को (शरीर वायु से) **गृह्णाति** ग्रहण करता है।

तेषां मुख्यतमः प्राणो नाभिकंदादधः स्थितः॥ ६०॥

चरत्यास्ये नासिकयोर्नाभौ हृदयपङ्कजे।
शब्दोच्चारणनिःश्वासोच्छ्वासकासादिकारणम्॥ ६१॥

६० ग-६१. (अ०) तेषां उनमें (से) मुख्यतमः प्राणः मुख्यतम प्राण (नामक वायु है जो) नाभिकंदात् अधः स्थितः नाभिकंद से नीचे रहता है* (और) आस्ये मुख में, नासिकयोः नाक के दोनों छिद्रों में, नाभौ नाभि में, हृदयपङ्कजे हृदय-कमल में चरति घूमता है (और जो) शब्द-उच्चारण-निःश्वास-उच्छ्वास-कासा-आदिकारणं शब्दोच्चारण, निःश्वास (साँस बाहर निकालने), उच्छ्वास (साँस भीतर लेने), खाँसी आदि का कारण है।

अपानस्तु गुदे मेढ्रे कटीजङ्घोदरेषु च।
नाभिकंदे वङ्क्षणयोरूरुजानुनि तिष्ठति॥ ६२॥

अस्य मूत्रपुरीषादिविसर्गः कर्म कीर्तितः।

६२-६३ ख. (अ०) अपानः तु अपान (वायु) तो गुदे गुदा में, मेढ्रे पुरुष जननेन्द्रिय में, कटि-जङ्घा-उदरेषु च कमर, पिंडली और पेट में, नाभिकंदे नाभि मूल में, वङ्क्षणयोः जाँघों के जोड़ों में, ऊरु-जानुनि जाँघ (और) घुटनों में तिष्ठति रहता है। अस्य कर्मः इसका कर्म मूत्र-पुरीष-आदि-विसर्गः मूत्र-मल आदि का त्याग कीर्तितः जाना गया है।

व्यानोऽक्षिश्रोत्रगुल्फेषु कट्यां घ्राणे च तिष्ठति॥ ६३॥

प्राणापानधृतित्यागग्रहणाद्यस्य कर्म च।

६३ ग-६४ ख. (अ०) व्यानः व्यान (वायु) अक्षि-श्रोत्र-गुल्फेषु आँख, कान, टख़नों में, कट्यां घ्राणे च कमर में और नाक के दोनों छिद्रों में तिष्ठति रहता है। प्राण-अपान प्राण (और) अपान अस्य कर्म च इनके कर्म तो धृति-त्याग-ग्रहण-आदि धारण, त्याग, (बाहर निकालना), ग्रहण (भीतर लेना) आदि (हैं)।

समानो व्याप्य निखिलं शरीरं वह्निना सह॥ ६४॥

द्विसप्ततिसहस्त्रेषु नाडीरन्ध्रेषु संचरन्।
भुक्तपीतरसान्सम्यगानयन्देहपुष्टिकृत्॥ ६५॥

६४ ग-६५. (अ०) समानं समान (वायु) निखिलं शरीरं व्याप्य पूरे शरीर को व्याप्त करके वह्निना सह अग्नि के साथ द्विसप्तति-सहस्त्रेषु बहत्तर हज़ार नाडीरन्ध्रेषु सञ्चरन् नाडी छिद्रों में संचार करता हुआ भुक्त-पीतरसान् खाये पिये हुए के रसों को सम्यक् आनयन् अच्छी तरह से लाकर देहपुष्टिकृत् शरीर की पुष्टि करने वाला (होता है अर्थात् देह को पुष्ट करता है)।

उदानः पादयोरास्ते हस्तयोरङ्गसन्धिषु।
कर्मास्य देहोन्नयनोत्क्रमणादि प्रकीर्तितम्॥ ६६॥

६६. (अ०) उदानः उदान (वायु) पादयोः पैरों में, हस्तयोः हाथों में (और) अङ्गसन्धिषु शरीर के जोड़ों में आस्ते रहता है। अस्य कर्म इसके कर्म देह-उन्नयन-उत्क्रमण-आदि शरीर को ऊँचा उठाना (और) मरण आदि प्रकीर्तितं विशेष रूप से जाने गये (हैं)।

त्वगादिधातूनाश्रित्य पञ्च नागादयः स्थिताः।
उद्गारादि निमेषादि क्षुतप्रभृति च क्रमात्॥ ६७॥

---

* संस्कृत में वायु शब्द पुल्लिंग है इसलिये यहाँ तदनुसार अनुवाद किया गया है।

तन्द्राप्रभृति शोफादि तेषां कर्म प्रकीर्तितम्।

६७-६८ ख. (अ०) नाग-आदयः पञ्च नाग आदि पाँच (वायु) **त्वक्-आदि धातून् आश्रित्य** त्वचा आदि धातुओं के आश्रित होकर **स्थिताः** रहते हैं। **क्रमात्** क्रम से **उद्गार-आदि** उद्गार (थूकना, वमन, डकार) आदि, **निमेष-आदि** निमेष (पलक झपकना) आदि, **क्षुत-प्रभृति च** छींक आदि और **तन्द्राप्रभृति** आलस्य (जम्हाई) आदि, **शोफ-आदि** सूजन आदि **तेषां** उनके **कर्म प्रकीर्तितं** कर्म माने गए (हैं)।

(सर०) नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—इन पाँच वायु के स्थान क्रम से त्वचा, रक्त, माँस, मेद और अस्थि हैं।

अब तक आकाश और वायु—इन दो महाभूतों के जिन गुणों को शरीर लेता है उनका निरूपण किया गया। इसके बाद अग्नि, जल और पृथ्वी के गुणों का निरूपण किया है।

अग्नेस्तु लोचनं रूपं पित्तं पाकं प्रकाशताम्॥ ६८॥
अमर्षं तैक्ष्ण्यमूष्माणमोजस्तेजश्च शूरताम्।
मेधावितां तथाऽऽदत्ते,

६८ ग-६९ ग. (अ०) अग्नेः तु अग्नि से तो **लोचनं** आँख, **रूपं** रूप, **पित्तं** पित्त, **पाकं** पाचन, **प्रकाशतां** तेजस्विता, **अमर्षं** क्रोध, **तैक्ष्ण्यं** असहिष्णुता, **ऊष्माणं** पसीना निकालने वाला ताप विशेष, **ओजः** ओज, **तेजः च** और तेज **शूरतां** निर्भीकता **तथा मेधावितां** तथा मेधाविता (अनुभूत को न भूलना) **आदत्ते** लेता है।

(सर०) यहाँ 'ओज' को पूर्वोक्त आठवें महीने की अवस्था-विशेष में कहा गया 'ओज' ही समझना चाहिये।

जलात्तु रसनं रसम्॥ ६९॥
शैत्यं स्नेहं द्रवं स्वेदं मूत्रादि मृदुतामपि।

६९ घ-७० ख. (अ०) जलात् तु जल से तो **रसनं** रसनेन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय-रूप जिह्वा), **रसं** रस, **शैत्यं** शीतलता, **स्नेहं** स्निग्धता, **द्रवं** तरल पदार्थ, **स्वेदं** पसीना, **मूत्र आदि** मूत्र आदि, **मृदुताम् अपि** (और) कोमलता को भी (ग्रहण करता है)।

भूमेर्घ्राणेन्द्रियं गन्धं स्थैर्यं धैर्यं च गौरवम्॥ ७०॥

श्मश्रुकेशनखं दन्तानस्थ्याद्यन्यच्च कर्कशम्।

७० ग-७१ ख. (अ०) भूमेः भूमि से **घ्राण-इन्द्रियं** सूँघने की ज्ञानेन्द्रिय (नाक), **गन्धं** गन्ध, **स्थैर्यं** स्थिरता, **धैर्यं** धैर्य **गौरवं च** और भारीपन (जो गिरने का कारण है), **श्मश्रु-केश-नखं** दाढ़ी-मूँछ, बाल, नख, **दन्तान्** दाँतों को **अस्थि आदि** हड्डी आदि **अन्यत् च** और भी (तथा) **कर्कशं** कर्कशता को (जीव लेता है)।

प्रकृतिः

वातादिधातुप्रकृतिर्व्योमादिप्रकृतिस्तथा॥ ७१॥

प्रकृति

७१ ग-घ. (अ०) वातादि-धातु-प्रकृतिः वात आदि धातु (की प्रधानता के अनुसार देह की) प्रकृति **तथा व्योम-आदि प्रकृतिः** और व्योम आदि (भूतों में से किसी या किन्हीं की प्रधानता के अनुसार) प्रकृति (यों दो प्रकार से होती है)।

(सर०) आयुर्वेद के अनुसार शरीर की तीन प्रकार की प्रकृति होती है—१. वात, पित्त, कफ धातुओं के अनुसार, २. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पंचभूतों के अनुसार और ३. सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के अनुसार। इनमें से पहली दो का उल्लेख यहाँ और अन्तिम का अगले श्लोकों में किया गया है।

त्रिगुणभेदेन देहानां त्रिविधत्वम्

सप्तधा सात्त्विको यश्च ब्रह्मेन्द्रयमविग्रहः।
वारुणश्चाथ कौबेर आर्षो गान्धर्वविग्रहः॥ ७२॥

त्रिगुणभेद से देहों की त्रिविधता

७२. (अ०) सात्त्विकः सात्त्विक (शरीर) सप्तधा सात प्रकार का (होता है) यः च और जो ब्रह्म-इन्द्र-यम-विग्रहः ब्रह्मा, इन्द्र, यम (के) शरीर अथ च और वारुणः वरुणसंबंधी, कौबेरः कुबेरसंबंधी, आर्षः ऋषिसंबंधी गान्धर्व-विग्रहः (और) गान्धर्वसंबंधी शरीर (है)।

राजसः षड्विधो यश्च पैशाचो राक्षसस्तथा।
आसुरः शाकुनः सार्पः प्रेतदेहस्तथा परः॥ ७३॥

७३. (अ०) राजसः राजस (शरीर) षड्विधः ६ प्रकार का (है) यः च और जो पैशाच पिशाचसंबंधी, राक्षसः राक्षस-संबंधी तथा आसुरः और असुरसंबंधी, शाकुनः पक्षीसंबंधी, सार्पः सर्पसंबंधी तथा परः और इसके अतिरिक्त प्रेतदेहः प्रेतदेह (है)।

तामसस्त्रिविधो यश्च पशुमत्स्याङ्घ्रिपाकृतिः।
तेषां लक्ष्माणि न ब्रूमो ग्रन्थविस्तरकातराः॥ ७४॥

७४. (अ०) तामसः तामस (शरीर) त्रिविधः तीन प्रकार का (है) यः च और जो पशु-मत्स्य-अङ्घ्रिप-आकृतिः पशु, मछली, अङ्घ्रिप (पैरों से पानी पीने वाला अर्थात् वृक्ष) आकार (वाले हैं)। ग्रन्थविस्तरकातराः ग्रन्थ के विस्तार के भय वाले (हम) तेषां उनके लक्ष्माणि लक्षण न ब्रूमः नहीं कहते (हैं)।

अङ्ग-प्रत्यङ्गानि—तत्र अङ्गानि

पिण्डस्याहुः षडङ्गानि शिरः पादौ करौ तथा।
मध्यं चेत्यथ वक्ष्यन्ते प्रत्यङ्गान्यखिलान्यपि॥ ७५॥

शरीर के अंग और प्रत्यंग—अंग

७५. (अ०) पिण्डस्य शरीर के शिरः सिर, पादौ दो पैर, करौ दो हाथ, तथा मध्यं च और मध्य (धड़) भी इति ये षट्-अङ्गानि ६ अंग आहुः कहे जाते हैं। अथ इसके बाद अखिलानि प्रत्यङ्गानि अपि सारे प्रत्यंग भी वक्ष्यन्ते कहे जायँगे।

(सर०) इसी प्रकरण के २५वें श्लोक में भी अंग-प्रत्यंग कहे गये हैं। वहाँ मानवाकृति के प्रथम और मूल रूप में सिर, दो हाथ और दो पैरों को ५ अंकुर कह कर उनमें विभिन्न अंग-प्रत्यंगों का संकेत मात्र किया गया है। धड़ को अलग से नहीं कहा है क्योंकि प्रारंभिक अवस्था में धड़ विकसित नहीं होता। लेकिन शरीर की सम्पूर्ण रचना में धड़ उपर्युक्त पाँच

से अलग विकसित होता है और उसमें विभिन्न अंग-प्रत्यंग रहते हैं इसीलिये प्रस्तुत श्लोक में धड़ को लेकर ६ अंग कहे गये हैं।

संगीतरत्नाकर के नर्तनाध्याय में भी षडंग कहे गये हैं लेकिन वहाँ शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि और चरण—ये ६ अंग हैं। पिण्डोत्पत्ति के संदर्भ में सिर के अलावा धड़ को एक अलग अंग और हाथ-पैरों को दो-दो अंग कह कर—यों ६ अंग होते हैं। नर्तन में धड़ के तीन प्रमुख भागों—वक्ष, पार्श्व और कटि का विशेष स्थान होने के कारण इन्हें अलग-अलग अंग माना है। हाथ और पैर की संख्या दो-दो होते हुए भी नर्तन में दोनों हाथों का और इसी प्रकार दोनों पैरों का उपयोग सम्मिलित क्रियाओं के रूप में होने के कारण दोनों हाथों को मिला कर एक अंग और दोनों पैरों को मिलाकर एक अंग कहा गया है। षडंगों के विभाजन में कुछ अन्तर होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से अन्तर नहीं है।

पिण्डोत्पत्ति और नर्तन में प्रत्यंग भी कहे गये हैं लेकिन वे दोनों के बिल्कुल भिन्न हैं। पिण्डनिरूपण में त्वचा, धातु, आशय, हृदय, अस्थि, पेशी आदि प्रत्यंग श्लोक ७६-११९ में देखे जा सकते हैं। नर्तनसंबंधी ६ प्रत्यंग ये हैं—ग्रीवा, बाहु, पृष्ठोदर, जठर, ऊरु और जंघा। ये सभी शरीर के बाहरी अवयव हैं। आंगिक चेष्टाएँ अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम हैं इसलिये उसमें ऐसे अवयव ही ग्राह्य हो सकते हैं जो बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में नेत्र का विषय बन सकें अर्थात् दृश्य हों इसीलिये नर्तन के प्रत्यंग पिण्डोत्पत्ति से भिन्न हैं।

प्रत्यङ्गानि—तत्र त्वक्कले

त्वचः सप्त कलाः सप्त स्नायुश्लेष्मजरायुभिः।
छन्नाः कोशाग्निभिः पक्वास्ता धातूनन्तराऽन्तरा॥ ७६॥
सीमभूताश्च धातूनां,

प्रत्यंग १—त्वचा, कला

७६-७७ क. (अ०) स्नायु-श्लेष्म-जरायुभिः छन्नाः स्नायु, श्लेष्म (और) जरायु (झिल्ली) से ढकी हुई (और) कोशाग्निभिः पक्वाः कोशाग्नियों के द्वारा पकाई गई सप्त त्वचः सात त्वचाएँ (और) सप्त कलाः सात कलाएँ (हैं)। ताः वे (त्वक् आदि) धातून्-अन्तरा-अन्तरा धातुओं के बीच-बीच में धातूनां सीमभूताः च और धातुओं की सीमा होकर (रहती हैं)।

(सर०) त्वक्, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—ये सात धातुएँ हैं। इनके बीच-बीच में रहकर इन्हें एक दूसरे से अलग रखने के कारण सात त्वचाएँ और सात कलाएँ धातुओं की सीमारूप कही गई हैं।

काष्ठसारोपमा मताः।
आद्या मांसधरा, मांसे सिरा धमनयस्तथा॥ ७७॥
स्नायुस्त्रोतांसि रोहन्ति पङ्के पङ्कजकन्दवत्।
असृङ्मेदः श्लेष्मशकृत्पित्तशुक्लधराः पराः॥ ७८॥

७७ ख-७८ (अ०) (सात त्वचाओं में से) मांसधरा आद्या माँसधरा (नामक) पहली काष्ठसार-उपमा मताः लकड़ी जैसी कठिन मानी गई (है)। पङ्के कीचड़ में पङ्कजकन्दवत् कमल की जड़ की तरह सिराः धमनयः सिराएँ, धमनियाँ तथा स्नायुस्त्रोतांसि और स्नायु स्रोत मांसे माँस में रोहन्ति उठते या उगते हैं। पराः अन्य (त्वचा और कलाएँ) असृक् रक्त मेदः चर्बी, श्लेष्म- कफ, शकृत् थूक, पित्त-शुक्लधराः पित्त, शुक्र को धारण करने वाली (होती हैं)।

प्रत्यङ्गेषु धातवः

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्लानि धातवः।
सप्त स्युस्तत्र चोक्ता त्वग्रक्तं जाठरवह्निना॥ ७९॥
पक्वाद्भवेदन्नरसादेवं रक्तादिभिः परे।
स्वस्वकोशाग्निना पक्वैर्जन्यन्ते धातवः क्रमात्॥ ८०॥

प्रत्यंग २—धातु

७९-८०. (अ०) त्वक्-असृक्-मांस-मेदः-अस्थि-मज्ज-शुक्लानि त्वचा, रक्त, माँस, चर्बी, हड्डी, मज्जा (और) शुक्र सप्त धातवः स्युः सात धातुएँ होती हैं। तत्र च उनमें से त्वक् त्वचा उक्ता कही जा चुकी है। जाठरवह्निना उदराग्नि के द्वारा पक्वात् पकाए गए अन्नरसात् अन्न रस से रक्तं भवेत् रक्त होता है (अर्थात् बनता है)। एवं इसी प्रकार स्व-स्वकोशाग्निना पक्वैः अपने-अपने कोशों की अग्नियों से पकाई जाकर क्रमात् क्रम से रक्त-आदिभिः परे धातवः रक्तादि से (भिन्न) अन्य धातुएँ जन्यन्ते उत्पन्न होती हैं।

प्रत्यङ्गेषु आशयाः

रक्तश्लेष्मामपित्तानां पक्वस्य मरुतस्तथा।
मूत्रस्य चाश्रयाः सप्त क्रमादाशयसंज्ञकाः॥ ८१॥
गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयादन्तरे।

प्रत्यंग ३—आशय

८१-८२ ख. (अ०) रक्त-श्लेष्म-आम-पित्तानां रक्त, श्लेष्म, आम, पित्तों के, पक्वस्य मरुतः तथा पक्व का और मरुत् का मूत्रस्य च और मूत्र का आशयसंज्ञकाः 'आशय' संज्ञा वाले क्रमात् क्रम से सप्त आश्रयाः सात आश्रय (स्थान) (होते हैं)। स्त्रीणां स्त्रियों में पित्त-पक्वाशय-अन्तरे पित्त (और) पक्वाशय के बीच में अष्टमः गर्भाशयः आठवाँ गर्भाशय (होता है)।

(सर०) 'आशय संज्ञा वाले' कहने का अर्थ है रक्ताशय, श्लेष्माशय, आमाशय, पित्ताशय, पक्वाशय, मरुदाशय और मूत्राशय—ये सात 'आशय' हैं।

प्रत्यङ्गेषु हृदयम्

प्रसन्नाभ्यां कफासृग्भ्यां हृदयं पङ्कजाकृतिः॥ ८२॥
सुषिरं स्यादधोवक्त्रं यकृत्प्लीहान्तरस्थितम्।

प्रत्यंग ४—हृदय

८२ ग-८३ ख. (अ०) प्रसन्नाभ्यां कफ-असृग्भ्यां प्रसन्न (शुद्ध) कफ और रक्त से (उत्पन्न होने वाला) पङ्कज-आकृतिः कमल की आकृति वाला, सुषिरं बीच में से खोखला, अधः-वक्त्रं नीचे की ओर मुँह वाला, हृदयं हृदय यकृत्-प्लीहा-अन्तरस्थितं स्यात् यकृत् (और) प्लीहा के बीच में स्थित होता है।

एतच्च चेतनस्थानं तदस्मिन्स्तमसाऽऽवृते॥ ८३॥
निमीलति स्वपित्यात्मा जागर्ति विकसत्यपि।
द्वेधा स्वप्नसुषुप्तिभ्यां स्वापो बाह्येन्द्रियाणि चेत्॥ ८४॥
लीयन्ते हृदि जागर्ति चित्तं स्वप्नस्तदोच्यते।
मनश्चेल्लीयते प्राणे सुषुप्तिः स्यात्तदाऽऽत्मनः॥ ८५॥
स्वमपीतः परात्मानं स्वपित्यात्मेत्यतो मतः।

८३ ग-८६ ख. (अ०) **एतत् च** और यह **चेतनस्थानं** चेतन (ब्रह्म) का स्थान (है)। **तत्** उस **अस्मिन्** इस (चेतन) के **तमसा आवृते** तम से आवृत्त होने पर (अर्थात् ढका जाने पर) (हृदयकमल जब) **निमीलति** बंद हो जाता है (तो) **आत्मा स्वपिति** आत्मा (जीव) सोता* है। **विकसति अपि** और (जब हृदयकमल) विकसित होता है (तो आत्मा) **जागर्ति** जागता है। **स्वप्न-सुषुप्तिभ्यां** स्वप्न और सुषुप्ति (के भेद) से **स्वापः** निद्रा **द्वेधा** दो प्रकार की (होती है)। (जब) **बाह्य इन्द्रियाणि** बाह्य इंद्रियाँ **हृदि** हृदय में **लीयन्ते चेत्** लीन हो जाती हैं (और) **चित्तं जागर्ति** चित्त जागता है **तदा** तब **स्वप्नः उच्यते** स्वप्न कहा जाता है। (जब) **मनः** मन **प्राणे** प्राण में **लीयते चेत्** लीन हो जाता है **तदा** तब **आत्मनः** आत्मा की **सुषुप्तिः स्यात्** सुषुप्ति होती है। (आत्मा) **स्वं** अपने को **पर-आत्मानं** पर आत्मा को (परमात्मा में) **अपीतः** प्रविष्ट (लीन) करता है **अतः** इसलिये **आत्मा स्वपिति** आत्मा सोता है **इति मतः** ऐसा माना गया है।

(सर०) ८३ वें श्लोक में प्रयुक्त 'एतच्च' में 'च' समुच्चय-बोधक है जिसके द्वारा उन सभी स्थानों का ग्रहण कर लिया है जिनमें चेतन की अभिव्यक्ति होती है। चेतन यानी आत्मा हृदय में ही प्रकाशित होता है इसलिये उसे 'चेतन का स्थान' कहा है। योगतंत्र में हृदय को कमल के आकार का कहा गया है इसीलिये 'पङ्कजाकृति' शब्द का प्रयोग हुआ है।

'चेतन' शब्द पर कल्लि० की लम्बी टीका है। उसका सार यह है कि वेद आदि में और अन्यत्र प्रयुक्त चेतन शब्द का अर्थ जीव नहीं है क्योंकि श्रुतियों में कहा गया है कि यह विद्वान् अविद्वान् पूरा जीवलोक हृदयकमल के आश्रयरूप 'दहराकाश' नामक ब्रह्मलोक को प्राप्त होने पर भी निद्रा में पड़ा होने से अनादि अविद्या के अन्धकार से ढकी हुई दृष्टि वाला होने के कारण यह नहीं जानता कि 'मैं हूँ'। इसलिये जीव और चेतन भिन्न हैं। जीव शब्द का अर्थ आत्मा और चेतन का अर्थ परमात्मा या ब्रह्म है। जब आत्मा के ऊपर से अविद्या का आवरण हट जाता है तब हृदयकमल में परमात्मा प्रकाशित होता हुआ दिखता है। हृदय उस चेतन ब्रह्म के प्रकाशित होने का स्थान है जिसका बोध जीव को अविद्या के दूर होने पर होता है।

वह हृदयरूपी कमल जब बन्द हो जाता है तो वह आत्मा या जीव की निद्रा कहलाती है और हृदयकमल के खिलने पर आत्मा की जाग्रत् अवस्था होती है। जब आत्मा को अपने चेतन या ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान नहीं होता उस समय उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जीव रूप में यही अवस्थाएँ क्रम से विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहलाती हैं।

प्रत्यङ्गेषु स्त्रोतांसि

श्रवणे नयने नासे वदनं गुदशेफसी॥ ८६॥
बहिर्मलवहानि स्युर्नव स्त्रोतांसि देहिनाम्।
स्त्रीणां त्रीण्यधिकानि स्युः स्तनयोर्द्वे भगेऽसृजः॥ ८७॥

---

* आत्मा संस्कृत में पुल्लिंग शब्द है।

प्रत्यंग ५—स्रोत

८६ ग-८७. (अ०) देहिनां देहधारियों में बहिः मलवहानि मल को बाहर ले जाने वाले नव स्रोतांसि स्युः नौ स्रोत (रंध्र) होते हैं—श्रवणे दो कान, नयने दो नेत्र, नासे दो नासिका रंध्र, वदनं मुँह, गुद-शेफसी गुदा और शेफस् (पुरुष जननेन्द्रिय)। स्त्रीणां स्त्रियों में त्रीणि अधिकानि स्युः तीन अधिक होते हैं—द्वे स्तनयोः दो स्तनों में (और) भगे असृजः भग (स्त्री की योनि) में रक्त का।

प्रत्यङ्गेषु जालानि

अस्थिस्नायुसिरामांसस्थानि जालानि षोडश।
षट् कूर्चाः करयोरङ्घ्र्योः कन्धरायां च मेहने॥ ८८॥

पार्श्वयोः पृष्ठवंशस्य चतस्रो मांसरज्जवः।
सीवन्यः पञ्च शिरसि द्वे जिह्वालिङ्गयोर्मते॥ ८९॥

प्रत्यंग ६—जाल, कूर्चा, माँसरज्जु, सीवनी

८८-८९ (अ०) अस्थि-स्नायु-सिरा-मांसस्थानि हड्डी, स्नायु, सिरा (और) माँस में स्थित षोडश जालानि सोलह जाल (होते हैं)। करयोः दो हाथों में, अङ्घ्र्योः दो पैरों में, कन्धरायां कंधे में, मेहने च और मेहन (पुरुष जननेन्द्रिय) में षट् कूर्चाः ६ कूर्चा (कूँचियाँ) (होती हैं)। पृष्ठवंशस्य पार्श्वयोः रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर चतस्रः मांसरज्जवः चार माँसरज्जु (होते हैं) सीवन्यः सीवनियाँ (सिलाई या सन्धिरेखा) शिरसि पञ्च सिर में पाँच, जिह्वा-लिङ्गयोः द्वे जीभ और लिंग में दो (हरेक में एक-एक) मते मानी गई (हैं)।

प्रत्यङ्गेषु अस्थीनि

चतुर्दशाष्टादश वा संमता अस्थिराशयः।
अस्थ्नां शरीरे संख्या स्यात्षष्टियुक्तं शतत्रयम्॥ ९०॥

वलयानि कपालानि रुचकास्तरुणानि च।
नलकानीति तान्याहुः पञ्चधाऽस्थीनि सूरयः॥ ९१॥

त्रीण्येवास्थिशतान्यत्र धन्वन्तरिरभाषत।

प्रत्यंग ७—अस्थि

९०-९२ ख. (अ०) अस्थिराशयः हड्डियों के समूह चतुर्दश चौदह अष्टादश वा अथवा अठारह संमताः माने गये (हैं)। शरीरे शरीर में अस्थ्नां संख्या हड्डियों की संख्या षष्टियुतं शतत्रयं स्यात् साठ से युक्त तीन सौ (३६०) होती है। सूरयः विद्वानों ने तानि अस्थीनि वे हड्डियाँ वलयानि वलय, कपालानि कपाल, रुचकाः रुचक (दाँत), तरुणानि तरुण (नाक, कान, कंठ, आँख की कोमल हड्डियाँ) नलकानि च और नलक (नली के आकार की) इति पञ्चधा आहुः ये पाँच प्रकार की कही हैं। अत्र यहाँ (शरीर में) धन्वन्तरिः धन्वन्तरि ने त्रीणि शतानि एव तीन सौ ही अस्थि हड्डी अभाषत कही (हैं)।

(सर०) वलय आदि संज्ञाएँ सार्थक हैं। कड़े जैसी गोलाकार 'वलय', नारियल के खप्पर जैसी 'कपाल', नुकीली 'रुचक', नली के आकार की 'नलक' कहलाती हैं। सभी हड्डियाँ पहले 'तरुण' यानी कोमल ही होती हैं जो हड्डी के पूरी तरह सख्त

होने से पहले की स्थिति है। लेकिन जो हड्डियाँ अन्त तक कोमल ही रहती हैं वे 'तरुणास्थि' कहलाती हैं जिन्हें अंग्रेज़ी में 'कार्टिलेज' (Cartilage) कहा जाता है।

हड्डियों की संख्या के बारे में अलग-अलग मत हैं। वैदिक साहित्य (आयुर्वेद) में ३६०, धन्वन्तरि, सुश्रुत के शल्य ग्रन्थों में ३०० और आधुनिक शरीररचना विज्ञान (एँनॅटॉमी) में हड्डियों की संख्या २०६ मानी जाती है। वैदिक साहित्य में नखों को भी हड्डी माना गया है। एँनॅटॉमी में जबड़ों में एक नीचे ओर एक ऊपर यों दो ही हड्डियाँ मानी जाती हैं जबकि आयुर्वेद में ३२ दाँतों के फँसने के हिस्सों को अलग-अलग हड्डी माना गया है। तरुणास्थियों को एँनॅटॉमी में हड्डी नहीं माना जाता है। इस प्रकार कुछ को हड्डी मानने या न मानने और कुछ को अलग-अलग हड्डी मानने के कारण हड्डियों की संख्या में अन्तर दिखाई देता है।

द्वे शते त्वस्थिसन्धीनां स्यातामत्र दशोत्तरे॥ ९२॥

कोरकाः प्रतरास्तुन्नाः सीवन्यः स्युरुलूखलाः।
सामुद्गा मण्डलाः शङ्खावर्ता वायसतुण्डकाः॥ ९३॥

इत्यष्टधा समुद्दिष्टा मुनीन्द्रैरस्थिसन्धयः।

९२ ग-९४ ख. (अ०) अत्र यहाँ (शरीर में) अस्थिसन्धीनां हड्डियों के जोड़ों की (संख्या) तु तो द्वे शते दश-उत्तरे दो सौ से ऊपर दस (२१०) स्यातां होती है। कोरकाः कोरक, प्रतराः प्रतर, तुन्नाः सीवन्यः तुन्नसीवनी, उलूखलाः उलूखल, सामुद्गाः सामुद्ग, मण्डलाः मंडल, शङ्खावर्ताः शंखावर्त, वायसतुण्डकाः वायसतुण्ड—इति अष्टधा ये आठ प्रकार की अस्थिसन्धयः अस्थिसंधियाँ मुनीन्द्रैः मुनीन्द्रों के द्वारा समुद्दिष्टाः कही गई (हैं)।

(सर०) 'कोरक' ऐसी सन्धि है जो सिर्फ़ एक ओर खुलती है और आँकड़े जैसे आकार की होती है; 'प्रतर' फैली हुई, 'तुन्नसीवनी' सिलाई की तरह एक दूसरे में फँस कर रहने वाली, 'उलूखल' ओखली की तरह गोल और बीच में से खोखली होती है जिनमें दाँत रहते हैं। 'सामुद्ग' सम्पुट के आकार की, 'मण्डल' गोल, 'शंखावर्त' शंख की तरह चक्करदार और 'वायसतुण्ड' कौअे की चोंच की तरह जिसमें वस्तु फँस सके।

प्रत्यङ्गेषु स्नायु-पेशी-सिरा-धमन्यः

पेशीस्नायुसिरासन्धिसहस्त्रद्वितयं मतम्॥ ९४॥

नव स्नायुशतानि स्युश्चतुर्धा स्नायवो मताः।
प्रतानवत्यः सुषिराः कण्डराः पृथुलास्तथा॥ ९५॥

बन्धनैर्बहुभिर्बद्धा भूरिभारक्षमा भवेत्।
नौरम्भसि यथा स्नायुशतबद्धा तनुस्तथा॥ ९६॥

प्रत्यंग ८—स्नायु, पेशी, सिरा, धमनी

९४ ग-९६. (अ०) पेशी-स्नायु-सिरासन्धि- पेशी, स्नायु (और) सिराओं की संधि सहस्त्रद्वितयं मतं दो हजार मानी गई। स्नायु-शतानि-नव स्नायु नौ सौ स्युः होते हैं। स्नायवः स्नायु चतुर्धा मताः चार प्रकार के माने गये (हैं)—प्रतानवत्यः प्रतानवती, सुषिराः सुषिर, कण्डराः कंडर तथा पृथुलाः और पृथुल। स्नायुशतबद्धा सैकड़ों स्नायुओं से बँधा तनुः शरीर तथा भूरिभारक्षमा भवेत् भूरि भार को उठाने में उसी तरह समर्थ होता है यथा जैसे बहुभिः बन्धनैः बद्धा अनेक बंधनों से (अच्छी तरह) बँधी हुई नौः नौका अम्भसि जल में (बहुत भार उठा लेती है)।

(सर०) 'प्रतानवती' शाखा की तरह की, 'सुषिर' भीतर से खोखली, 'कण्डरा' कन्दरा (गुफ़ा) की तरह और 'पृथुला' मोटी अथवा चौड़ी होती है।

ग्रन्थकार ने नौका की उपमा के द्वारा शरीर में स्नायुओं के महत्त्व को व्यक्त किया है। लकड़ी के अलग-अलग तख़्ते ज्यादा भार उठाने या नदी पार कराने में पूरी तरह समर्थ नहीं होते लेकिन जब वे नाव के रूप में अच्छी तरह परस्पर बाँध दिये जाते हैं तो भार वहन करते हुए नदी पार करा देते हैं। उसी प्रकार सैकड़ों स्नायुओं से बँधे अंगों के द्वारा शरीर भी बहुत भार उठा लेता है।

यहाँ उपमा और अनुप्रास अलंकारों का सौंदर्य उल्लेखनीय है।

पञ्च पेशीशतान्याहुः शरीरस्थानि सूरयः।
अधिका विंशतिः स्त्रीणां तत्र स्युः स्तनयोर्दश॥ ९७॥

यौवने ताः प्रवर्धन्ते दश योनौ तु तत्र च।
द्वे अन्तः प्रसृते बाह्ये द्वे तिस्रो गर्भमार्गगाः॥ ९८॥

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ताऽत्र तृतीयके।
आवर्ते गर्भशय्याऽस्ति पित्तपक्वाशयान्तरे॥ ९९॥

९७-९९. (अ०) सूरयः विद्वानों ने शरीरस्थानि शरीर में स्थित पेशी पेशी पञ्चशतानि आहुः पाँच सौ कही (हैं)। स्त्रीणां स्त्रियों में विंशतिः अधिकाः बीस अधिक (होती हैं)। तत्र उनमें से स्तनयोः दोनों स्तनों में दश स्युः दस होती हैं। ताः वे यौवने यौवन प्राप्त होने पर प्रवर्धन्ते बढ़ती हैं। योनौ तु योनि में तो दश दस (होती हैं)। तत्र च उनमें से भी द्वे अन्तः दो भीतर (और) द्वे बाह्ये प्रसृते दो बाहर की ओर फैली हुई (हैं)। तिस्रः तीन गर्भमार्गगाः गर्भ मार्ग में जाने वाली (हैं)। शङ्ख-नाभि-आकृतिः-योनिः शंख की नाभि की आकृति वाली योनि त्र्यावर्ता तीन आवर्त (घुमाव या चक्कर) वाली (होती है)। अत्र इसमें (से) तृतीयके आवर्ते तीसरे आवर्त में पित्त-पक्वाशय-अन्तरे पित्त और पक्वाशय के बीच में गर्भशय्या अस्ति गर्भ (की) शय्या (गर्भाशय) है।

रोहिताभिधमत्सस्य सदृशी तत्र पेशिका।
शुक्लार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्रः प्रच्छादिका मताः॥ १००॥

१००. (अ०) तत्र उसमें रोहित-अभिध-मत्सस्य सदृशी रोहित नामक मछली जैसी पेशिका पेशी (है)। शुक्ल-आर्तव-प्रवेशिन्यः शुक्र (और) आर्तव का प्रवेश कराने वाली तिस्रः तीन (पेशियाँ) प्रच्छादिकाः मताः ढकने वाली मानी गई हैं।

(सर०) सुश्रुत के अनुसार गर्भाशय में रोहित मछली के मुख के आकार की पेशी होती है। संभवतः ग्रन्थकार को भी यही अभिप्रेत है।

सिराधमनिकानां तु लक्षाणि नवविंशतिः।
सार्धानि स्युर्नवशती षट्पञ्चाशद्युता तथा॥ १०१॥

१०१. (अ०) सिरा-धमनिकानां तु सिरा (और) धमनियों की (संख्या) तो नवविंशतिः लक्षाणि सार्धानि साढ़े उन्तीस लाख तथा नवशती षट्पञ्चाशत्-युता और नौ सौ छप्पन (से) युक्त (२९५०९५६) (होती है)।

दश मूलसिरा ओजोवाहिन्यो हृदयाश्रयाः।
द्व्यङ्गुलं चाङ्गुलदलं यवं यवदलं तथा॥ १०२॥

गत्वा द्रुमदलस्येव सीवन्यः प्रतता यदा।
भिद्यन्ते तास्तदा सप्त शतानि परिसंख्यया॥ १०३॥

१०२-१०३. (अ०) ओजः वाहिन्यः ओज की वाहिनी (ले जाने वाली) हृदय-आश्रयाः हृदय के आश्रित दश मूलसिरा दस मूल सिराएँ (हैं)। द्व्यङ्गुलं दो अंगुल अङ्गुलदलं च और आधा अंगुल (अर्थात् ढाई अंगुल) यवं यवदलं तथा यव (जौ) और यवदल (आधा जौ—कुल डेढ़ जौ) (—इतनी दूर) गत्वा जाकर यदा जब द्रुमदलस्य इव पत्ते की (नसों की) तरह सीवन्यः प्रतता सीवनियाँ फैलती हैं तदा तब ताः वे (सीवनियाँ) सप्तशतानि परिसंख्यया सात सौ संख्या से (के कारण) भिद्यन्ते भिन्न होती हैं (अर्थात् फैलने पर उनकी संख्या सात सौ होती है)।

तासु जिह्वास्थिते द्वे द्वे वाग्रसज्ञानकारणे।
घ्राणे गन्धवहे द्वे द्वे मेषोन्मेषकृतौ दृशोः॥ १०४॥
श्रोत्रयोः शब्दवाहिन्यौ तासु द्वे शार्ङ्गिणोदिते।

१०४-१०५ ख. (अ०) तासु उनमें (से) जिह्वास्थिते द्वे द्वे जीभ में स्थित दो-दो वाक् बोलने (और) रसज्ञानकारणे रस के ज्ञान का कारण, घ्राणे गन्धवहे द्वे नाक में गन्ध का वहन करने वाली दो, मेष-उन्मेष कृतौ द्वे मेष (पलक खोलना) (और) उन्मेष (पलक झपकना) करने वाली दो दृशोः नेत्रों में (और) तासु उनमें से शब्दवाहिन्यौ द्वे शब्द (ध्वनि) को ले जाने वाली दो (सिराएँ) श्रोत्रयोः कानों में शार्ङ्गिणा-उदिते शार्ङ्गदेव के द्वारा कही गई (हैं)।

धमन्यो रसवाहिन्यश्चतुर्विंशतिरीरिताः॥ १०५॥
कुल्याभिरिव केदारास्ताभिर्देहोऽभिवर्धते।
एताः प्रतिष्ठिता नाभ्यां चक्रनाभावरा इव॥ १०६॥

१०५ ग-१०६. (अ०) रसवाहिन्यः धमन्यः रस को ले जाने वाली धमनियाँ चतुर्विंशतिः ईरिताः चौबीस कही गई (हैं)। कुल्याभिः इव जैसे नहरों के द्वारा केदाराः क्यारियाँ (बढ़ती हैं उसी तरह) ताभिः उन (धमनियों) के द्वारा देहः अभिवर्धते देह बढ़ता है। चक्रनाभौ अराः इव चक्र की नाभि में आरों के समान एताः ये (धमनियाँ) नाभ्यां प्रतिष्ठिताः नाभि में प्रतिष्ठित होती (हैं)।

(सर०) नहर और क्यारियों की उपमा के द्वारा यह कहा गया है कि नहरों के जल के द्वारा जैसे क्यारियों की वनस्पति बढ़ती है उसी तरह धमनियों में प्रवाहित होने वाले रक्त आदि के द्वारा शरीर के विभिन्न अंग पुष्ट होते हैं।

दूसरी उपमा के द्वारा धमनियों की अपने केन्द्र से बाहर की ओर फैलने की स्थिति व्यक्त की गई है। रथ आदि के चक्र (पहिये) की नाभि यानी केन्द्र से जैसे आर चारों ओर फैलते हैं अथवा जैसे चारों ओर जाने वाले आर नाभि में प्रतिष्ठित होते हैं उसी तरह धमनियाँ भी नाभि से चारों ओर फैलती हैं यानी नाभि में प्रतिष्ठित होती हैं।

शरीररचना जैसे शुष्क विषय को दैनिक जीवन की सरस उपमाओं के द्वारा ग्रन्थकार ने रोचक बनाया है।

ऊर्ध्वं दश दशाधस्ताच्चतस्त्रस्तिर्यगायताः।
ऊर्ध्वगा हृदयं प्राप्ताः प्रतायन्ते पृथक्त्रिधा॥ १०७॥

१०७. (अ०) दश ऊर्ध्वं दस ऊपर की ओर दश अधःतात् दस नीचे की ओर (तथा) चतस्रः तिर्यक् आयताः चार आड़ी फैली (हैं)। ऊर्ध्वगाः ऊपर जाने वाली हृदयं प्राप्ताः हृदय तक जाकर पृथक् अलग त्रिधा प्रतायन्ते तीन तरह से फैलती हैं।

वातं पित्तं कफं रक्तं रसं द्वे द्वे विमुञ्चतः।
शब्दं रूपं रसं गन्धं द्वे द्वे तत्रावगच्छतः॥ १०८॥

द्वे द्वे च भाषणं घोषं स्वापं बोधं च रोदनम्।
कुर्वाते द्वे नरे शुक्ले स्तन्यं तु स्त्रवतः स्त्रियाम्॥ १०९॥

१०८-१०९. (अ०) द्वे द्वे दो दो वातं पित्तं कफं रक्तं रसं वात, पित्त, कफ, रक्त (और) रस को विमुञ्चतः छोड़ती हैं (ले जाती हैं)। तत्र और द्वे द्वे दो-दो भाषणं बोलना, घोषं चिल्लाना, स्वापं सोना, बोधं ज्ञान रोदनं च और रोना कुर्वाते करती हैं। नरे पुरुष में द्वे शुक्लं दो शुक्र को (और) स्त्रियां तु स्त्री में तो स्तन्यं स्त्रवतः दूध को स्त्रावित करती हैं।

अधोगता अपि त्रेधा पृथक्पक्वाशयस्थिताः।
प्रवर्तयन्ति तत्राद्या दश वातादि पूर्ववत्॥ ११०॥

११०. (अ०) अधः गता अपि नीचे जाने वाली भी पृथक् त्रेधा पृथक् तीन प्रकार की (हैं जो) पक्वाशयस्थिताः पक्वाशय में स्थित (हैं)। तत्र आद्या दश उनमें से शुरू की दस वातादि वात आदि (को) पूर्ववत् प्रवर्तयन्ति पूर्ववत् (जैसे ऊपर जाने वाली धमनियाँ ले जाती हैं उसी तरह) प्रवर्तित करती हैं (ले जाती हैं)।

अन्नं भुक्तं धमन्यौ द्वे वहतोऽम्बुसमाश्रयात्।
तोयं मूत्रं बलं द्वे द्वे नारीणामार्तवं त्विमे॥ १११॥

विमुञ्चतो द्वे स्त्रोतांसि द्वे स्थूलान्त्रान्विते शकृत्।
स्वेदं समर्पयन्त्यष्टौ,

१११-११२ ग. (अ०) द्वे धमन्यौ दो धमनियाँ अम्बुसमाश्रयात् जल के आश्रय से भुक्तं अन्नं वहतः खाये हुए अन्न को ले जाती हैं। द्वे द्वे दो-दो (धमनियाँ) तोयं जल, मूत्रं मूत्र, बलं वीर्य को (तथा) नारीणां तु स्त्रियों में तो इमे द्वे ये दो आर्तवं रज को (छोड़ती हैं)। द्वे स्त्रोतांसि दो (धमनियाँ) स्त्रोतों को विमुञ्चतः खोलती हैं। स्थूल-अन्त्र-अन्विते बड़ी आँतों से अन्वित (जुड़ी हुई) द्वे दो (धमनियाँ) शकृत् मल (ले जाती हैं)। अष्टौ आठ (धमनियाँ) स्वेदं समर्पयन्ति पसीने को समर्पित करती (अर्थात् बाहर निकालती) हैं।

(सर०) जल के आश्रय से ले जाने का आशय यह है कि भोजन को तरल बनाकर ले जाती हैं।

तिरश्च्यो बहुधा मताः॥ ११२॥

रोमकूपेषु सन्त्यासां मुखानि स्वेदमुक्तये।
प्रवेशयन्ति चाभ्यङ्गलेपादिप्रभवान्रसान्॥ ११३॥

११२ घ-११३. (अ०) (जो) बहुधा तिरश्च्यः मताः बहुधा तिरछी (आड़ी) मानी गई हैं (ऐसी) आसां मुखानि इनके मुँह स्वेदमुक्तये पसीना निकालने के लिये रोमकूपेषु सन्ति रोमकूपों (रोमों के छिद्रों) में होते हैं च और (ये) अभ्यङ्ग-लेप-आदि प्रभवान् रसान् तेल, लेप आदि से उत्पन्न होने वाले रसों को प्रवेशयन्ति प्रविष्ट कराती (भीतर ले जाती) हैं।

प्रत्यङ्गेषु मर्मस्थानानि

जीवस्थानानि मर्माणि शतं सप्तोत्तरं विदुः।

प्रत्यंग ९—मर्मस्थान

११४ क-ख. (अ०) जीवस्थानानि मर्माणि जीव के मर्मस्थान (प्राण के स्थान) शतं सप्त-उत्तरं सौ के ऊपर सात (१०७) विदुः जाने जाते हैं।

(सर०) मर्मस्थान की धारणा आयुर्वेद की विशिष्ट देन है जो आधुनिक शरीररचना विज्ञान में नहीं है। ये शरीर के ऐसे स्थान हैं जिन पर तीव्र आघात होने से शरीर का पात और फलस्वरूप व्यक्ति की मृत्यु निश्चित होती है।

प्रत्यङ्गेषु रोम-श्मश्रु-केशाः

सार्धकोटित्रयं रोम्णां श्मश्रुकेशास्त्रिलक्षकाः॥ ११४॥

स्त्रोतः सिराश्मश्रुकेशैः सह रोम्णां तु कोटयः।
चतुःपञ्चाशदाख्याताः, सप्तषष्ट्या च सार्धया॥ ११५॥

लक्षाणां संहितामानं,

प्रत्यंग १०—रोम, दाढ़ी-मूँछ, बाल

११४ ग-११६ क. (अ०) रोम्णां रोम सार्धकोटित्रयं साढ़े तीन करोड़, श्मश्रु-केशाः त्रिलक्षकाः दाढ़ी-मूँछ (और सिर के) बाल तीन लाख (होते हैं)। स्त्रोतः सिराः श्मश्रुकेशैः सह स्रोत, सिरा, दाढ़ी-मूँछ, बालों सहित रोम्णां तु रोमों की तो संहितामानं (ये सब) मिलाकर संख्या चतुःपञ्चाशत् कोटयः ५४ करोड़ सप्तषष्ट्या सार्धया च लक्षाणां साढ़े सड़सठ लाख (५४,६७,५०,०००) (होती है)।

प्रत्यङ्गेषु द्रवमानम्

जलादेरधुनोच्यते।
दशाञ्जलिजलं ज्ञेयं रसस्याञ्जलयो नव॥ ११६॥

रक्तस्याष्टौ पुरीषस्य सप्त स्युः श्लेष्मणस्तु षट्।
पित्तस्य पञ्च चत्वारो मूत्रस्याञ्जलयस्त्रयः॥ ११७॥
वसाया मेदसो द्वौ तु मज्ज एकोऽञ्जलिर्मतः।
अर्धाञ्जलिः शिरोमज्जा श्लेष्मसारो बलं तथा॥ ११८॥

इति प्रत्यङ्गसंक्षेपो विस्तरस्त्विह तत्त्वतः।
अस्मद्विरचितेऽध्यात्मविवेके वीक्ष्यतां बुधैः॥ ११९॥

प्रत्यंग ११—द्रवों की मात्रा

११६ ख-११९. (अ०) जलादेः जल आदि की (मात्रा) अधुना उच्यते अब कही जाती है। जलं जल दश-अञ्जलिः ज्ञेयः दस अंजलि जाना गया (है), रसस्य रस की नव अञ्जलयः नौ अंजलियाँ, रक्तस्य अष्टौ रक्त की आठ, पुरीषस्य सप्त स्युः मल की सात (अंजलियाँ) होती हैं। श्लेष्मणः तु षट् श्लेष्म की तो ६, पित्तस्य पञ्च पित्त की पाँच, मूत्रस्य चत्वारः मूत्र की चार, वसायाः त्रयः अञ्जलयः वसा (चर्बी में रहने वाली चिकनाई) की तीन अंजलियाँ, मेदसः तु द्वौ चर्बी की तो दो, मज्ज्ञः मज्जा की एकः अञ्जलिः मतः एक अंजलि मानी गई (है)। शिरः मज्जा सिर की मज्जा श्लेष्मसारं तथा बलं श्लेष्म

का सार और वीर्य अर्ध-अञ्जलिः आधी (आधी) अंजलि (माने गये हैं)। इति प्रत्यङ्गसंक्षेपः यह प्रत्यंग-संक्षेप (प्रत्यंगों का संक्षिप्त निरूपण) (हुआ)। बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा (अर्थात् बुद्धिमानों को) इह इसका तत्त्वतः विस्तरः तु तात्त्विक विस्तार तो अस्मत् विरचिते हमारे द्वारा विशेष रूप से रचित अध्यात्मविवेके 'अध्यात्मविवेक' (नामक ग्रंथ) में वीक्ष्यतां देखना चाहिये।

(सर०) ग्रंथकार पहले कह चुके हैं (१/१/१३) कि उन्होंने रोगियों को औषधि देकर रोगमुक्त किया था अर्थात् वे वैद्य भी थे। प्रस्तुत श्लोक से यह प्रकट होता है कि वे न केवल वैद्य थे बल्कि उन्होंने आयुर्वेद के अनुसार 'अध्यात्मविवेक' नामक ग्रंथ की रचना भी की थी। यह ग्रंथ अब प्राप्त नहीं है।

हठयोगानुसारि चक्र-ब्रह्मग्रन्थि-सुषुम्णा-नाडीनिरूपणम्

१. आधारचक्रम्

गुदलिङ्गान्तरे चक्रमाधाराख्यं चतुर्दलम्।
परमः सहजस्तद्वदानन्दो वीरपूर्वकः॥ १२०॥

योगानन्दश्च तत्र स्यादैशानादिदले फलम्।

हृदयोग के अनुसार चक्र-ब्रह्मग्रन्थि-सुषुम्णा-नाडीनिरूपण

१-आधार चक्र

१२०-१२१ ख. (अ०) गुदलिङ्ग-अन्तरे गुदा और लिंग के बीच में आधार-आख्यं आधार नाम का चतुर्दलं चक्रं चार दल (पंखुड़ियों) वाला चक्र (है)। तत्र उसमें ऐशान-आदि दले ईशान (तथा आग्नेय, नैर्ऋत और वायव्य) आदि (दिशाओं में स्थित) दल में परमः सहजः 'परम', 'सहज' तद्वत् (और) उसी प्रकार वीरपूर्वकः आनन्दः 'वीर' जिसके पहले है ऐसा आनन्द (अर्थात् परमानन्द, सहजानन्द, वीरानन्द) योगानन्दः च और योगानन्द फलं स्यात् फल होता है।

(सर०) श्लोक १२० से १३९ तक ग्रन्थकार ने हठयोग में वर्णित चक्रों का निरूपण किया है। यह उल्लेखनीय है कि योग के विभिन्न ग्रन्थों में चक्रों की संख्या अलग है, जैसे—षट्चक्र, अष्टचक्र, नवचक्र, दशचक्र, द्वादशचक्र, षोडशचक्र। यहाँ दस चक्रों का निरूपण हुआ है।

चक्रों को 'पंकज' भी कहा गया है और इनका आकार खिले हुए कमल जैसा बताया गया है। इनमें 'दल' यानी पंखुड़ियों की संख्या अलग-अलग है। यहाँ ग्रंथकार ने विभिन्न दलों में विभिन्न भावों, शक्तियों, प्रभावों और विभिन्न कलाओं की स्थिति दिखा कर यह स्पष्ट किया है कि जन्म के समय जिस चक्र के जिस विशेष दल में जीव स्थित होता है जन्म के बाद उस दल का फल विशेष उसे प्राप्त होता है। इसका आशय यह है कि दलविशेष में स्थिति के कारण जीव को वह फल अनायास या अल्प आयास से प्राप्त हो जाता है। लेकिन योग्य गुरु के मार्गदर्शन में योग की विधि के अनुसार चक्रों पर एकाग्रता करने से भी विशेष फलों की प्राप्ति होती है। इसीलिये ग्रन्थों में योगसाधना का मार्ग बताया गया है। सिंह० ने भी विशुद्धिचक्र संबंधी श्लोकों की टीका में 'चिन्तनीयानि' शब्द का प्रयोग करके इस ओर संकेत किया है।

अस्ति कुण्डलिनी ब्रह्मशक्तिराधारपङ्कजे॥ १२१॥

आब्रह्मरन्ध्रमृजुतां नीतेयममृतप्रदा।

१२१ ग-१२२ ख. (अ०) आधारपङ्कजे आधार कमल (चक्र) में कुण्डलिनी कुण्डलिनी (नामक) ब्रह्मशक्तिः अस्ति ब्रह्मशक्ति है। (जब) इयं यह आब्रह्मरन्ध्रं ब्रह्मरन्ध्र तक ऋजुतां नीता ऋजु (सीधी) ले जाई जाती है (तब) अमृतप्रदा अमृत देने वाली (होती है)।

(सर०) सबसे पहले आधार-चक्र का निरूपण किया है जो गुदा और लिंग के बीच में होता है। इसी में कुण्डलिनी रहती है। यह ब्रह्म की वह शक्ति है जो 'अविद्या' कही गई है जिसके द्वारा उपहित होने पर ब्रह्म अर्थात् परमात्मा कर्तृत्वादि उपाधि ग्रहण करता है। यह सर्पिणी की तरह कुटिल आकार वाली है इसीलिये 'कुण्डलिनी' कही गई है। गुरु के द्वारा बताये गये मार्ग की साधना करने पर अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियों में वायु का संचार रोकने पर, सुषुम्णा के मूलरन्ध्र को ढक कर बैठी हुई कुंडलिनी मूलरन्ध्र को अपने फन से छेद कर सुषुम्णा में प्रवेश करके क्रम से ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रंथियों को भेद कर अपनी कुटिलता छोड़ कर सीधी हो जाती है। तब वह सुधाधर नामक सहस्रदल कमल को भेद कर अमृत को द्रवित कर देती है।

२. स्वाधिष्ठानचक्रम्

स्वाधिष्ठानं लिङ्गमूले षट्पत्रं चक्रमस्य च॥ १२२॥

पूर्वादिषु दलेष्वाहुः फलान्येतान्यनुक्रमात्।
प्रश्रयः क्रूरता गर्वनाशो मूर्च्छा ततः परम्॥ १२३॥

अवज्ञा स्यादविश्वासः कामशक्तेरिदं गृहम्।

२. स्वाधिष्ठानचक्र

१२२ ग-१२४ ख. (अ०) (आधार चक्र से ऊपर) लिङ्गमूले लिंग के मूल में स्वाधिष्ठानं स्वाधिष्ठान (नामक) षट्पत्रं चक्रं ६ पंखुड़ियों वाला चक्र (है)। अस्य च और इसके पूर्व-आदिषु दलेषु पूर्व आदि (दिशाओं में स्थित) दलों में अनुक्रमात् अनुक्रम से एतानि फलानि आहुः ये फल कहे गये हैं—प्रश्रयः विनय, क्रूरता क्रूरता, गर्वनाशः गर्वनाश, मूर्च्छा मूर्च्छा ततः परं इसके बाद अवज्ञा अविश्वासः स्यात् अवज्ञा (और) अविश्वास होता है। इदं यह (चक्र) कामशक्तेः काम (उत्पन्न करने वाली) शक्ति का गृहं घर (है)।

३. मणिपूरचक्रम्

नाभौ दशदलं चक्रं मणिपूरकसंज्ञितम्॥ १२४॥

सुषुप्तिरत्र तृष्णा स्यादीर्ष्या पिशुनता तथा।
लज्जा भयं घृणा मोहः कषायोऽथ विषादिता॥ १२५॥

क्रमात्पूर्वादिपत्रे तु स्याद्भानुभवनं च तत्।

३. मणिपूर चक्र

१२४ ग-१२६ ख. (अ०) नाभौ नाभि में मणिपूरकसंज्ञितं मणिपूर संज्ञा वाला दशदलं चक्रं दस दल (वाला) चक्र (है)। अत्र इसमें क्रमात् क्रम से पूर्व-आदि पत्रे तु पूर्व आदि (दिशाओं में स्थित) पत्रों में तो सुषुप्तिः सुषुप्ति, तृष्णा तृष्णा, ईर्ष्या ईर्ष्या तथा पिशुनता और परनिन्दा, लज्जा भयं घृणा मोहः कषायः लज्जा, भय, घृणा, मोह, अपवित्र विचार अथ विषादिता (और) इसके बाद विषाद स्यात् (फल) होता है। तत् च और वह (चक्र) भानुभवनं सूर्य (नामक प्राण यानी वायु) का स्थान (है)।

४. अनाहतचक्रम्

हृदयेऽनाहतं चक्रं शिवस्य प्रणवाकृतेः॥ १२६॥

पूजास्थानं तदिच्छन्ति दलैर्द्वादशभिर्युतम्।
लौल्यप्रणाशः प्रकटो वितर्कोऽप्यनुतापिता॥ १२७॥

आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा समता ततः।
क्रमेण दम्भो वैकल्यं विवेकोऽहंकृतिस्तथा॥ १२८॥

फलान्येतानि पूर्वादिदलस्थस्यात्मनो जगुः।

४-अनाहत चक्र

१२६ ग-१२९ ख. (अ०) हृदये हृदय में (स्थित) द्वादशभिः दलैः युतं बारह दलों से युक्त अनाहतं चक्रं अनाहत (नामक) चक्र (है)। तत् वह शिवस्य शिव की प्रणव-आकृतेः प्रणव (ॐ) आकृति का (के) पूजास्थानम् इच्छन्ति पूजास्थान (पूजास्थान के रूप में) (विद्वान्) इच्छा करते हैं (अर्थात् माना जाता है)। लौल्यप्रणाशः चंचलता का नाश, प्रकटः वितर्कः स्पष्ट वितर्क अनुतापिता अपि और पश्चात्ताप, आशा प्रकाशः आशा, प्रकाश, चिन्ता समीहा च चिन्ता और समीहा (अनिष्ट निवारण की इच्छा), समता समता ततः(और) तब दम्भः वैकल्यं दंभ, अस्थिरता, विवेकः तथा अहंकृतिः विवेक और अहंकार—पूर्वादि दलस्थस्य आत्मनः पूर्व आदि (दिशाओं की ओर के) दल में स्थित आत्मा के क्रमेण क्रम से एतानि फलानि जगुः ये फल कहे गये (हैं)।

५. विशुद्धिचक्रम्

कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धिः षोडशच्छदम्॥ १२९॥

तत्र प्रणव उद्गीथो हुंफड् वषडथ स्वधा।
स्वाहा नमोऽमृतं सप्त स्वराः षड्जादयो विषम्॥ १३०॥

इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश।

५-विशुद्धि चक्र

१२९ ग-१३१ ख. (अ०) कण्ठे कंठ में षोडशच्छदं सोलह दल वाला विशुद्धिः विशुद्धि (नामक चक्र) भारतीस्थानं अस्ति सरस्वती का स्थान है। तत्र उसमें प्रणवः ओंकार, उद्गीथः उद्गीथ (साम का द्वितीय भाग), हुफट् वषट् हुंफट् वषट् अथ और स्वधा स्वाहा नमः स्वधा, स्वाहा, नमः (देवता, पिता आदि के उद्देश से दी जाने वाली ५ आहुतियाँ), अमृतं अमृत, षड्ज-आदयः सप्त स्वराः षड्ज आदि सात स्वर, विषं विष—इति ये पूर्व-आदिपत्रस्थे पूर्व आदि पत्रों में स्थित षोडश फलानि सोलह फल आत्मनि आत्मा में (होते हैं)।

६. ललनाचक्रम्

ललनाऽऽख्यं घण्टिकायां चक्रं द्वादशपत्रकम्॥ १३१॥

मदो मानस्ततः स्नेहः शोकः खेदश्चलुब्धता।
अरतिः संभ्रमश्चोर्मिः श्रद्धातोषोपरोधिता॥ १३२॥

फलानि ललनाचक्रे स्युः पूर्वादिदलेष्विति।

६-ललना चक्र

१३१ ग-१३३ ख. (अ०) घण्टिकायां कौड़ी में द्वादशपत्रकं बारह पत्र वाला ललना-आख्यं चक्रं ललना नामक चक्र (है)। मदः मानः मद, मान, ततः स्नेहः शोकः तब स्नेह, शोक खेदः च लुब्धता खेद और लोभ, अरतिः संभ्रमः च अरति (असंतोष) और संभ्रम, ऊर्मिः श्रद्धा-तोष-उपरोधिताः ऊर्मि, श्रद्धा, संतोष (और) अनुकूलता ललनाचक्रे ललना चक्र में पूर्व-आदि दलेषु पूर्व आदि (दिशाओं में स्थित) दलों में इति फलानि स्युः ये फल होते हैं।

७. आज्ञाचक्रम्

भ्रूमध्ये त्रिदलं चक्रमाज्ञासंज्ञं फलानि तु॥ १३३॥

आविर्भावाः सत्त्वरजस्तमसां क्रमतो मताः।

७-आज्ञा चक्र

१३३ ग-१३४ ख. (अ०) भ्रूमध्ये भौंहों के बीच में आज्ञासंज्ञं आज्ञा नामक त्रिदलं चक्रं तीन दल वाला चक्र (है)। (उनके) फलानि तु फल तो क्रमतः क्रम से सत्त्व-रजस्-तमसां सत्त्व, रजस्, तमस् का आविर्भावाः मताः आविर्भाव माने गये (हैं)

८. मनश्चक्रम्

ततोऽप्यस्ति मनश्चक्रं षड्दलं फलानि तु॥ १३४॥

स्वप्नो रसोपभोगश्च घ्राणं रूपोपलम्भनम्।
स्पर्शनं शब्दबोधश्च पूर्वादिषु दलेष्विति॥ १३५॥

८-मनस् चक्र

१३४ ग-१३५. (अ०) ततः अपि इसके बाद षट्दलं ६ दल वाला मनः चक्रं अस्ति मन (नामक) चक्र है। तत् फलानि तु उसके फल तो पूर्व-आदिषु दलेषु पूर्व आदि (दिशाओं के) दलों में स्वप्नः रस-उपभोगः च स्वप्न और अन्नरस का उपभोग, घ्राणं गन्ध का ज्ञान, रूप-उपलम्भनं दर्शन, स्पर्शनं शब्दबोधः च स्पर्श और सुनाई देना इति ये (होते हैं)।

९. सोमचक्रम्

ततोऽपि षोडशदलं सोमचक्रमितीरितम्।
दलेषु षोडशस्वस्य कलाः षोडश संस्थिताः॥ १३६॥

कृपा क्षमाऽऽर्जवं धैर्यं वैराग्यं धृतिसंमदौ।
हास्यं रोमाञ्चनिचयो ध्यानाश्रु स्थिरता ततः॥ १३७॥

गाम्भीर्यमुद्यमोऽच्छत्वमौदार्यैकाग्रते क्रमात्।
फलान्युद्यन्ति जीवस्य पूर्वादिदलगामिनः॥ १३८॥

९-सोमचक्र

१३६-१३८. (अ०) **ततः अपि** इससे ऊपर **षोडशदलं** सोलह दल वाला **सोमचक्रं** सोमचक्र **इति ईरितं** यों (अर्थात् इस नाम से) कहा गया (है)। **अस्य षोडशसु दलेषु** इसके सोलह दलों में **षोडश कलाः संस्थिताः** (चन्द्रमा की) १६ कलाएँ स्थित (हैं)। **कृपा, क्षमा, आर्जवं** कृपा, क्षमा, ऋजुता (बुद्धि का सरल होना), **धैर्यं वैराग्यं** धैर्य, वैराग्य, **धृति-समंदौ** धैर्य, हर्ष, **हास्यं रोमाञ्चनिचयः** हास्य, रोमांचसमूह, **ध्यानाश्रु स्थिरता** ध्यानाश्रु, स्थिरता, **ततः गाम्भीर्यम् उद्यमः** तब गंभीरता, उद्यम, **अच्छत्वम् औदार्य-एकाग्रते** निर्मलता, उदारता, एकाग्रता, **क्रमात्** (के) क्रम से **पूर्व-आदिदलगामिनः** पूर्व आदि दल में जाने वाले **जीवस्य** जीव के **फलानि उद्यन्ति** फल उत्पन्न होते हैं।

१०. सुधाधरचक्रम्

चक्रं सहस्त्रपत्रं तु ब्रह्मरन्ध्रे सुधाधरम्।
तत्सुधासारधाराभिरभिवर्धयते तनुम्॥ १३९॥

१०-सुधाधर चक्र

१३९. (अ०) **सहस्त्रपत्रं** सहस्त्र (एक हजार) पत्र वाला **सुधाधर चक्रं तु** सुधाधर (नामक) चक्र तो **ब्रह्मरन्ध्रे** ब्रह्मरन्ध्र में (होता है)। **तत्** वह **सुधासार-धाराभिः** अमृत की धाराओं से **तनुम् अभिवर्धयते** शरीर को बढ़ाता है।

(सर०) श्लोक के द्वितीयार्ध में अनुप्रास का मनोहर प्रयोग हुआ है।

चक्राणां फलानि

अनाहतदले पूर्वेऽष्टमे चैकादशे तथा।
द्वादशे च स्थितो जीवो गीतादेः सिद्धिमृच्छति॥ १४०॥

चतुर्थषष्ठदशमैर्दलैर्गीतादि नश्यति।

चक्रों के फल

१४०-१४१ ख. (अ०) **अनाहत** अनाहत (चक्र के) **पूर्वे** पूर्व (दिशास्थित अर्थात् पहले), **अष्टमे च** और आठवें में **एकादशे तथा** और ग्यारहवें में **द्वादशे च** और बारहवें **दले स्थितः जीवः** दल में स्थित जीव **गीत-आदेः** गीत आदि की **सिद्धिम् ऋच्छति** सिद्धि प्राप्त करता है अथवा अभिलाषा करता है। (इसी चक्र के) **चतुर्थ-षष्ठ-दशमैः दलैः** चौथे, छठे (और) दसवें दलों से **गीत-आदि नश्यति** गीत आदि नष्ट होते हैं।

(सर०) दस चक्रों का निरूपण करने के बाद यहाँ से ग्रन्थकार यह बता रहे हैं कि किन-किन चक्रों के कौन-कौन से दलों में जीव के स्थित होने पर संगीत की सिद्धि अथवा नाश होता है या संगीत के प्रति आकर्षण अथवा उदासीन भाव रहता है।

सिंह० ने 'ऋच्छति' शब्द के दो अर्थ दिये हैं—सिद्धि प्राप्त करता है अथवा उनकी अभिलाषा करता है। 'सिद्धि' प्राप्त करने का अर्थ यह है कि संगीतज्ञ बनता है और 'अभिलाषा करने' में यह संकेत है कि संगीत के श्रवण-दर्शन की आकांक्षा रखता है। कुछ व्यक्ति संगीत में क्रियाकुशल अर्थात् प्रयोगकर्ता होते हैं लेकिन कुछ स्वयं संगीतज्ञ न होते हुए भी संगीत के मर्मज्ञ श्रोता-दर्शक होते हैं। 'ऋच्छति' के दो अर्थों में इन्हीं दो पक्षों की ओर संकेत है।

विशुद्धेरष्टमादीनि दलान्यष्टौ श्रितानि तु॥ १४१॥

दद्युर्गीतादिसंसिद्धिं षोडशं तद्विनाशकम्।

१४१ ग-१४२ ख. (अ०) **विशुद्धेः** विशुद्धि (चक्र) के **अष्टम-आदीनि** आठवें (दल) से आरंभ करके **अष्टौ दलानि श्रितानि तु** आठ दलों (पन्द्रहवें तक) के (जीव के) आश्रित होने पर तो **गीतादि-संसिद्धिं दद्युः** गीतादि की संसिद्धि देते हैं। **षोडशं** सोलहवाँ **तत् विनाशकं** उस (संसिद्धि) का विनाशक (है)।

दशमैकादशे पत्रे ललनायां तु सिद्धिदे॥ १४२॥

नाशकं प्रथमं तुर्यं पञ्चमं च दलं विदुः।
ब्रह्मरन्ध्रस्थितो जीवः सुधया संप्लुतो यथा॥ १४३॥

तुष्टो गीतादिकार्याणि सप्रकर्षाणि साधयेत्।

१४२ ग-१४४ ख. (अ०) **ललनायां तु** ललना (चक्र) के तो **दशम-एकादशे पत्रे** दसवें (और) ग्यारहवें पत्र में (जीव के स्थित होने पर) **सिद्धिदे** (गीतादि की) सिद्धि देने वाले (हैं)। **प्रथमं तुर्यं पञ्चमं च दलं** पहले, चौथे और पाँचवें दल को **नाशकं विदुः** (गीतादि का) नाशक जानते हैं। **ब्रह्मरन्ध्रस्थितः जीवः** ब्रह्मरन्ध्र (सुधाधर चक्र) में स्थित जीव **सुधया संप्लुतः यथा** अमृत से आप्लावित हुए के समान **तुष्टः** संतुष्ट (होकर) **गीतादिकार्याणि** गीतादि कार्यों को **सप्रकर्षाणि साधयेत्** प्रकर्षसहित साधे (अर्थात् साधता है)।

एषां शेषेषु पत्रेषु चक्रेष्वन्येषु च स्थितः॥ १४४॥

जीवो गीतादिसंसिद्धिं न कदाचिदवाप्नुयात्।

१४४ ग-१४५ ख. (अ०) **एषां** इन (ऊपर कहे गये) से **शेषेषु** बचे हुए (यानी इनके अलावा) **चक्रेषु पत्रेषु च स्थितः** चक्रों और पत्रों में स्थित **जीवः** जीव **गीतादिसंसिद्धिं** गीतादि की संसिद्धि को **कदाचित् न अवाप्नुयात्** कभी प्राप्त न करे (अर्थात् प्राप्त नहीं करता)।

ब्रह्मग्रन्थिः

आधाराद् द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेहनाद् द्व्यङ्गुलादधः॥ १४५॥
एकाङ्गुलं देहमध्यं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
तत्रास्तेऽग्निशिखा तन्वी,

ब्रह्मग्रन्थि

१४५ ग-१४६ ग. (अ०) **आधारात्** आधार (चक्र) से **द्व्यङ्गुलात् ऊर्ध्वं,** दो अंगुल से ऊपर **मेहनात्** मेहन (लिंग) से **द्व्यङ्गुलात् अधः** दो अंगुल से नीचे **एक-अङ्गुलं** एक अंगुल (प्रमाण का) **तप्त-जाम्बूनद-प्रभं** तपे हुए सोने की प्रभा वाला **देहमध्यं** देह का मध्य (स्थान) है। **तत्र** वहाँ **तन्वी** पतली **अग्निशिखा आस्ते** अग्निशिखा रहती है।

चक्रात्तस्मान्नवाङ्गुले॥ १४६॥

देहस्य कन्दोऽस्त्युत्सेधायामाभ्यां चतुरङ्गुलः।
ब्रह्मग्रन्थिरिति प्रोक्तं तस्य नाम पुरातनैः॥ १४७॥

१४६ घ-१४७. (अ०) तस्मात् चक्रात् उस (आधार) चक्र से (अर्थात् 'देहमध्य' से) **नव-अङ्गुले** नौ अंगुल (प्रमाण) पर **देहस्य कन्दः अस्ति** शरीर का कंद (विस्तार का कारण) है (जो) **उत्सेध-आयामाभ्यां** लम्बाई चौड़ाई में **चतुः अङ्गुलः** चार अंगुल (है)। **पुरातनैः** प्राचीन विद्वानों के द्वारा **तस्य नाम** उसका नाम **ब्रह्मग्रन्थिः इति प्रोक्तं** ब्रह्मग्रन्थि—यों कहा गया (है)।

तन्मध्ये नाभिचक्रं तु द्वादशारमवस्थितम्।
लूतेव तन्तुजालस्था तत्र जीवो भ्रमत्ययम्॥ १४८॥

१४८. (अ०) द्वादश-आरं बारह आरों वाला **नाभिचक्रं तु** नाभिचक्र तो **तत् मध्ये अवस्थितं** उसके बीच में अवस्थित (है)। **तन्तुजालस्था** जाल में स्थित **लूता इव** मकड़ी के समान **अयं जीवः** यह जीव **तत्र** वहाँ **भ्रमति** घूमता (रहता) है।

सुषुम्णया ब्रह्मरन्ध्रमारोहत्यवरोहति।
जीवः प्राण समारूढो रज्ज्वां कोह्लाटिको यथा॥ १४९॥

१४९. (अ०) प्राण-समारूढः जीवः प्राण (वायु) पर चढ़ा हुआ जीव **सुषुम्णया ब्रह्मरन्ध्रं** सुषुम्णा के द्वारा (अर्थात् ब्रह्मग्रन्थि से) ब्रह्मरन्ध्र तक (उसी तरह) **आरोहति अवरोहति** चढ़ता उतरता (रहता) है **यथा** जैसे **रज्ज्वां** रस्सी पर (चढ़ा हुआ) **कोह्लाटिकः** बाजीगर।

नाड्यः

सुषुम्णां परितः नाड्यः कन्दादाब्रह्मरन्ध्रतः।
कंदीकृत्य स्थिताः कंदं शाखाभिस्तन्वते तनुम्॥ १५०॥

नाड़ियाँ

१५०. (अ०) सुषुम्णां परितः सुषुम्णा को घेर कर **कन्दात्-आब्रह्मरन्ध्रतः** कंद (ब्रह्मग्रन्थि) से ब्रह्मरन्ध्र तक **नाड्यः** नाड़ियाँ (स्थित हैं)। **शाखाभिः** (अपनी) शाखाओं से कंद ब्रह्मग्रन्थि को **क्रोडीकृत्य*** व्याप्त करके (अथवा) **कन्दीकृत्य** ठोस बनाए हुए **स्थिताः** स्थित (वे नाड़ियाँ) **तनुं तन्वते** शरीर का विस्तार करती हैं।

ताश्च भूरितरास्तासु मुख्याः प्रोक्ताश्चतुर्दश।
सुषुम्णेडा पिङ्गला च कुहूरथ सरस्वती॥ १५१॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च वारुणी च यशस्विनी।
विश्वोदरा शंखिनी च ततः पूषा पयस्विनी॥ १५२॥

अलम्बुसेति तत्राद्यास्तिस्त्रो मुख्यतमा मताः।
सुषुम्णा तिसृषु श्रेष्ठा वैष्णवी मुक्तिमार्गगा॥ १५३॥

कन्दमध्ये स्थिता,

१५१-१५४ क. (अ०) ताः च और वे **भूरितराः** बहुत (हैं)। **तासु** उनमें से **चतुर्दश मुख्याः प्रोक्ताः** चौदह मुख्य कही गई (हैं)। **सुषुम्णा-इडा-पिङ्गला च** सुषुम्णा, इडा और पिंगला **कुहूः अथ सरस्वती** कुहू तब सरस्वती, **गान्धारी**

---

* सिंह० ने 'क्रोडीकृत्य' और कल्लि० ने 'कन्दीकृत्य' पाठ रखा है इसलिये दोनों के अनुसार यहाँ अर्थ दिया है।

हस्तिजिह्वा च गांधारी और हस्तिजिह्वा, **वारुणी च यशस्विनी** वारुणी और यशस्विनी, **विश्वोदरा शङ्खिनी च** विश्वोदरा और शंखिनी, **ततः पूषा पयस्विनी** तब पूषा (और) पयस्विनी, **अलम्बुसा इति** अलम्बुसा—ये (चौदह नाड़ियाँ हैं)। **तत्र** उनमें से **आद्याः तिस्रः** आरंभ की तीन (सुषुम्णा, इडा, पिंगला) **मुख्यतमाः मताः** मुख्यतम मानी गई (हैं)। **तिसृषु** (इन) तीनों में **सुषुम्णा श्रेष्ठा** सुषुम्णा श्रेष्ठ, **वैष्णवी** वैष्णवी (विष्णु देवता वाली) **मुक्तिमार्गगा** मुक्ति मार्ग को जाने वाली (है तथा) **कन्दमध्ये स्थिता** कंद (ब्रह्मग्रन्थि) के बीच में स्थित (है)।

तस्या इडा सव्येऽथ दक्षिणे।
पिङ्गलेडापिङ्गलयोश्चरतश्चन्द्रभास्करौ॥ १५४॥
क्रमात्कालगतेर्हेतू सुषुम्णा कालशोषिणी।

१५४ ख-१५५ ख. (अ०) तस्याः सव्ये इडा उसके बाईं ओर इडा **अथ दक्षिणे पिङ्गला** और दाहिनी ओर पिंगला (है)। **इडा-पिङ्गलयोः चरतः** इडा (और) पिंगला में चलने वाले **चन्द्र-भास्करौ** चन्द्र (और) सूर्य **क्रमात्** क्रम से **कालगतेः हेतू** काल की गति के कारण हैं। **सुषुम्णा कालशोषिणी** सुषुम्णा काल का शोषण करने वाली (मृत्यु को नष्ट करने वाली है)।

(सर०) 'कालगतेः हेतू' के अर्थ दोनों टीकाकारों ने कुछ भिन्न किये हैं। सिंह० के अनुसार इडा और पिंगला में रहने वाली चन्द्र और सूर्य नामक वायु काल की गति अर्थात् काल के ज्ञान का उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य होते हैं। कल्लि० ने 'काल' का अर्थ यह किया है—जीव की पिण्डावस्था के निमित्तरूप जो तपन (ऊर्जा) परिस्पन्द (स्पन्दन) क्षण हैं वही काल हैं और वही आयु है क्योंकि उनके रहने तक ही जीवन की सीमा है। उस काल की 'गति' यानी क्षय। सार यह है कि चन्द्र और सूर्य नामक वायु ही कालगति के कारण हैं। 'कालशोषिणी' का अर्थ है मृत्यु का प्रतिबन्धन करने वाली। सुषुम्णा मृत्यु को नष्ट करने वाली कही गई है।

सरस्वती कुहूश्चास्ते सुषुम्णायास्तु पार्श्वयोः॥ १५५॥

इडायाः पृष्ठपूर्वस्थे गान्धारीहस्तिजिह्विके।
क्रमात्पूषायशस्विन्यौ पिङ्गलापृष्ठपूर्वयोः॥ १५६॥

विश्वोदरा मध्यदेशे स्यात्कुहूहस्तिजिह्वयोः।
मध्ये कुहूयशस्विन्योर्वारुणी संस्थिता मता॥ १५७॥

१५५ ग-१५७. (अ०) सुषुम्णायाः पार्श्वयोः तु सुषुम्णा के दोनों ओर (क्रम से दाहिनी और बाईं ओर) तो **सरस्वती कुहूः च** सरस्वती और कुहू **आस्ते** रहती हैं। **इडायाः** इडा के **पृष्ठ-पूर्वस्थे** पीछे (और) आगे **गान्धारी-हस्तिजिह्विके** गांधारी (और) हस्तिजिह्वा (स्थित हैं)। **पिङ्गला-पृष्ठ-पूर्वयोः** पिंगला के पीछे (और) आगे **क्रमात्** क्रम से **पूषा-यशस्विन्यौ** पूषा (और) यशस्विनी (हैं)। **विश्वोदरा** विश्वोदरा **कुहू-हस्तिजिह्वयोः** कुहू (और) हस्तिजिह्वा के **मध्यदेशे स्यात्** बीच में होती है। **वारुणी** वारुणी **कुहू-यशस्विन्योः मध्ये** कुहू (और) यशस्विनी के बीच में **संस्थिता मता** संस्थित मानी गई (है)।

पूषासरस्वतीमध्यमधिशेते पयस्विनी।
गान्धारिकासरस्वत्योर्मध्ये वसति शङ्खिनी॥ १५८॥
अलम्बुसा कन्दमध्ये,

१५८-१५९ क. (अ०) पूषा-सरस्वतीमध्यं पूषा (और) सरस्वती के बीच में **पयस्विनी अधिशेते** पयस्विनी रहती है।

गान्धारिका-सरस्वत्योः मध्ये गांधारी (और) सरस्वती के बीच में शङ्खिनी वसति शंखिनी रहती है। अलम्बुसा अलम्बुसा कन्दमध्ये कंद के मध्य में (रहती है)।

तत्रेडापिङ्गले क्रमात्।
सव्यदक्षिणनासान्तं कुहूरामेहनं पुरः॥ १५९॥

सरस्वत्यूर्ध्वमाजिह्वं गान्धार्याः पृष्ठतः स्थिता।
आवामनेत्रमासव्यपादाङ्गुष्ठं तु संस्थिता॥ १६०॥

हस्तिजिह्वा सर्वगा तु वारुण्यथ यशस्विनी।
आऽङ्गुष्ठाद्दक्षिणाङ्घ्रिस्था देहे विश्वोदराऽखिले॥ १६१॥

१५९ ख-१६१. (अ०) तत्र उनमें से इडा-पिङ्गले इडा और पिंगला क्रमात् क्रम से सव्य-दक्षिण-नासा-अन्तं बाएँ और दाहिने नासारन्ध्र के अन्त तक (जाती हैं)। कुहूः आमेहनं पुरः कुहू सामने मेहन तक, सरस्वती ऊर्ध्वम् आजिह्वं सरस्वती ऊपर को जीभ तक, गान्धारी आपृष्ठतः स्थिता (और) गान्धारी पीठ तक स्थित (होती है)। आवाम-नेत्रं बाएँ नेत्र से आसव्य-पाद-अङ्गुष्ठं तु बाएँ पैर के अँगूठे तक तो हस्तिजिह्वा संस्थिता हस्तिजिह्वा संस्थित (है)। वारुणी तु वारुणी तो सर्वगा सब जगह (पूरे शरीर में) जाने वाली है। अथ यशस्विनी इसके बाद यशस्विनी आ-अङ्गुष्ठात् अँगूठे से (लेकर) दक्षिण-अङ्घ्रिस्था दाहिने पैर में स्थित (होती है)। विश्वोदरा विश्वोदरा अखिले देहे पूरे शरीर में (है)।

शङ्खिनी सव्यकर्णान्तं पूषा त्वायाम्यनेत्रतः।
पयस्विनी तु वितता दक्षिणश्रवणावधि॥ १६२॥
अलम्बुसा पायुमूलमवष्टभ्य व्यवस्थिता।

१६२-१६३ ख. (अ०) शङ्खिनी सव्यकर्ण-अन्तं शंखिनी बाएँ कान तक, पूषा तु पूषा तो आयाम्य नेत्रतः दाहिनी आँख तक, पयस्विनी तु पयस्विनी तो दक्षिण-श्रवण-अवधि दाहिने कान की अवधि तक वितता फैली है। अलम्बुसा अलम्बुसा पायुमूलम् अवष्टभ्य गुदा को जकड़ कर व्यवस्थिता व्यवस्थित (है)।

शरीरं भुक्तिमुक्तिसाधनम्

एवंविधे तु देहेऽस्मिन्मलसंचयसंवृते॥ १६३॥
प्रसाधयन्ति धीमन्तो भुक्तिं मुक्तिमुपायतः।

भुक्ति और मुक्ति का साधन शरीर

१६३ ग-१६४ ख. (अ०) मलसंचयसंवृते मलसंचय से भरे हुए एवंविधे तु इस प्रकार के तो अस्मिन् देहे इस शरीर में उपायतः उपाय से धीमन्तः बुद्धिमान् (लोग) भुक्तिं मुक्तिं भुक्ति और मुक्ति को प्रसाधयन्ति विशेष रूप से साधते हैं।

तत्र स्यात्सगुणाद्ध्यानाद्भुक्तिर्मुक्तिस्तु निर्गुणात्॥ १६४॥
ध्यानमेकाग्रचित्तैकसाध्यं न सुकरं नृणाम्।

१६४ ग-१६५ ख. (अ०) तत्र उनमें से भुक्तिः भुक्ति सगुणात् ध्यानात् स्यात् सगुण (के) ध्यान से होती है। मुक्तिः तु मुक्ति तो निर्गुणात् निर्गुण (के ध्यान) से (होती है)। एकाग्र-चित्त-एकसाध्यं चित्त की एकाग्रता से ही साध्य (होने के कारण) ध्यानं ध्यान नृणां मनुष्यों को (के लिये) न सुकरं सरल नहीं है।

तस्मादत्र सुखोपायं श्रीमन्नादमनाहतम्॥ १६५॥

गुरूपदिष्टमार्गेण मुनयः समुपासते।

१६५ ग-१६६ ख. (अ०) तस्मात् इसलिये अत्र यहाँ (भुक्ति और मुक्ति के साधन के लिये) गुरु-उपदिष्ट-मार्गेण गुरु के द्वारा उपदिष्ट (उपदेश दिये गये) मार्ग से मुनयः मुनिगण सुख-उपायं सरल उपाय श्रीमत् अनाहतं नादं श्रीमत् अनाहत नाद को (की) सम्-उपासते उपासना करते हैं।

सोऽपि रक्तिविहीनत्वान्न मनोरञ्जको नृणाम्॥ १६६॥

तस्मादाहतनादस्य श्रुत्यादिद्वारतोऽखिलम्।
गेयं वितन्वतो लोकरञ्जनं भवभञ्जनम्॥ १६७॥

उत्पत्तिमभिधास्यामस्तथा श्रुत्यादिहेतुताम्।

इति प्रथमे स्वरगताध्याये द्वितीयं पिण्डोत्पत्तिप्रकरणम्॥ २॥

१६६ ग-१६८ ख. (अ०) सः अपि वह (अनाहत नाद) भी रक्तिविहीनत्वात् रक्तिहीन होने से नृणां मनुष्यों को (के लिये) मनोरञ्जकः न मनोरंजक नहीं होता। तस्मात् इसलिये श्रुत्यादिद्वारतः श्रुति आदि के द्वारा लोकरञ्जनं भवभञ्जनं लोकरंजक और भवभंजक अखिलं गेयं वितन्वतः सम्पूर्ण गेय का विस्तार करने वाले आहतनादस्य आहत नाद की उत्पत्तिं उत्पत्ति तथा श्रुत्यादिहेतुतां श्रुति आदि की हेतुता को (हम) अभिधास्यामः कहेंगे।

(सर०) ईश्वर के सगुण रूप के ध्यान से भुक्ति और निर्गुण के ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है। किसी बिन्दु पर चित्त को एकाग्र करने से ही ध्यान होता है। लेकिन चित्त की ऐसी एकाग्रता सरल न होने से सामान्य जनों के लिये संभव नहीं है। नाद की साधना ध्यान की अपेक्षा सरल है इसलिये मुनियों ने अनाहत नाद की साधना का उपाय बताया। लेकिन आघातहीन, रंजकता से रहित और शरीर के भीतर ही सुना जाने के कारण सामान्य जन के द्वारा अनाहत नाद की साधना भी संभव नहीं। नाद का दूसरा रूप आहत नाद है जिसके द्वारा संगीत का पूरा विस्तार होता है। सामान्य जन के लिये भी रंजक होने के कारण संगीत सांसारिक भोग कराने में भी समर्थ है और संगीत के द्वारा सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि से मुक्ति भी प्राप्त होती है।

सुख-दुःखादि का भोग भी मानव देह में होता है और मोक्ष साधना भी तथा अनाहत और आहत नाद की साधना भी शरीर से ही होती है। इस प्रकार ग्रंथकार ने एक ओर तो संगीत-संबंधी ग्रंथ में पिण्डोत्पत्ति निरूपण की सार्थकता सिद्ध की है और दूसरी ओर संगीत के मूलतत्त्व—नाद—का अगले प्रकरण में निरूपण करने की भूमिका भी बाँधी है।

प्रथम स्वरगताध्याय में पिण्डोत्पत्ति नामक दूसरा प्रकरण समाप्त॥ २॥

अथ तृतीयं नादस्थानश्रुतिस्वरजातिकुलदैवतर्षिच्छन्दोरसप्रकरणम्

तीसरा नाद-स्थान-श्रुति-स्वर-जाति-कुल-देवता-ऋषि-छन्द-रस प्रकरण

नादोपासनप्रशंसा

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे॥ १॥

नादोपासना की प्रशंसा

१. (अ०) सर्वभूतानां चैतन्यं सब प्राणियों के चैतन्य, जगत्-आत्मना विवृत्तं जगत् रूप से विवृत्त (अन्य रूप में भासित होने वाले), आनन्दं आनन्दरूप, अद्वितीयं अद्वितीय, तत् उस नादब्रह्म नादरूपी ब्रह्म (की) उपास्महे हम उपासना करते हैं।

(सर०) नादोत्पत्ति का माध्यम जो शरीर है उसका निरूपण द्वितीय प्रकरण में करने के बाद इस प्रकरण में नाद और उससे संबंधित विषयों का निरूपण ग्रन्थकार करने वाले हैं। इसलिये ब्रह्म और नाद के गुणों में साधर्म्य के आधार पर ब्रह्म के मंगलाचरण के द्वारा नाद की उपासना से आरंभ कर रहे हैं।

ब्रह्म के चैतन्य, विवृत्तता, आनन्दरूपता, अद्वितीयता आदि धर्मों का नाद में आरोप करके सांगरूपक के द्वारा नाद को ही ब्रह्म का रूप दिया है। सांगरूपक रूपक अलंकार का एक भेद है जिसका लक्षण यह है—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।
समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा॥
श्रौता अर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति यत्।
साङ्गमेतत्,

(काव्य०, १०/९३-९४)

इसके अनुसार उपमान और उपमेय का अभेद होने पर रूपक अलंकार होता है। जब सारे अवयवों सहित रूपक हो तो वही सांगरूपक कहलाता है। यहाँ ब्रह्म के सभी धर्मों का नाद पर आरोप होने से सांगरूपक है।

'चैतन्य' का गुण स्फोट यानी सब पदार्थों को प्रकाशित करना है। ब्रह्म का यह गुण नाद में भी है क्योंकि जगत् में प्रकाश यानी जीवन का प्रतीक 'नाद' अथवा 'स्पन्दन' ही है।

जिस प्रकार जगत् में दिखाई देने वाले सभी जड़-चेतन पदार्थों में ब्रह्म विवर्तित होता है उसी प्रकार श्रुति, वर्ण आदि सारे ध्वनि प्रपंच में नाद ही भासित होता है इसलिये जगत् के अधिष्ठानत्व का भी नाद में आरोप होता है।

नाद आनन्द का कारण या अभिव्यंजक है। लेकिन जैसे कार्य का कारण में या अभिव्यंग्य का अभिव्यंजक में आरोप किया जाता है उसी प्रकार यहाँ आनन्द का नाद में आरोप किया गया है।

ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का कारण है और नाद भी स्वरसृष्टि का कारण है इसीलिये नाद भी ब्रह्म की तरह अद्वितीय है। अथवा जिसका द्वितीय और कोई नहीं है, यानी जिसके समान और कोई नहीं है इसलिये नाद तथा ब्रह्म अद्वितीय हैं।

पूरे श्लोक का भावार्थ यह है कि नाद परा वाक् का पर्याय और ब्रह्म की शक्ति है जो ब्रह्म के इतनी पास है जैसे मणि और मणि की प्रभा। इसलिये जैसे मणि की प्रभा से खिंच कर उसकी ओर जाने वाले को मणि की प्राप्ति सहज रूप से हो जाती है उसी तरह नाद की उपासना करने वाले को भी, नाद और ब्रह्म की अत्यधिक निकटता के कारण, ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः॥ २॥

२. (अ०) यस्मात् क्योंकि ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः ब्रह्मा, विष्णु, महेश—एते देवाः ये देवता तत्-आत्मकाः उस (नादब्रह्म) रूप (हैं, इसलिये) नूनं निःसंदेह नाद-उपासनया नाद की उपासना के द्वारा (वे) उपासिताः भवन्ति उपासित होते हैं।

(सर०) ब्रह्म जब जगत् के रूप में व्यक्त होता है तो उसकी नादरूपा शक्ति तीन रूपों में विभक्त होती है—सृष्टि (उत्पत्ति), स्थिति (पालन) और लय (संहार)। क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश इनके प्रतीक हैं। ब्रह्म और उसकी शक्ति नादरूप हैं इसलिये ये तीनों देवता भी नादरूप हैं, इसीलिये ये नाद के द्वारा उपासित होते हैं।

नादोत्पत्तिक्रमः

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ ३॥

ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयन्ति ध्वनिम्॥ ४॥

नाद की उत्पत्ति का क्रम

३-४. (अ०) विवक्षमाणः कहने की इच्छा रखता हुआ अयम् आत्मा यह आत्मा मनः प्रेरयते मन को प्रेरित करता है। मनः मन देहस्थं वह्निं देह में स्थित अग्नि पर आहन्ति आघात करता है। स वह (अग्नि) मारुतं वायु को प्रेरयति प्रेरित करता है। अथ अब ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सः ब्रह्मग्रंथि में स्थित वह (वायु) ऊर्ध्वपथे चरन् ऊपर की ओर चलता हुआ क्रमात् क्रम से नाभि-हृत्-कण्ठ-मूर्धा-आस्येषु नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा (और) मुख में ध्वनिं ध्वनि को (का) आविर्भावयति आविर्भाव करता है।

(सर०) दूसरे प्रकरण के अन्त में ग्रंथकार यह कह चुके हैं कि अब (यानी अगले प्रकरण में) आहत नाद का निरूपण किया जाएगा। तदनुसार यहाँ से आहत नाद का, विशेषतः संगीत का, निरूपण आरंभ कर रहे हैं।

सिंह० ने मतंग को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्मग्रन्थि अर्थात् नाभि से उठ कर पवन का संचार ऊपर और नीचे दोनों ओर हो सकता है और इस प्रकार दोनों ओर नाद की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु नीचे की ओर अनाहत नाद उत्पन्न होता है। वायु की गति ऊपर की ओर होने पर ही आहत नाद उत्पन्न होता है जो गान में विशेष रूप से उपयोगी है, इसीलिये ग्रंथकार ने 'ऊर्ध्वपथे चरन्' कहा है। मतंग का नाम न लेते हुए भी सिंह० ने जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें अन्तिम चरण में 'मूर्धनि तूद्धताम्' के स्थान पर बृह० के मूल पाठ 'नादपद्धतिमुद्धताम्' का ग्रहण करने पर सिंह० की उपर्युक्त व्याख्या की पुष्टि होती है।

नादस्य पञ्चविधत्वम्

नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।
इति पञ्चभिधा धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात्॥ ५॥

नाद की पंचविधता

५. (अ०) **क्रमात्** क्रम से (इन) **पञ्चस्थानस्थितः** पाँच स्थानों में स्थित **नादः** नाद **अतिसूक्ष्मः सूक्ष्मः च** अतिसूक्ष्म और सूक्ष्म, **पुष्टः अपुष्टः च** पुष्ट और अपुष्ट (तथा) **कृत्रिमः** कृत्रिम **इति** इस प्रकार **पञ्च-अभिधा** पाँच संज्ञाएँ **धत्ते** धारण करता है।

(सर०) इस श्लोक के संदर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो नाद के पाँच भेदों का क्रम और दूसरे इनकी संज्ञाएँ। सं० र० में अतिसूक्ष्म के बाद सूक्ष्म रखा गया है जो क्रमशः नाभि और हृदय में व्यक्त होते हैं। दूसरी ओर बृह० में इसके विपरीत क्रम है यानी पहले सूक्ष्म और फिर अतिसूक्ष्म। 'संगीतसमयसार' में मतंग के मत का उल्लेख करते हुए अतिसूक्ष्म-सूक्ष्म का क्रम अपनाया गया है जो बृह० के मूलपाठ और सिंह० द्वारा उद्धृत पाठ के विपरीत है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से दो मत दिखाई देते हैं। सामान्यतः नीचे से ऊपर यानी नाभि से मूर्धा की ओर जाते हुए नाद क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल होता हुआ समझा जा सकता है। इसलिये नाभि में अतिसूक्ष्म और हृदय में सूक्ष्म—शार्ङ्गदेव का यह क्रम समीचीन जान पड़ता है। लेकिन शरीर में आकाश का अपना निश्चित स्थान हृदय है। नादोत्पत्ति की प्रक्रिया में ध्वनि अर्धचन्द्र के आकार में चढ़ते हुए हृदय में ही अतिसूक्ष्म होती है इसीलिये मतंग आदि ने सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म का क्रम रखा है।

सबसे ज्यादा पुष्ट या व्यक्त ध्वनि कंठ में ही होती है क्योंकि वायु की स्वाभाविक गति नाभि से कंठ तक ही है। मुख से उच्चारण के समय विभिन्न वर्णों के उच्चारण के अनुरूप वायु की गति रहती है।

नाद के उपर्युक्त भेदों में से तीसरे और चौथे भेदों की संज्ञा बृह० में व्यक्त और अव्यक्त तथा सं० र० में पुष्ट और अपुष्ट हैं।

उपर्युक्त दोनों तथ्य संभवतः दो भिन्न परम्पराओं को सूचित करते हैं।

नादशब्दनिरुक्तिः

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते॥ ६॥

'नाद' शब्द की निरुक्ति

६. (अ०) **नकारं** 'न' (से) **प्राणनामानं** प्राण नामक (वायु) को (तथा) **दकारं** 'द' (से) **अनलं** अग्नि को **विदुः** जाना जाता है। **प्राण-अग्निसंयोगात्** प्राण (और) अग्नि के संयोग से **जातः** उत्पन्न हुआ **तेन** उस कारण (इसलिये) **नादः** 'नाद' **अभिधीयते** संज्ञा दी जाती है।

(सर०) तन्त्रशास्त्र के अनुसार यहाँ 'नाद' शब्द की निरुक्ति बताई गई है। जिस प्रकार बीजाक्षरों से उनके देवताओं के रूप की प्राप्ति होती है उसी तरह यहाँ भी 'न' और 'द' को प्राण और अग्नि रूप मान कर इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण 'नाद' कहा है।

सिंह० ने 'न' और 'द' अक्षरों से उत्पन्न होने के कारण अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय लगा कर 'वृद्धि' होने पर 'नाद' शब्द की व्युत्पत्ति बताई है। मतंग के अनुसार 'नद्' धातु से 'नाद' शब्द निष्पन्न होता है। कोश में 'नद' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगा कर 'नादः' शब्द दिया गया है।

'विदुः' क्रियापद से व्यंजित है कि मन्त्रज्ञ इसे जानते हैं। नाद व्यक्त होने से पहले अव्यक्त रूप में भीतर तो रहता है लेकिन अभिव्यक्त अथवा उत्पन्न तभी होता है जब प्राण और अग्नि का संयोग होता है, इसीलिये 'जातः' कहा है।

व्यवहारे नादस्य त्रैविध्यम्

व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः॥ ७॥

व्यवहार में नाद की त्रिविधता

७. (अ०) व्यवहारे तु व्यवहार में तो असौ यह (नाद) त्रेधा तीन प्रकार का अभिधीयते कहा जाता है—हृदि हृदय में (स्थित) मन्द्रः मन्द्र, कण्ठे कंठ में (स्थित) मध्यः मध्य (तथा) मूर्ध्नि मूर्धा में (स्थित) तारः तार (जो) उत्तरोत्तरः उत्तरोत्तर (एक से दूसरा) द्विगुणः च दुगना भी (होता है)।

(सर०) पहले (श्लोक ४-५ में) नाद पाँच प्रकार का कहा जा चुका है। कल्लि० के अनुसार यहाँ 'तु' (तो) के प्रयोग का प्रयोजन यह विशेषता दिखाना है कि गीतादि व्यवहार में (अर्थात् संगीत में) केवल हृदय, कंठ, मूर्धा में स्थित—ये तीन प्रकार के नाद ही उपयोगी हैं, नाभि और मुख में स्थित नहीं। सिंह० ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है कि मुख में स्थित ध्वनि वर्णरूपा होने के कारण उसका व्यवहार सामान्य बोलचाल में यानी भाषा के रूप में होता है जैसे—घट, पट आदि। आशय यह है कि संगीत में सार्थक पदयुक्त गीत का ग्रहण होने पर भी पदों का उस तरह उच्चारण नहीं होता जिस तरह बोलचाल में। गीत में स्वरों के द्वारा पदों को खींचा जाता है और पद स्वर के सहायक के रूप में रहते हैं।

कल्लि० ने यह स्पष्ट किया है कि मन्द्र स्वरों की अपेक्षा मध्य और मध्यस्वरों की अपेक्षा तार स्वरों के उच्चारण में दुगना-दुगना प्रयत्न होता है इसलिये 'द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः' कहा गया है।

हृदयस्थान में व्यक्त होने वाला नाद तारता की दृष्टि से सबसे नीचा होता है जो मन्द्र कहलाता है। कण्ठ स्थान का नाद उसकी अपेक्षा दुगना ऊँचा होता है और मध्य कहलाता है तथा मूर्धा में होने वाला मध्य की अपेक्षा दुगना ऊँचा होता है और तार कहा जाता है। यहाँ शरीर में नादोत्पत्ति के तीन स्थानों और उनसे उत्पन्न नाद में स्थान यानी प्रदेश अथवा क्षेत्र, तारता और उच्चारण प्रयत्न—इन तीनों प्रकार से संबंध है। हृदय सबसे नीचे, मूर्धा सबसे ऊपर और कंठ इन दोनों के बीच में है। उसी तरह मन्द्र नाद सबसे निचले प्रदेश से, तार सबसे ऊपर के प्रदेश से और मध्य मध्यवर्ती क्षेत्र से उत्पन्न होता है। तदनुसार तारता की दृष्टि से मन्द्र की अपेक्षा मध्य नाद दुगना ऊँचा और उसकी अपेक्षा तार नाद दुगना ऊँचा होता है।

नादस्य द्वाविंशतिभेदरूपा श्रुतयः तासामुत्पत्तिप्रकारश्च

तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः।
हृद्यूर्ध्वनाडीसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मताः॥ ८॥

तिरश्च्यस्तासु तावत्यः श्रुतयो मारुताहतेः।
उच्चोच्चतरतायुक्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम्॥ ९॥

एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिद्वाविंशतिर्मता।

नाद के श्रुति नामक बाईस भेद और उनका उत्पत्ति प्रकार

८-१० ख. (अ०) तस्य उस (प्रत्येक स्थानस्थित नाद) के द्वाविंशतिः भेदाः बाईस भेद श्रवणात् सुनाई देने के कारण

श्रुतयः 'श्रुति' मताः माने गये हैं। हृदि हृदय में ऊर्ध्वनाडीसंलग्ना ऊर्ध्वनाडी (सुषुम्णा) से जुड़ी हुई द्वाविंशतिः बाईस तिरश्च्यः तिरछी नाड्यः नाडियाँ मताः मानी गई हैं। तासु उनमें मारुत-आहतेः वायु के आघात से उत्तरोत्तरं उच्च-उच्चतरतायुतः उत्तरोत्तर (अगली-अगली) उच्च-उच्चतरता से युक्त (ऊँची-ऊँची) तावत्यः उतनी ही (अर्थात् बाईस) श्रुतयः श्रुतियाँ प्रभवन्ति होती हैं। एवं इसी प्रकार कण्ठे कंठ में तथा और शीर्षे मूर्धा में (भी) श्रुति-द्वाविंशतिः बाईस (-बाईस) श्रुतियाँ मताः मानी गई हैं।

(सर०) तीन स्थानों में व्यक्त होने वाले नाद सामान्य का निरूपण करने के बाद अब संगीत में प्रयुक्त होने वाले नादविशेष-रूप श्रुति का निरूपण आरंभ हो रहा है।

मतंग ने 'श्रु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगा कर 'श्रुति' की व्युत्पत्ति दी है। 'श्रुति' की व्युत्पत्ति 'श्रूयन्त इति श्रुतयः' है। इसके अनुसार सुनाई देना श्रुति का लक्षण है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि श्रवणीयता यानी सुनाई देना तो स्वर, तान आदि में भी है लेकिन वायु पर आघात होने के साथ ही प्रथम क्षण में श्रवणमात्र योग्यता वाली जो ध्वनि सुनाई देती है वही श्रुति कहलाती है। यहाँ प्रथम क्षण में सुनाई देने वाली ध्वनि को श्रुति कह कर बाद में देर तक सुनाई देने वाली ध्वनि को स्वर के रूप में स्थापित करना कल्लि० को अभिप्रेत है। वास्तव में कण्ठ अथवा तंत्री से उत्पन्न होने वाले नाद में इस तरह पहले-पीछे सुनाई देने का क्रम नहीं होता।

श्रुतियाँ २२ क्यों हैं इसका कारण यह कहा गया है कि हृदयस्थान और ऊर्ध्वनाडी से लगी हुई २२ तिरछी नाडियाँ हैं जो भीतर से खोखली होने के कारण वायु से भरी रहती हैं। उस वायु पर आघात होने से ध्वनि उत्पन्न होती है। इन नाडियों में से पहली नाडी से उत्पन्न ध्वनि की अपेक्षा दूसरी की ध्वनि उच्चतर होती है और इसी प्रकार क्रमशः अगली-अगली नाडियों में ध्वनि उच्चतर होती जाती है। इन नाडियों से उत्पन्न ध्वनियाँ मन्द्रस्थान की होती हैं और इसी प्रकार मध्य और तार स्थान में भी २२-२२ ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

सिंह० ने ऊर्ध्वनाडी का अर्थ सुषुम्णा किया है और कल्लि० ने इडा-पिंगला नाडियाँ।

नाडियों की संख्या २२ ही है जो हृदय में स्थित हैं और उनसे मूलतः मन्द्रस्वर उत्पन्न होते हैं। मध्य और तार स्वरों का संबंध इन नाडियों से नहीं जोड़ा है। लेकिन पिछले श्लोक की व्याख्या में कल्लि० ने दुगने-दुगने प्रयत्न के द्वारा दुगने-दुगने स्वर उत्पन्न होने का जो उल्लेख किया है उसका संबंध यहाँ भी इस रूप में है कि इन्हीं नाडियों से दुगने-दुगने उच्चारण-प्रयत्न से मध्य और तार ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रयत्न भेद से मध्य-तार नाद उसी प्रकार समझे जा सकते हैं जिस प्रकार वंशी के उन्हीं छिद्रों से, वायु के आघात-भेद से तीनों स्थानों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

आयुर्वेद में नाडी शब्द बड़ा व्यापक है। चरक, सुश्रुत आदि ने इडा-पिंगला जैसी सूक्ष्म अदृश्य नाड़ियों के लिये भी इस शब्द का प्रयोग किया है और 'एॅनॅटॉमी' के artery, capillary, vein और nerve जैसे स्थूल दृश्य अवयव भी 'नाडी' में समाहित हैं। प्रस्तुत संदर्भ में नाडी शब्द सूक्ष्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक 'एॅनॅटॉमी' इन २२ नाड़ियों के अस्तित्व को पुष्ट नहीं कर सका है क्योंकि सुषुम्णा से संलग्न ऐसी कोई दृश्य नाडियाँ नहीं हैं जिनसे २२ नाद उत्पन्न होते हों। यह सारा विषय योग-तंत्र के क्षेत्र का है जहाँ इडा-पिंगला और अन्य नाडियों की चर्चा की गई है।

शार्ङ्गदेव के समकालीन शारदातनय के ग्रन्थ 'भावप्रकाशनम्' में दो तरह से २२ श्रुतियों की उत्पत्ति दिखाई गई है। एक के अनुसार शरीर में वर्णोच्चारण के सात स्थानों के साथ २२ नाडियों की संख्या का संबंध दिखाते हुए उन ७ स्थानों से ७ स्वरों का और २२ नाडियों से २२ श्रुतियों का संबंध दिखाया है और दूसरी के अनुसार शरीर की त्वचा, माँस आदि ७ धातुओं के साथ ७ स्वरों का और २२ धमनियों से २२ श्रुतियों का संबंध दिखाया है।*

---

* भावप्रकाशनम्, बड़ौदा संस्क०, पृ० १८४-८८।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि २२ श्रुतियों और ७ स्वरों का नाडियों आदि से जो संबंध दिखाया गया है वह 'एँनॅटॉमी' की भाषा में नहीं है लेकिन भारतीय आयुर्विज्ञान (आयुर्वेद) और योगतंत्र के अनुसार वह सूक्ष्म और वैज्ञानिक है।

श्रुतियों की एकता या विविधता के बारे में कई मत हैं जिनका उल्लेख बृहद्देशी में किया गया है। सिंह० और कल्लि० दोनों ने उनकी चर्चा की है, कल्लि० ने कुछ ज्यादा विस्तार से कहा है। यहाँ दोनों के आधार पर सार दिया जा रहा है।

श्रुति और स्वर में अभेद मानने वाले ६ मत हैं तथा भेद मानने वाले ३। अभेद के आधार पर श्रुति संख्या १, २, ३, ४ और ९ मानने से ६ मत होते हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) श्रुति एक ही है—इस मत का प्रतिपादन इस तरह किया जाता है। देह में स्थित अग्नि से पवन का संयोग होने पर आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित ध्वनि नाभि से ऊपर की ओर बढ़ती हुई धुएँ की तरह पवन की गति के अनुसार चढ़ती है और बीच के सोपानों का प्रत्यय कराते हुए चतुःश्रुति, त्रिश्रुति आदि भेद से भिन्न प्रतीत होती है, वास्तव में श्रुति एक ही है।

(२) विश्वावसु ने 'स्वर' और 'अन्तर' के भेद से श्रुति दो प्रकार की कही है। कल्लि० ने विश्वावसु के उद्धृत अंश में 'स्वरगता' का अर्थ 'शुद्धस्वररूपा' देकर शुद्ध स्वरों की श्रुतियों को स्वरश्रुति समझा है और 'अन्तरस्वरवर्तिन्यः' का अर्थ 'विकृतस्वररूपा' किया है। यहाँ यह विसंगति पैदा होती है कि विकृत स्वर यानी अन्तर गान्धार और काकली निषाद की श्रुतियों की संख्या दो ही है और विश्वावसु के उद्धृत अंश में 'श्रुतयः' बहुवचन रूप है। कल्लि० ने यह तर्क देकर समाधान करने की कोशिश की है कि अन्तर श्रुतियों का प्रयोग बहुल होने के कारण अंतर-काकली की श्रुतियों की संख्या दो होते हुए भी बहुवचन में 'श्रुतयः' कहा गया है। वास्तव में यहाँ 'अन्तरस्वरवर्तिन्यः' का अन्वय 'स्वर-अन्तर-वर्तिन्यः' होगा और तदनुसार 'स्वरों के अन्तर में रहने वाली श्रुतियाँ'—यह अर्थ किया जाना चाहिये।

विश्वावसु के इस श्लोकांश के दो पाठ मिलते हैं। एक मूल बृहद्देशी में, जिसमें यह अंश इस प्रकार है—*'अन्तःश्रुतिविवर्तिन्यो ह्यन्तरश्रुतयो मताः'* (बृह०, त्रिवेन्द्रम् सं०, पृ० ४) और दूसरा सिंह० और कल्लि० की टीकाओं में है जो इस प्रकार है—*'अन्तरस्वरवर्तिन्यो ह्यन्तरश्रुतयो मताः'* (सं० र०, प्र० खण्ड, पृ० ६८, ७१)। प्रथम पाठ के अनुसार अन्तःश्रुतियों में अर्थात् श्रुतियों के बीच में रहने वाली श्रुतियों को अन्तरश्रुति कहने की संगति नहीं बैठती। लेकिन दूसरे पाठ से अभिनवगुप्त के आधार पर सही अर्थ मिल जाता है। अभिनव ने विशाखिल आदि आचार्यों के अनुसार ७ स्वरों की आश्रय श्रुतियों को अर्थात् जिन श्रुतियों पर ७ स्वर स्थित होते हैं, उन्हें स्वरश्रुति कहा है—*'सप्ताश्रयतया स्वरगता'* और अन्य श्रुतियों को अन्तरश्रुति माना है—*'अन्तरगतास्त्वन्या'*। यानी स्वरों के अन्तर (बीच) में रहने वाली शेष १५ श्रुतियाँ अन्तरश्रुति होती हैं (ना०शा०, चतुर्थ खण्ड, पृ० २१)।

संशोधन करके एक पाठ बृह० के इं० गाँ० रा० कलाकेन्द्र संस्क० में दिया गया है—*'अन्तःस्वरविवर्तिन्यो ह्यन्तरश्रुतयो मताः'* (प्र० खण्ड, अनु० २)। अभिनव के आधार पर जो अर्थ ऊपर दिया गया है उसी को प्राप्त करने के लिये यह संशोधन किया गया है।

विश्वावसु के अंश का यह अर्थ इस आधार पर भी तर्कसंगत है कि अन्तर-काकली की श्रुतियाँ भी यों तो शुद्ध स्वरों की श्रुतियों में अन्तर्भूत हैं इसलिये शुद्ध और विकृत स्वरों के आधार पर भेद कहने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन स्वर जिस श्रुति पर स्थित हो और जो उनके अन्तराल की सूचक हों, यह भेद श्रुतियों की स्थिति के अन्तर को सूचित करता है।

शार्ङ्गदेव ने संवाद के संदर्भ में भी यह आधार लिया है जहाँ उसने यह कहा कि जिन दो स्वरों के 'अन्तर' में ८ या १२ श्रुतियाँ हों वे परस्पर संवादी होते हैं। स्वर जिस पर स्थित हो और जो अन्तरवर्ती श्रुतियाँ हों—इस अर्थ में उसने यहाँ 'अन्तर' शब्द का प्रयोग किया है।

सार यह कि अभेद मत के अनुसार वे ७ श्रुतियाँ जिन पर शुद्ध स्वर स्थित या व्यक्त होते हैं 'स्वरश्रुति' और शेष १५ श्रुतियाँ जो स्वरों के अन्तराल में रहती हैं 'अन्तरश्रुति' मानी गई हैं।

(३) मन्द्र, मध्य, तार—इन तीन स्थानों में रहने के कारण तीन प्रकार की श्रुतियाँ मानी जाती हैं—मन्द्र श्रुति, मध्य श्रुति और तार श्रुति।

(४) तीन प्रकार के इन्द्रिय विकार से भी तीन प्रकार की श्रुतियाँ कही जाती हैं जो सत्त्वगुणयुक्त सहज, रजस्-तमस्-युक्त दोषज और अम्ल आदि रसों से उपहत अभिघातज कहलाती हैं।

(५) वात, पित्त, कफ—इन तीन धातुओं की प्रधानता-गौणता के आधार पर चार प्रकार की श्रुति कही जाती हैं—वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज। कल्लि० ने याद दिलाया है कि ग्रंथकार इन्हें 'शब्द-भेद' के रूप में (प्रकीर्णकाध्याय में) कहेंगे।

(६) वेणु, भरत आदि मुनियों ने नौ प्रकार की श्रुतियाँ मानी हैं—चतुःश्रुति, त्रिश्रुति और द्विश्रुति स्वरों की क्रमशः ४, ३ और २—कुल ९ श्रुतियाँ। इनके आधार पर स,रि,ग—ये तीन ही मुख्य स्वर माने गये हैं, शेष स्वर इन्हीं के प्रतिरूप हैं और शेष श्रुतियाँ इन्हीं स्वरों की श्रुतियों की आवृत्ति हैं।

भेद के आधार पर श्रुतियों की संख्या के बारे में तीन मत हैं जो २२, ६६ और अनन्त श्रुति मानते हैं। एक स्थानगत २२ और तीन स्थानगत ६६ श्रुतियाँ होती हैं। जगत् में अनन्त ध्वनियाँ व्याप्त रहती हैं जैसे सागर में अनन्त लहरें लेकिन उन्हें गिना नहीं जा सकता। उसी तरह स्वरों में भी अनन्त श्रुतियाँ होती हैं, यह तीसरा मत है।

आनन्त्य पक्ष का आधार यह है कि यद्यपि श्रुति रणनात्मक और स्वर अनुरणनात्मक होने के कारण भिन्न हैं फिर भी अनुरणनरूप ध्वनि में भी श्रुतिता (श्रव्यता) है तथा श्रुति और स्वर दोनों में ही प्रतिध्वनि—अवयवभूत ध्वनि—के रूप में अनेक ध्वनियाँ रह सकती हैं जैसे जल में अनन्त तरंगें उठती रहती हैं। जो ध्वनि श्रव्य है वह श्रवणेन्द्रिय गोचर होने के कारण सावयव तो अवश्य होती है, जैसे खिड़की में से आती सूर्य की किरण में चमकने वाले त्र्यसरेणु भी अणु-परमाणु युक्त होते हैं। लेकिन अवयवभूत ध्वनियाँ सुनी नहीं जा सकतीं बल्कि श्रव्य ध्वनियों के आधार पर अनुभव की जाती हैं या अर्थापत्ति से समझी जाती हैं इसलिये उनमें स्वर को अभिव्यक्त करने की योग्यता या कारणता न होने से वे श्रुति नहीं कही जा सकतीं। इसलिये आनन्त्य पक्ष ठीक नहीं है।

२२ और ६६ श्रुतियों वाले पक्षों में भी स्वर और श्रुति का भेद तो निश्चित है लेकिन एक स्थान की २२ श्रुतियाँ ही अन्य स्थानों में आवृत्त होकर तीन स्थानों में कुल ६६ बनती हैं। ६६ मानने पर आवृत्ति नहीं रहेगी, सभी श्रुतियाँ भिन्नरूपा हो जायँगी और तब मन्द्रस्थानगत षड्जादि स्वरों के अलावा १४ स्वरों के अलग नाम देने होंगे, लेकिन ऐसा व्यवहार नहीं होता। इसलिये इन सभी (९) मतों में से २२ श्रुति वाला भेद पक्ष ही शार्ङ्गदेव को मान्य है। शार्ङ्गदेव के बाद सभी ग्रंथकारों द्वारा श्रुतियों की संख्या २२ ही स्वीकार कर ली गई।

श्रुति अभिव्यंजक और स्वर अभिव्यंग्य होने के कारण स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। लेकिन अभेद पक्ष वाले मतों में श्रुति और स्वर का भेद छिपाया गया है इसलिये ये समीचीन नहीं हैं, ऐसा कल्लि० का मत हैं। सिंह० ने भेद और अभेद दोनों मतों को सिद्ध किया है। उसके अनुसार विरुद्ध धर्म का रहना ही भेद है और श्रुतियों में मन्द-तीव्र-तीव्रतर आदि विरोधी धर्म रहते हैं इसलिये भेद सिद्ध होता है। लेकिन मन्द्र, मध्य, तार—तीनों स्थानों में यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि ये वही श्रुतियाँ हैं, ये वही स्वर हैं। इस तरह अभेद सिद्ध होता है।

सिंह० ने श्लोक १०-१६ की टीका में 'संगीतसमयसार' का एक लम्बा उद्धरण दिया है जिसमें तीनों स्थानों की ६६ श्रुतियों के नाम हैं जो तीव्रादि नामों से भिन्न हैं और यह सूचित करते हैं कि ६६ श्रुतियाँ मानने की एक भिन्न परम्परा रही है और पार्श्वदेव ने उसे महत्त्व दिया है।

ध्वनियाँ अनन्त होते हुए भी और बाल भर का अन्तर सुनाई देने पर भी स्पष्ट प्रत्यय बाईस का ही होता है, संवाद के आधार पर २२ को ही समझा और समझाया जा सकता है तथा स्वर बनने की क्षमता भी २२ में ही है इसलिये २२ ध्वनियाँ

ही श्रुति मानी गईं। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये एक स्थानगत २२ तारताओं की सूचक अवश्य हैं लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से ये न तो स्वयं प्रयोज्य हैं और न स्वर से भिन्न इनका स्वतंत्र अस्तित्व ही है, बल्कि स्वर के अपने क्षेत्र (अन्तराल) की रचना और उसके रंजक स्वरूप की अभिव्यक्ति में ही इनकी सार्थकता है।

सारणाचतुष्टयेन श्रुतिनिदर्शनम्

व्यक्तये कुर्महे तासां वीणाद्वन्द्वे निदर्शनम्॥ १०॥

द्वे वीणे सदृशौ कार्ये यथा नादः समो भवेत्।
तयोर्द्वाविंशतिस्तन्त्र्यः प्रत्येकं,

श्रुतिनिदर्शन—सारणाचतुष्टय के द्वारा

१० ग-११ ग. (अ०) तासां उनकी (श्रुतियों की) व्यक्तये स्पष्टता के लिये वीणाद्वन्द्वे दो वीणाओं में निदर्शनं कुर्महे निदर्शन करते हैं। द्वे वीणे दो वीणाएँ सदृशौ कार्ये (इतनी) समान करनी चाहियें यथा जिससे (दोनों में) नादः नाद समः भवेत् समान हो। तयोः उन दोनों में (से) प्रत्येकं प्रत्येक को द्वाविंशतिः तन्त्र्यः बाईस तारों वाली (बनाना चाहिये अर्थात् २२ तार बाँधने चाहियें)।

(सर०) अब ग्रन्थकार सारणाविधि शुरू कर रहे हैं जिसके द्वारा यह सिद्ध करना है कि श्रुतियों की संख्या २२ ही है।

शरीर में स्थित २२ नाडियाँ और उनमें उत्पन्न होने वाली श्रुतियाँ—ये सभी परोक्ष हैं। इसलिये श्रुतियों की इयत्ता सिद्ध करने के लिये वीणा पर तार बाँध कर उनके द्वारा निदर्शन (प्रत्यक्षीकरण) कर रहे हैं। ध्वनि की उत्पत्ति मूलतः कंठ में होते हुए भी श्रुतियों की सिद्धि कंठ में न करके वीणा में करने के विशेष कारण हैं। कंठध्वनि में इतना सूक्ष्म अन्तर दिखाना संभव नहीं क्योंकि वहाँ ध्वनि को उस तरह स्थिर नहीं रखा जा सकता जिस तरह कसे हुए तार में। कंठ में ध्वनियाँ क्रम से ही उत्पन्न हो सकती है, एक साथ नहीं। ध्वनियों में संवाद सिद्ध करने के लिये दो ध्वनियों का एक साथ प्रयोग वाद्य में ही संभव है। कंठ ध्वनि का प्रत्यक्ष उतना स्पष्ट नहीं होता जितना वाद्य की ध्वनि का। कोई क्रिया करने के बाद उसे बार-बार करके जाँचना, परखना और परिणाम सही है या नहीं यह देखना भी तार पर जैसा संभव है वैसा कंठ में नहीं। इसलिये शास्त्रगत प्रयोगों का आधार वीणा ही रही है, कंठ ध्वनि नहीं।

तासु चादिमा॥ ११॥

कार्या मन्द्रतमध्वाना द्वितीयोच्चध्वनिर्मनाक्।
स्यान्निरन्तरता श्रुत्योर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुतेः॥ १२॥

११ घ-१२. (अ०) तासु च उन (दोनों वीणागत तन्त्रियों) में से आदिमा पहली (तन्त्री) मन्द्रतमध्वाना मन्द्रतम (सबसे नीची) ध्वनि वाली कार्या करनी चाहिये। द्वितीया दूसरी (तन्त्री) मनाक् कुछ उच्चध्वनिः ऊँची ध्वनि वाली (करनी चाहिये)। (ऐसा करने से) श्रुत्योः मध्ये दोनों श्रुतियों (श्रव्य ध्वनियों) के बीच ध्वनि-अन्तर-अश्रुतेः अन्य ध्वनि न सुनाई देने के कारण निरन्तरता स्यात् निरन्तरता होती है।

(सर०) प्रथम तंत्री का अर्थ प्रयोगकर्ता के सबसे पास वाला यानी उसकी ओर से पहला तार है। इस तार को थोड़ा कस कर उतनी नीची ध्वनि में मिलाना है जिससे उसे थोड़ा ढीला करते ही उनमें अनुरणन न रहे। दूसरे तार को पहले तार की अपेक्षा उतना ही ऊँचा मिलाना है जिससे उसे थोड़ा ढीला करने पर वह पहले तार की ध्वनि में मिल जाय। इन दोनों तारों की ध्वनियों के बीच कोई अन्य ध्वनि स्थापित नहीं की जा सकती इसीलिये 'निरन्तरता' शब्द का प्रयोग किया गया है।

श्लोक में प्रयुक्त 'श्रुत्योः' और 'अश्रुतेः' शब्द संवादसिद्ध पारिभाषिक श्रुति के सूचक नहीं हैं, यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। 'श्रुत्योर्मध्ये' का संदर्भप्राप्त अर्थ है 'तारों के बीच में' या 'तारों से उत्पन्न श्रव्य ध्वनियों के बीच में' और 'अश्रुतेः' के साथ 'ध्वन्यंन्तर' का प्रयोग होने से यह अर्थ है—'अन्य ध्वनि सुनाई न देने के कारण'। श्रुति शब्द का मूल अर्थ है 'सुनाई देने वाली'। 'अश्रुतेः' में भी 'श्रुति' का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। दूसरे, २२ तारों को अन्दाज़ से ही एक से दूसरी थोड़ी-थोड़ी ऊँची ध्वनि में मिलाने के लिये ग्रंथकार ने कहा है ताकि उनमें निरन्तरता बनी रहे। आगे की जाने वाली सारणाओं के द्वारा श्रुतियों को सिद्ध करना अभी शेष है इसलिये यहाँ तारों को संवादसिद्ध श्रुतियों में मिलाने के लिये नहीं कहा है। अगले श्लोक में प्रयुक्त 'स्थाप्याः' (अर्थात् स्थापित करनी चाहियें) का प्रयोग भी इसकी पुष्टि करता है कि अन्दाज़ से चढ़ाये गये इन तारों पर अभी न तो स्वर स्थापित हुए हैं, न श्रुतियाँ। तारों को थोड़ा-थोड़ा कस लेना ही यहाँ प्रयोजन है ताकि सारणा करते समय क्रिया करने में असुविधा न हो। तीसरे, सारणा प्रक्रिया शुरू करते समय पहले स्वरों की स्थापना करके तब उनके आधार पर ही श्रुतियों को सिद्ध करना है, पहले से न तो श्रुति स्थापित की जा सकती है और न यहाँ ऐसा किया गया है।

अधराधरतीव्रास्तास्तज्जो नादः श्रुतिर्मतः।

१३ क-ख. (अ०) ताः वे (तन्त्रियाँ) **अधराधर** एक के नीचे दूसरी (अगली-अगली) (इस क्रम से) **तीव्राः** तीव्र (ऊँची-ऊँची ध्वनि वाली हैं)। तत्-जः उनमें उत्पन्न नादः नाद **श्रुतिः** मतः श्रुति (श्रव्यध्वनि) माना जाता है।

(सर०) वीणा में तारता शरीर की अपेक्षा उल्टे क्रम में बढ़ती है। शरीर में क्रमशः ऊपर जाती हुई ध्वनि ऊँची होती है लेकिन वीणा में नीचे जाते हुए ऊँची होती है।

सारणा-वीणा में, जिसे ग्रन्थकार वाद्याध्याय (श्लोक ७) में 'श्रुतिवीणा' कहते हैं, हर श्रुति के लिये स्वतंत्र तार है। यह कहा जा चुका है कि पहला यानी मन्द्रतम ध्वनि का तार अपनी ओर रहना चाहिये। इसलिये नीचे-नीचे के यानी बाद-बाद के तारों में ध्वनि ऊँची होती जायगी।

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'श्रुति' शब्द का अर्थ केवल श्रव्यध्वनि ही समझना चाहिये, सिद्ध श्रुति नहीं। सिंह० और कल्लि० ने इन तारों से उत्पन्न नादों को श्रुति ही कहा है। उन्होंने इन असिद्ध ध्वनियों को सिद्ध श्रुति समझा हो यह तो नहीं कहा जा सकता लेकिन इन ध्वनियों को सिद्ध होने से पहले ही श्रुति कह कर वे ग्रंथकार के आशय को अवश्य ही स्पष्ट नहीं कर सके हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ग्रंथकार ने स्वयं भी 'श्रुतिर्मतः' का प्रयोग किया है। लेकिन ग्रंथकर्ता के शब्दों के आशय और यहाँ विभिन्न अर्थों को ध्यान में रख कर आशय को स्पष्ट करने के दायित्व का निर्वाह न कर पाने के कारण दोनों ही टीकाकार यहाँ ग्रन्थकार के साथ न्याय नहीं कर सके हैं।

यह स्मरणीय है कि ८वें श्लोक में ग्रन्थकार ने 'श्रवणात्श्रुतयो मताः' कहा है। वहाँ भी श्रुति का 'सुनाई देने वाली ध्वनि' यह शब्दार्थ ही अभिप्रेत है, पारिभाषिक श्रुति नहीं।

स्वरस्थापनम्

वीणाद्वये स्वराः स्थाप्यास्तत्र षड्जश्चतुःश्रुतिः॥ १३॥

स्थाप्यस्तन्त्र्यां तुरीयायामृषभस्त्रिश्रुतिस्ततः।
पञ्चमीतस्तृतीयायां, गान्धारो द्विश्रुतिस्ततः॥ १४॥

अष्टमीतो द्वितीयायां, मध्यमोऽथ चतुःश्रुतिः।
दशमीतश्चतुर्थ्यां स्यात्पञ्चमोऽथ चतुःश्रुतिः॥ १५॥

चतुर्दशीतस्तुर्यायां, धैवतस्त्रिश्रुतिस्ततः।
अष्टादश्यास्तृतीयायां निषादो, द्विश्रुतिस्ततः॥ १६॥
एकविंश्या द्वितीयायां,

वीणाओं पर स्वरस्थापना

१३ ग-१७ क. (अ०) वीणाद्वये दोनों वीणाओं में **स्वराः स्थाप्याः** स्वर स्थापित करने चाहियें। **तत्र** उन (स्वरों) में (से) **तुरीयायां तन्त्र्यां** चौथी तंत्री में **चतुःश्रुतिः षड्जः** चतुःश्रुति षड्ज **स्थाप्यः** स्थापित करना चाहिये। **ततः** तब **पञ्चमीतः तृतीयायां** पाँचवीं से तीसरी (अर्थात् सातवीं तंत्री) में **त्रिश्रुतिः ऋषभः** त्रिश्रुति ऋषभ; **ततः** तब **अष्टमीतः द्वितीयायां** आठवीं से दूसरी (अर्थात् नवीं तंत्री) में **द्विश्रुतिः गान्धारः** द्विश्रुति गान्धार; **अथ** इसके बाद **दशमीतः चतुर्थ्यां** दसवीं से चौथी (अर्थात् तेरहवीं तंत्री) में **चतुःश्रुतिः मध्यमः** चतुःश्रुति मध्यम **स्यात्** होता है। **अथ** अब **चतुर्दशीतः तुर्यायां** चौदहवीं से चौथी (अर्थात् सत्रहवीं तंत्री) में **चतुःश्रुतिः पञ्चमः** चतुःश्रुति पंचम; **ततः** तब **अष्टादश्याः तृतीयायां** अठारहवीं से तीसरी (अर्थात् २० वीं तंत्री) में **त्रिश्रुतिः धैवतः** त्रिश्रुति धैवत; **ततः** तब **एकविंश्याः द्वितीयायां** इक्कीसवीं से दूसरी (अर्थात् २२वीं तंत्री) में **द्विश्रुतिः निषादः** द्विश्रुति निषाद (स्थापित करने चाहियें)।

(सर०) सारणा शुरू करने से पहले सात स्वरों की स्थापना करनी है। 'स्थाप्याः' क्रियापद इसका सूचक है कि अभी तारों पर स्वर स्थापित नहीं हुए हैं। स्वर किस तरह स्थापित किये जायँ इसका उल्लेख न तो ग्रंथकार ने किया है और न टीकाकारों ने इस पर प्रकाश डाला है। कारण यह है कि वीणा पर बँधे तारों पर स्वरों को स्थापित करना स्वरज्ञों के लिये सहज है। जिस तरह आज किसी स्वरज्ञ को स्वर स्थापित करने की विधि या क्रम बताने की जरूरत नहीं होती उसी तरह उस समय में भी इसकी आवश्यकता नहीं थी। लेकिन ग्राम व्यवस्था के आधार स्वर वर्तमान प्रयोग में आधार न होने के कारण उन्हें उस तरह क्रम से स्थापित करना सरल नहीं है जिस तरह आज के स्वर एक क्रम से स्थापित किये जा सकते हैं। श्रुति निदर्शन के लिये स्वर स्थापित करने की विधि को सारणा संबंधी परिशिष्ट में समझाया गया है। (द्रष्टव्य परिशिष्ट—क)

यद्यपि ग्रंथकार ने यह नहीं कहा है कि षड्जग्रामिक स्वरों की स्थापना करनी चाहिये लेकिन जिन तारों पर जिस श्रुतिव्यवस्थानुसार स्थापना कही है उससे स्पष्ट है कि ये षड्जग्राम के स्वर हैं। भरत ने षड्जग्राम का स्पष्ट उल्लेख किया है—*'द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छने कृत्वा षड्जग्रामाश्रिते कार्ये'*। (ना० शा०, अ० २८, पृ० २०)*

वीणैकाऽत्र ध्रुवा भवेत्।
चलवीणा द्वितीया तु तस्यां तन्त्रीस्तु सारयेत्॥ १७॥

१७ ख-घ. (अ०) अत्र इनमें से **एका वीणा** एक वीणा **ध्रुवा** ध्रुव (अचल) **भवेत्** होती है। **द्वितीया तु** दूसरी तो **चलवीणा** चलवीणा (है)। **तस्यां** उसमें **तन्त्रीः तु** तन्त्रियाँ तो **सारयेत्** सरकानी चाहियें।

(सर०) ध्रुववीणा में तारों पर एक बार क्रिया हो जाने के बाद फिर उन तारों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता इसीलिये वह अचल या ध्रुव वीणा कहलाती है। सारणा दूसरी वीणा में ही की जाती है और इसमें किसी तार पर आवश्यकतानुसार दुबारा भी क्रिया की जा सकती है इसलिये यह चल वीणा कहलाती है। चलवीणा के परिणामों को दूसरी वीणा में 'ध्रुव' कर दिया जाता है और चलवीणा के परिणामों को जाँचने का काम ध्रुववीणा से लिया जाता है। ध्रुववीणा में तारों पर दुबारा क्रिया

---

* प्रस्तुत कार्य में मुख्यतः ना०शा० के बड़ौदा संस्क० का उपयोग हुआ है, भिन्न संस्क० का जहाँ उपयोग हुआ है उसका उल्लेख वहीं कर दिया गया है।

नहीं की जाती इसलिये उसके बाईस तारों पर श्रुतियों का एक क्रम से प्रत्यक्ष हो सकता है जबकि चलवीणा में एक-एक सारणा की श्रुतियाँ ही अनुभव की जा सकती हैं क्योंकि इसमें कुछ तारों पर किसी अन्य सारणा में दुबारा क्रिया होने के फलस्वरूप पहली क्रिया नष्ट हो जाती है। तीसरी सारणा में इसे स्पष्ट किया जायेगा।

प्रथमा सारणा

स्वोपान्त्यतन्त्रीमानेयास्तस्यां सप्त स्वरा बुधैः।
ध्रुववीणास्वरेभ्योऽस्यां चलायां ते स्वरास्तदा॥ १८॥
एकश्रुत्यपकृष्टाः स्युः,

प्रथम सारणा

१८-१९ क. (अ०) (प्रथम सारणा में) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **तस्यां** उस (चलवीणा) में **सप्तस्वराः** सातों स्वर **स्व-उपान्त्य-तन्त्रीं** अपनी उपान्त्य (अन्तिम के पास वाली) तन्त्री पर **आनेयाः** लाये जाने चाहियें। **तदा** तव **अस्यां** इस **चलायां** चल (वीणा) में **ते स्वराः** वे स्वर **ध्रुववीणास्वरेभ्यः** ध्रुववीणा के स्वरों की अपेक्षा **एकश्रुति-अपकृष्टाः** एक श्रुति अपकृष्ट (उतरे हुए) **स्युः** होते हैं।

(सर०) पहली सारणा में आरंभ कहाँ से और किस तरह करना चाहिये इस बारे में ग्रंथकार ने कोई संकेत नहीं दिया है। लेकिन भरत ने वह कुंजी इस प्रकार दी है—

'मध्यमग्रामे तु पञ्चमः श्रुत्यपकृष्टः कार्यः', 'तयोरन्यतरस्यां पञ्चमस्यापकर्षे श्रुतिं मध्यमग्रामिकीं कृत्वा……', (ना०शा०, २८, पृ० २०) *'संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च'* (वही, पृ० १५)।

प्रथम सारणा का प्रथम सोपान पंचम का अपकर्ष है, यही दोनों ग्रामों का भेदक भी है। दोनों वीणाओं में षड्जग्राम के स्वर मिले हुए हैं यानी उनमें पंचम का षड्ज से संवाद है, ऋषभ से नहीं। इसलिये रि-प को साथ छेड़ने से बेसुरापन लगता है। पंचम को ध्रुववीणा के ऋषभ का संवादी बनाने से चलवीणा मध्यमग्रामिकी हो जायेगी। इसके लिये शार्ङ्गदेव की विधि में चलवीणा के १६वें तार को ध्रुव वीणा के ७वें तार का संवादी बनाना होगा। इसके बाद भरत के अनुसार उस पंचम के आधार पर चलवीणा को फिर से षड्जग्रामिकी बना लेना चाहिये। इसके लिये संवादों के आधार पर शेष सभी स्वरों को उनके पूर्ववर्ती तारों पर स्थापित करना होगा। इस प्रकार ३, ६, ८, १२, १६, १९ और २१ संख्यक तारों पर क्रम से सरिगमपधनि स्थापित हो जायँगे। यही परिणाम ध्रुववीणा के तारों पर भी अंकित किये जायँगे।

इस सारणा में कोई श्रुति सिद्ध नहीं होती। इसीलिये मतंग ने कहा— *'चलवीणायाः प्रथमापकर्षे श्रुतिलाभो नास्ति'* (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० १०)। दोनों वीणाओं के स्वरों में केवल ऊँचे-नीचेपन की प्रतीति होती है— *'उच्चनीचमात्रप्रतीतेः'*।

इस सारणा से दो परिणाम प्राप्त होते हैं—१. अवरोह क्रम में सभी स्वरों की पहली-पहली श्रुतियाँ एक से प्रमाण की हैं और २. इस श्रुति का प्रमाण वही है जो षड्जग्राम और मध्यमग्राम के पंचम का अन्तर है। यह इस रूप में 'प्रमाणश्रुति' है कि यह दोनों ग्रामों के पंचम के अन्तर की प्रमाणरूप श्रुति है।

'उपान्त्य' का अर्थ है 'अन्तिम के पास वाली' और 'स्व' का अर्थ है 'अपनी'। इसलिये 'स्व-उपान्त्य' का अर्थ हुआ स्वर की अन्तिम श्रुति के पास वाली अपनी श्रुति यानी जिस अन्तिम श्रुति पर स्वर व्यक्त होता है उससे पहले वाली। यों तो स्वर जिस श्रुति पर स्थित होता है उससे अगली श्रुति भी अन्तिम के पास वाली होती है लेकिन वह उसकी अपनी श्रुति नहीं

होती, अगले स्वर की होती है। इसीलिये ग्रंथकार ने 'स्व' का प्रयोग किया है। इससे यह भी प्रकट है कि स्वर अपनी अन्तिम श्रुति पर ही स्थित होता है।

द्वितीया सारणा

एवमन्याऽपि सारणा।
श्रुतिद्वयलयादस्यां चलवीणागतौ गनी॥ १९॥
ध्रुववीणोपगतयो रिधयोर्विशतः क्रमात्।

द्वितीय सारणा

१९ ख-२० ख. (अ०) एवं इसी प्रकार अन्या सारणा-अपि दूसरी सारणा भी (करनी चाहिये)। अस्यां इस (सारणा) में (ग-नि की) श्रुतिद्वयलयात् दो (-दो) श्रुतियों का लय होने से चलवीणागतौ ग-नी चल वीणा में स्थित ग-नि क्रमात् क्रम से ध्रुववीणा-उपगतयोः ध्रुववीणा में (पहले से) प्राप्त रि-धयोः रि-ध में विशतः लीन हो जाते हैं।

(सर०) सिंह० ने '*एवमन्याऽपि सारणा*' के स्थान पर संभवतः '*एवमन्याश्च सारणा*' पाठ लिया है जो आड्यार संस्क० में सम्पादक ने पाद टिप्पणी में दिया है। तदनुसार सिंह० ने यह अर्थ किया है—इसी प्रकार दूसरी, तीसरी और चौथी सारणाएँ करनी चाहियें यानी हर सारणा में फिर से एक-एक श्रुति का अपकर्ष करना चाहिये। कल्लि० ने 'अन्याऽपि' पाठ के आधार पर 'सारणाऽन्तरे' में सप्तमी एकवचन का प्रयोग करके इसके द्वारा केवल दूसरी सारणा का सूचन किया है जिसकी पुष्टि 'अस्यां' के द्वारा होती है जिसका अर्थ उसने 'द्वितीयसारणायां' किया है। यहाँ 'अन्याऽपि' पाठ ही ज्यादा सही है क्योंकि 'अस्याम्'—इस सर्वनाम पद को संज्ञापद की अपेक्षा है। 'अन्या' का अर्थ 'दूसरा' करने पर 'अस्यां' का प्रयोग सार्थक होता है इसलिये हमने भी 'अन्या' का अर्थ 'दूसरी' किया है।

पहली सारणा की तरह दूसरी सारणा में भी सभी स्वर एक-एक श्रुति उतारे जायेंगे। लेकिन अब सारणा का आरंभ पंचम से न होकर गान्धार अथवा निषाद से होगा। इसका संकेत भरत के इस कथन में है—'*पुनरपि तद्वदेवापकर्षेत् यथा गान्धारनिषादवन्तावितरस्यामृषभधैवतौ प्रवेक्ष्यतः द्विश्रुत्यधिकत्वात्*' (ना०शा०, २८, पृ० २०)। अर्थ यह है—फिर से 'उस प्रकार' अपकर्ष करना चाहिये 'जिससे' गान्धार-निषाद दूसरी वीणा के ऋषभ-धैवत में मिल जायँ। इसके अनुसार गान्धार अथवा निषाद से सारणा शुरू करनी होगी क्योंकि सबसे पहले इन्हीं स्वरों का ऋषभ-धैवत में मिलना अपेक्षित है। इसके लिये चलवीणा के ७वें और २०वें तारों को ध्रुववीणा के ७वें और २०वें तारों के साथ एकरूप करके उन पर ग-नि स्थापित करने होंगे। इसके बाद शेष स्वर भी पिछले-पिछले तारों पर स्थापित किये जायँगे। इस तरह चलवीणा के २, ५, ७, ११, १५, १८ और २० संख्यक तारों पर क्रम से सरिगमपधनि स्थापित हो जायँगे। नए परिणामों को ध्रुववीणा में भी अंकित करना होगा। लेकिन यहाँ ७वें और २०वें तारों पर कोई क्रिया नहीं की जायगी क्योंकि इन पर पहले रि-ध स्थापित किये जा चुके हैं।

इस सारणा में ग-नि क्रमशः रि-ध में प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिये ४ श्रुतियाँ सिद्ध होती हैं। इसीलिये मतंग ने कहा—'*द्वितीयायां चतुःश्रुतिलाभः*' (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० १०) साथ ही चलवीणा के ११वें और दूसरे तारों पर स्थापित 'म' और 'स' के रूप में जो नई ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं वे मूल सप्तक की दृष्टि से अन्तर गान्धार और काकली निषाद हैं। इस प्रकार अन्तर-काकली की सिद्धि भी इस सारणा में होती है।

इस सारणा में प्राप्त होने वाली श्रुति पहली सारणा की श्रुति से बहुत बड़े नाप की है। इसे परखने का सरल उपाय यह है कि पहली सारणा में एक श्रुति उतरे हुए पंचम का ध्रुववीणा के ऋषभ के साथ संवाद होता है। लेकिन दूसरी सारणा में स्वरों को उतारने के बाद पंचम का पहली सारणा के ऋषभ के साथ संवाद नहीं होता बल्कि वह बहुत उतरा हुआ सुनाई देता है। अवरोह क्रम में सभी स्वरों की दूसरी श्रुति इसी नाप की होती है।

इस प्रकार दूसरी सारणा में चार बातें सिद्ध हुईं—१. 'ग' और 'नि' की द्विश्रुतिकता यानी इन दोनों स्वरों में दो-दो ही श्रुतियाँ हैं। २. हर स्वर में अवरोह क्रम में दूसरी श्रुति का वही नाप है जो इस सारणा में प्राप्त होता है। ३. अन्तर-काकली अपने-अपने पश्चाद्वर्ती स्वरों से २-२ श्रुति के अन्तर पर स्थित हैं। ४. प्रथम सारणा की श्रुति की तुलना में इस सारणा की श्रुति बड़े नाप की है।

तृतीया सारणा

तृतीयस्यां सारणायां विशतः सपयो रिधौ॥ २०॥

तृतीय सारणा

२० ग-घ. (अ०) तृतीयस्यां सारणायां तीसरी सारणा में रि-धौ रि-ध (क्रम से ध्रुववीणा के) स-पयोः स-प में विशतः लीन हो जाते हैं।

(सर०) तीसरी सारणा में भी सभी स्वर एक-एक श्रुति उतारे जाते हैं लेकिन उतारने का क्रम 'रि' से शुरू होता है। पिछली सारणाओं की तरह यानी 'प' या 'ग' से उतारने पर अभीष्ट परिणाम नहीं होता यानी रि-ध क्रम से स-प में लीन नहीं होते। भरत ने क्रम का संकेत इस प्रकार दिया है—'*पुनरपि तद्वदेवापकृष्टायां धैवतर्षभावितरस्यां पञ्चमषड्जौ प्रवेक्ष्यतः त्रिश्रुत्यधिकत्वात्*'। (ना०शा०, २८, पृ० २०) इसका अभिप्राय यह है कि चलवीणा के रि-ध ध्रुववीणा के स-प में मिल जाते हैं। तदनुसार शार्ङ्गदेव की चलवीणा के चौथे और १७वें तारों को ध्रुववीणा के स-प के साथ मिला कर चलवीणा के चौथे और १७वें तारों पर रि-ध स्थापित करने चाहियें। इसके बाद शेष स्वरों को पहले, छठे, १०वें, १४वें और १९वें तारों पर स्थापित करना चाहिये। इस प्रकार चलवीणा में १, ४, ६, १०, १४, १७, १९ संख्यक तारों पर क्रम से सरिगमपधनि स्थित होते हैं। इस सारणा की नई क्रियाएँ ध्रुववीणा के पहले, दसवें और चौदहवें तारों पर की जायँगी, शेष तारों पर पहले से स्वर स्थित हैं। इस सारणा में १०वें तार पर स्थित मध्यम के संवादी 'नि' और उसके संवादी 'ग' को क्रमशः १९वें और छठे तारों पर स्थापित करने के लिये इन तारों को काफ़ी उतारना पड़ता है। अगर इस सारणा की श्रुति पहली सारणा के बराबर होती तो इन तारों में किसी तरह का परिवर्तन किये बिना स्वर स्वतः उन तारों में मिल जाते।

इस सारणा से तीन तथ्य प्रकट होते हैं—१. रि-ध में ३-३ ही श्रुतियाँ हैं, फलतः ६ श्रुतियाँ सिद्ध हुईं। इसीलिये मतंग का कथन है—'*तृतीयायां षट्श्रुतिलाभः*'। (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० १०)। २. द्विश्रुति स्वरों को छोड़ कर शेष सारे स्वरों में अवरोह क्रम में तीसरी श्रुति का यही नाप है। ३. इस सारणा की श्रुति भी प्रथम सारणा की श्रुति से बड़े नाप की है। दूसरी सारणा में श्रुति के परिणामों के अन्तर को परखने का जो उपाय बताया गया है उसी तरह यहाँ भी अन्तर को परखा जा सकता है।

चतुर्थी सारणा

निगमेषु चतुर्थ्यां तु विशन्ति समपाः क्रमात्।

चतुर्थ सारणा

२१ क-ख. (अ०) चतुर्थ्यां तु चौथी (सारणा) में तो स-म-पाः स-म-प क्रमात् क्रम से नि-ग-मेषु नि-ग-म में विशन्ति लीन हो जाते हैं।

(सर०) इस सारणा में भी सब स्वरों का एक-एक श्रुति अपकर्ष किया जाता है। लेकिन सारणा की क्रिया षड्ज से शुरू करनी होगी। 'स' से शुरू करने पर एक कठिनाई आती है। तीसरी सारणा में 'स' को उतारने पर वह पहले तार पर स्थापित हो चुका है इसलिये चौथी सारणा में 'स' को स्थापित करने के लिये तार नहीं है। इसके लिये दो उपाय हैं—१. यह

मान लिया जाय कि मध्य सप्तक के 'नि' का जो २२वाँ तार है उसी में षड्ज लीन हो जायगा जो मन्द्र निषाद का दुगना है। २. अथवा चौथे तार पर स्थापित मूल 'स' की आवृत्तिस्वरूप तार 'स' की कल्पना करके वहाँ से चौथी सारणा में 'नि' के २२वें तार पर 'स' की स्थिति माननी होगी। दोनों ही स्थितियों में 'स' को २२वें तार पर ही स्थापित किया जायगा।

ध्रुववीणा के नवें और १३वें तारों पर स्थित 'ग' और 'म' में ही चलवीणा के म-प लीन हो जाते हैं। यानी चलवीणा में ९वें और १३वें तारों पर म-प को स्थित करने के लिये इन तारों को ध्रुववीणा के इन्हीं तारों से मिला कर जाँच लिया जायगा। इस प्रकार चल वीणा के २२ वें, ९वें और १३वें तारों पर स-म-प स्थापित हो जायँगे। इसके बाद शेष स्वर तीसरे, ५वें, १६वें और १८वें तारों पर स्थापित किये जायँगे। यह ध्यान देने योग्य है कि पहली सारणा में जिन तारों पर (अर्थात् तीसरे और १६वें) क्रमशः 'स' और 'प' स्थापित हो चुके हैं उन्हीं तारों पर चौथी सारणा के रि-ध स्थापित होंगे। लेकिन इन तारों की ध्वनियों में कोई परिवर्तन किये बिना रि-ध स्वतः स्थापित हो जाते हैं क्योंकि पहली और चौथी सारणा की श्रुतियाँ एक से नाप की हैं।

स-म-प के नि-ग-म में लीन हो जाने से तीनों की ४-४ श्रुतियाँ, कुल १२ श्रुतियाँ इस सारणा में सिद्ध होती हैं। मतंग ने कहा भी है—*'चतुर्थ्यां द्वादशश्रुतिलाभः'* (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० १०)

इस सारणा से दो बातें सिद्ध होती हैं—१. स-म-प चतुःश्रुतिक ही हैं और २. चतुःश्रुतिक स्वरों में अवरोह क्रम में चौथी श्रुति भी 'प्रमाणश्रुति' ही है अर्थात् चतुःश्रुतिक स्वरों की पहली और चौथी श्रुति एक से नाप की हैं क्योंकि तीसरी सारणा के 'रि' और चौथी सारणा के 'प' में उसी तरह संवाद दिखाई देता है जिस तरह मूल 'रि' और पहली सारणा के 'प' में।

इस प्रकार चतुःसारणा से मुख्य चार तथ्य सिद्ध होते हैं—(१) श्रुतियों की 'इयत्ता' यानी संख्या, (२) २२ श्रुतियों के विभिन्न प्रमाण यानी नाप, (३) श्रुतियों का स्वरों में निश्चित क्रम और (४) अन्तर-काकली, स्वर। सारणा का स्पष्टीकरण और विशेष प्रयोजनों पर चर्चा परिशिष्ट—क में की जायगी।

श्रुतिद्वाविंशतावेवं सारणानां चतुष्टयात्॥ २१॥

ध्रुवाश्रुतिषु लीनायामियत्ता ज्ञायते स्फुटम्।
अतः परं तु रक्तिघ्नं न कार्यमपकर्षणम्॥ २२॥

२१ ग-२२. (अ०) एवं इस प्रकार सारणानां चतुष्टयात् सारणाओं के चतुष्टय से ध्रुवाश्रुतिषु ध्रुव (वीणा) की श्रुतियों में श्रुतिद्वाविंशतौ बाईस श्रुतियों के लीनायां लीन होने से (श्रुतियों की) इयत्ता इयत्ता (इतनी ही हैं यह) स्फुटं ज्ञायते स्फुट जानी जाती है। अतः परं तु इससे आगे (अपकर्ष करने से) तो रक्तिघ्नं रक्ति का नाश (होने से) अपकर्षणं न कार्यं अपकर्ष नहीं करना चाहिये।

(सर०) इयत्ता का अर्थ है कि श्रुतियाँ 'इतनी ही हैं' और उनका स्वरूप।

चार सारणाओं के बाद और सारणा नहीं करनी चाहिये क्योंकि पहले तार को शुरू में मन्द्रतम ध्वनि में मिलाया गया था, उसे और नीचे उतारने पर अनुरणन न रहने से रंजकता नहीं रहेगी। दूसरे, इस तार को नीचे उतारने पर मन्द्र स्थान में चले जाने से पूर्वसिद्ध अन्तरालों की पुनरावृत्ति ही होगी, कोई नया स्वर अथवा श्रुति प्राप्त नहीं होगी। तीसरे, चतुःश्रुति अन्तराल से बड़ा कोई अन्तराल नहीं है इसलिये पाँचवीं सारणा के द्वारा कोई अन्य श्रुति सिद्ध नहीं हो सकती।

सप्तस्वराः

श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते॥ २३॥

तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः।

सप्त स्वर

२३-२४ ख. (अ०) श्रुतिभ्यः श्रुतियों के द्वारा स्वराः स्युः स्वर होते हैं। षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यमाः पञ्चम धैवतः च षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम और धैवत अथ निषादः और निषाद इति ते सप्त ये वे सात (स्वर हैं)। तेषा उनके सरिगमपधनि-इति स, रि, ग, म, प, ध, नि—ये अपराः संज्ञाः अन्य संज्ञाएँ (नाम) मताः मानी गई हैं।

(सर०) 'श्रुतियों से स्वर होते हैं'—ग्रंथकार का यह कथन महत्त्वपूर्ण है और दूसरे शब्दों में मतंग के 'अभिव्यक्ति' के सिद्धान्त की स्वीकृति का सूचक है। श्रुतियों से स्वर कहने में यह अन्वित है कि ४, ३, २ आदि संख्या के श्रुतियों के समूह से विभिन्न स्वर व्यक्त होते हैं।

सिंह० और कल्लि० दोनों ने श्रुति और स्वर के संबंध पर मतंग द्वारा दिये गये पाँच पक्षों को उद्धृत करते हुए व्याख्या की है, यद्यपि सिंह० ने इनकी चर्चा अगले श्लोक की टीका में की है। मतंग के इन पक्षों का सार यहाँ प्रस्तुत है।

(१) स्वर और श्रुति दोनों का ग्रहण एक ही इन्द्रिय—श्रवण—द्वारा होने के कारण दोनों में कोई पृथक् स्पर्श न होने से दोनों में जाति और व्यक्ति की तरह तादात्म्य है।

(२) दर्पण में चेहरे की तरह श्रुतियों में स्वर विवर्तित होते हैं।

(३) जैसे मिट्टी के पिण्ड, दण्ड आदि घट के कारण हैं उसी तरह श्रुतियाँ स्वर का कारण हैं।

(४) जैसे दूध दही के रूप में परिणत होता है उसी तरह स्वर भी श्रुतियों का परिणाम हैं।

(५) अँधेरे में रखे घट आदि को जैसे दीपक अभिव्यक्त कर देता है उसी तरह श्रुतियों के द्वारा स्वर अभिव्यक्त होते हैं।

मतंग ने इनमें से पहले तीन का खंडन करके अन्तिम दो—परिणाम और अभिव्यक्ति—संबंधों को स्वीकार करके श्रुतियों के द्वारा स्वरों की अभिव्यक्ति पक्ष को ही अन्तिम रूप में स्वीकार किया है।

यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि 'श्रुतियों से स्वर' का क्रम वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक दृष्टि से तो समीचीन है लेकिन अनुभूति का क्रम इसके विपरीत है क्योंकि श्रवण-प्रत्यक्ष स्वरों का ही होता है, श्रुतियों का नहीं। भरत ने प्रत्यक्ष से परोक्ष का, क्रिया से सिद्धान्त का क्रम अपनाया है इसलिये स्वर पहले कह कर उसके बाद श्रुति की चर्चा की है। लेकिन शार्ङ्गदेव और बाद के सभी शास्त्रकारों ने इसके विपरीत पहले सिद्धान्त निरूपण करके फिर उसे क्रिया के द्वारा सिद्ध करने का क्रम अपनाया है। इसीलिये शार्ङ्गदेव ने 'श्रुतियों से स्वर' कहे हैं।

मतंग ने बृह० में स्वरनामों की अन्वर्थता सिद्ध की है, यद्यपि संबंधित श्लोक बृह० के मूल पाठ में नहीं मिलते। कल्लि० ने वे श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें स्वर-संज्ञाओं की व्युत्पत्ति अथवा निरुक्तिपूर्वक अन्वर्थता स्पष्ट की गई है। उसका सार व्याख्यासहित प्रस्तुत है।

षड्ज—षड्ज स्वर को यह संज्ञा इसलिये दी गई है कि वह (१) रि ग म प ध नि—इन ६ स्वरों का जनक है, अथवा (२) सप्तक के अंगरूप अन्य ६ स्वरों के द्वारा वह उत्पन्न अथवा प्रकाशित होता है, अथवा (३) नाक, कण्ठ, हृदय, तालु, जीभ और दाँत—शरीर के इन ६ ध्वनि-उत्पादक अंगों से उत्पन्न होता है।

ऋषभ—(१) 'जाना' अर्थ वाली 'ऋष्' धातु से बनने वाले ऋषभ शब्द में धातु के अर्थ के कारण यह अर्थ है कि जो हृदय में अन्य स्वरों के साथ 'जाता' है अर्थात् हृदय को तुरन्त प्रभावित करता है इसलिये ऋषभ कहलाता है। अथवा (२) जैसे गायों के समूह में ऋषभ अर्थात् बलीवर्द (साँड) विशेष रूप से बलवान् दिखाई देता है उसी तरह स्वरों के समूह में ऋषभ स्वर बलवान् होता है। अथवा (३) ऋषभ (साँड) के समान नाद उत्पन्न करता है (नदति) इसलिये वह ऋषभ स्वर है।

गान्धार—(१) 'धारण' अर्थ वाली 'धृ' धातु से 'गो' शब्द उपपद में होने पर 'गान्धार' शब्द बनता है। 'गां धारयतीति

गान्धारः' अर्थात् 'गां' यानी गानात्मिका वाणी को धारण करता है इसलिये यह स्वर गान्धार कहलाता है। अथवा (२) गन्धर्वों के सुख का कारण है इसलिये गान्धार कहलाता है।

मध्यम—सात स्वरों के मध्य में रह कर स्वरों का मान (माप) करने के कारण मध्यम कहलाता है।

पञ्चम—(१) 'विस्तार' अर्थ वाली 'पच्' धातु और 'नापना' अर्थ वाली 'मि' धातु से मिल कर यह शब्द बनता है। तदनुसार अन्य स्वरों के विस्तार को नापता है इसलिये पंचम कहलाता है।

चतुःसारणा विधि से यह स्पष्ट हो चुका है कि सभी स्वरों की अपनी-अपनी श्रुतिसंख्या के रूप में उनके विस्तार को नापने के लिये पंचम से ही क्रिया शुरू करना संभव है, अन्य किसी स्वर से नहीं। इस रूप में पंचम ही अन्य स्वरों को नापता है। इसीलिये प्रथम अपकर्ष से प्राप्त पंचम की श्रुति को 'प्रमाणश्रुति' कहा गया है। इसी तथ्य की ओर यहाँ संकेत है।

अथवा (२) स्वरों के क्रम में यह पञ्चम (पाँचवें) स्थान पर है इसलिये पञ्चम कहलाता है। अथवा (३) उच्चारण स्थानों में पाँचवें स्थान से उत्पन्न होता है इसलिये पञ्चम संज्ञा है।

धैवत—(१) 'धीवान्' अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि वाले व्यक्तियों के द्वारा सुना जाने के कारण धैवत कहलाता है। मतंग के इस कथन की कोई स्पष्ट व्याख्या कल्लि० ने नहीं की है। किन्तु संभवतः उक्त कथन में षड्जग्रामिक स्वरों में धैवत की प्राप्ति संबंधी सूक्ष्म तथ्य की ओर संकेत है। षड्जग्राम में धैवत षड्ज-पंचम अथवा षड्ज-मध्यम संवाद के आधार पर प्राप्त नहीं होता बल्कि मन्द्र षड्ज के तार से स्वतः उत्पन्न होने वाले सप्तश्रुत्यन्तर अन्तर गान्धार (वर्तमान शुद्ध गान्धार) के द्वारा होती है क्योंकि जो अन्तराल षड्ज-अन्तर गान्धार में होता है वही मध्यम-धैवत में है। लेकिन दो प्रमुख संवादों जैसा स्पष्ट न होने और सूक्ष्म श्रवणेन्द्रिय वाले व्यक्तियों के द्वारा ग्राह्य होने के कारण इस संवाद के आधार पर सुना जाने वाला स्वर होने से इसे धैवत संज्ञा दी गई है। अथवा (२) उच्चारण स्थानों में से छठे स्थान ललाट में धारण होता है इसलिये धैवत कहलाता है।

निषाद—'गति' (जाना) अर्थ वाली 'षदलृ' धातु से यह शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'जिसमें पर्यवसित हो'। सप्तक का अन्तिम स्वर होने से अन्य स्वर इसमें पर्यवसित होते हैं इसलिये निषाद कहलाता है।

सिंह० ने संगीतसमयसार का वह अंश उद्धृत किया है जिसमें स्वरों की निरुक्ति दी गई है। यह अंश भी मतंग की पुष्टि करता है।

कल्लि० ने यह संकेत भी दिया है कि इन सात स्वरों का शरीर की सप्त धातुओं और सप्त चक्रों से संबंध भी मतंग के अनुसार समझा जा सकता है। संबंधित अंश बृहद्देशी के मूल पाठ में अथवा कल्लि० द्वारा उद्धृत बृहद्देशी के अंश में नहीं है। लेकिन स्वरों के द्वीपादि की टीका में सिंह० ने मतंग का वह अंश उद्धृत किया है। उपर्युक्त संबंध शारदातनय ने 'भावप्रकाशनम्' (पृ० १८४-८८) में दिखाया है।

प्रयोग की सुविधा के लिये षड्जादि संज्ञाओं के पहले-पहले अक्षर लेकर स, रि, ग आदि नामों का ग्रहण किया गया है। स्वरांकन की यह प्राचीनतम विधि है जो सबसे पहले बृहद्देशी में प्राप्त है। षड्ज और ऋषभ के प्रथम अक्षर 'ष' और 'ऋ' हैं लेकिन इनके बजाय 'स' और 'रि' का ग्रहण किया गया है। सिंह० ने इन्हें अपभ्रंश रूप कहा है।

कल्लि० ने मतंग के आधार पर मन्त्रशास्त्र के अनुसार स, रि, ग आदि नामों के बीज भी बताए हैं। मन्त्रशास्त्र में मन्त्रों के बीज बताने की परम्परा है जो देवी-देवताओं के वाचक माने गए हैं। किसी मन्त्र का बीज कहने का तात्पर्य यह है कि उस बीज के वाचक देवता की उपासना उस मन्त्र में है। 'अ' विष्णु का और 'इ' शक्ति का वाचक माना गया है। यही बीज संगीत के स, रि, ग आदि स्वरों में भी कल्लि० ने मतंग के आधार पर दिखाये हैं। सात स्वर नामों में से 'रि' और 'नि' में इकार है और शेष सब में अकार है इसलिये पूर्वोक्त दो स्वरों को शक्ति का प्रतीक मान कर उनका 'कामबीज' कहा है और शेष स्वरों में 'अ' होने से वे विष्णु के प्रतीक रूप में 'हरिबीज' से युक्त कहे गये हैं।

व्याकरणशास्त्र में अ, इ आदि को स्वर और क्, च्, ट् आदि को व्यंजन कहा जाता है। ऋषभ को छोड़ कर सभी स्वरनामों और स, रि, ग आदि अन्य नामों में आरंभक वर्ण व्यंजन है फिर भी इन्हें स्वर कहा जाता है। इस पर कल्लि० ने शंका उठा कर यह समाधान किया है कि आचार्यों की परिभाषा यानी विशेष प्रयोग के अनुसार ये नाम ध्वनियों के संकेत मात्र हैं इसलिये ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये।

स्वरस्य लक्षणं व्युत्पत्तिश्च

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः॥ २४॥

स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते।

स्वर का लक्षण और व्युत्पत्ति

२४ ग-२५ ख. (अ०) **श्रुति-अनन्तर-भावी** श्रुति के बाद अथवा बिना अन्तर के (अर्थात् ठीक साथ-साथ) होने वाला **यः** जो **स्निग्ध :** स्निग्ध **अनुरणन-आत्मकः** अनुरणनरूप (नाद) **श्रोतृचित्तं** श्रोता के चित्त को **स्वतः रञ्जयति** स्वतः रंजित करता है **सः** वह **स्वरः उच्यते** स्वर कहा जाता है।

(सर०) वीणा के तार में स्वर की अपनी श्रुति के स्थान पर आघात होते ही जो मूल नाद उत्पन्न होता है वह श्रुति और उसके ठीक साथ जो अनुरणन होता है, जो स्निग्ध अर्थात् चिकनेपन से युक्त होते हुए दूर तक सुनाई देता है, जो बिना किसी सहायता के स्वयं अपने ही द्वारा श्रोता के चित्त को रंजित करता है यानी अपने स्वरूप में रँग देता है वह 'स्वर' है।

श्रुति को रणनरूप और स्वर को अनुरणनरूप माना गया है। रणन और अनुरणन को स्पष्ट करने के लिये घंटे के नाद का उदाहरण दिया जाता है। घंटे पर टकोर पड़ते ही जो ध्वनि होती है वह रणन और उसी के साथ उत्पन्न होकर बहुत देर तक जो ध्वनि (गूँज) सुनाई देती रहती है वह अनुरणन कहलाता है। अनुरणन का शाब्दिक अर्थ है 'रणन के बाद होने वाला'।

रणन और अनुरणन को लेकर घंटे का उदाहरण संस्कृत शास्त्रग्रन्थों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने के लिये दिया जाता रहा है। तत और सुषिर—इन दो प्रकार के स्वरवाद्यों में से तत यानी वीणा में ही अनुरणन होता है। यद्यपि घंटे (घन वाद्य) में भी अनुरणन होता है फिर भी संगीतशास्त्र में सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये वीणा का ही आधार लिया जाता रहा है। अभिनवगुप्त ने भी स्वर का लक्षण देते समय 'अभिघात' और 'अनुरणन' शब्दों का प्रयोग किया है। इससे भी ध्वनित होता है कि वीणा के तार पर आघात से उत्पन्न होने वाली और देर तक सुनाई देने वाली अनुरणनरूप ध्वनि को ध्यान में रख कर स्वर का लक्षण दिया गया है। शार्ङ्गदेव ने अभिनव का अनुसरण करते हुए स्वर के लिये 'अनुरणनात्मक' विशेषण का प्रयोग किया है।

सिंह० ने 'श्रुत्यनन्तरभावी' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि तन्त्री पर आघात होने पर जो अनुरणनरहित ध्वनि उत्पन्न होती है वह श्रुति है और उसके अनन्तर यानी बाद जो अनुरणनरूप ध्वनि सुनाई देती है वह स्वर है। कल्लि० ने भी इसी तरह की व्याख्या की है।

यह विचारणीय है कि घंटे पर टकोर पड़ते ही उत्पन्न होने वाली प्रथम ध्वनि और उसके बाद देर तक होने वाले अनुरणन में तो अन्तर स्पष्टतः सुना जा सकता है लेकिन तंत्री पर आघात से उत्पन्न ध्वनि में श्रुति व स्वर के रूप में भिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न नहीं होतीं और न कान द्वारा ग्रहण की जाती हैं। यह ध्यान में रहना चाहिये कि सादृश्य आंशिक रूप में ही लागू होता है। 'न्याय-सिद्धान्तमुक्तावलि' में कहा भी गया है—*'तद्भिन्नत्वे सति तद्गत भूयो धर्मवत्वं सादृश्यं'* (प्रत्यक्ष खण्ड, सादृश्य निरूपण, पृ० २६)*।

---

* प्रका०, श्री कृष्ण वल्लभाचार्य, नागेश्वर पाठशाला, बनारस, १९४०।

इसलिये शास्त्रकारों द्वारा प्रयुक्त अभिघात, रणन, अनुरणन आदि शब्दों के आधार पर श्रुति को अनुरणनहीन और स्वर को रणनयुक्त मानना सिद्धान्त और क्रिया दोनों ही दृष्टियों से समीचीन नहीं है। रणन से ही अनुरणन होने के कारण इन दोनों में पहले-पीछे का क्रम समझा जाता है लेकिन श्रुति-स्वर में ऐसा क्रम नहीं है।

रत्नाकरकार द्वारा प्रयुक्त 'श्रुत्यनन्तरभावी' में 'अनन्तर' शब्द विशेष महत्त्व रखता है। अनन्तर यानी 'नास्ति अन्तरम् अनन्तरं' अर्थात् जिसमें कोई अन्तर न हो (ठीक साथ होने वाला)। इसलिये 'श्रुत्यनन्तरभावी' का अर्थ है 'श्रुति के ठीक साथ होने वाला' और 'अनुरणनात्मक' का अर्थ है 'रणन के बाद होने वाले रूप का'। प्रथम दृष्टि में इन दोनों में विरोध मालूम होता है लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। 'श्रुत्यनन्तरभावी' से यह व्यक्त किया गया है कि श्रुति और स्वर में अन्तर नहीं होता क्योंकि श्रुतियाँ स्वर से अलग नहीं रहतीं, न अलग रहने पर उनका कोई उपयोग है बल्कि वे स्वर में ही रहतीं और स्वर के रूप में ही व्यक्त होती हैं। अभिनव ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है—'*श्रुतयो ह्युच्चनीचतया अपि स्वराश्रया एव प्रतीयन्ते*' (ना०शा०, चतुर्थ खण्ड, पृ० १२) अर्थात् स्वर के आश्रित होकर ही श्रुतियों का ऊँचानीचापन अनुभव में आता है। लेकिन यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि तन्त्री पर आघात से उत्पन्न होने वाली ध्वनि में जो देर तक अनुरणन होता है उसी से स्वर की अनुभूति होती है।

भौतिक रूप से श्रव्य कोई भी ध्वनि आघात के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। यह वैज्ञानिक तथ्य ही अभिघात और अनुरणन अथवा रणन और अनुरणन शब्दों से व्यक्त होता है। उत्पत्ति की प्रक्रिया में उत्पादक और उत्पन्न वस्तु की अलग-अलग सत्ता और पहले-पीछे का क्रम हो सकता है और इस दृष्टि से आघात और अनुरणन में यह अन्तर मानना उचित है। लेकिन श्रुति और स्वर में दोनों की अलग सत्ता या क्रम संभव नहीं है। उदाहरण के लिये वीणा के तार पर षड्ज की ध्वनि के निनादित होते समय उसकी चार श्रुतियाँ न तो अलग-अलग उत्पन्न होती हैं और न ही सुनाई देती हैं। इसलिये श्रुति और स्वर में अभिव्यक्ति के क्रम में भी अन्तर नहीं है लेकिन चार श्रुतियों की उसमें सत्ता होने के कारण ही षड्ज चतुःश्रुति होता है और वे चार श्रुतियाँ षड्ज के रूप में ही व्यक्त होती हैं।

इस चर्चा के द्वारा यह स्थापित होता है कि रणन-अनुरणन के उदाहरण में और श्रुति तथा स्वर में उत्पत्तिक्रम का सादृश्य नहीं है बल्कि, जैसा पहले कहा जा चुका है, जैसे रणन के बिना अनुरणन नहीं होता वैसे ही श्रुति के बिना स्वर व्यक्त नहीं होते। इसी अर्थ में यह कहा जा सकता है कि श्रुतियों से स्वर व्यक्त होते हैं।

'श्रुति' का सामान्य अर्थ है 'सुनाई देने वाली'। लेकिन संगीत की दृष्टि से यह उसका लक्षण नहीं है क्योंकि संगीत में जिसे श्रुति कहा जाता है उसके लिये सिर्फ़ सुनाई देना पर्याप्त नहीं है। दैनिक जीवन में अनेक ध्वनियाँ सुनाई देती हैं लेकिन वे श्रुति नहीं कही जातीं। केवल वही ध्वनियाँ श्रुति कहला सकती हैं जो स्वर बन सकें। स्वर का विशेष लक्षण है रंजकता। इसका अर्थ यह है कि श्रुति में भी रंजकता होनी चाहिये तभी वह स्वर बन सकती है। वैज्ञानिक दृष्टि से मूल अथवा बीज में जो गुण विद्यमान न हो वह उसके द्वारा उत्पन्न या व्यक्त होने वाली वस्तु में भी नहीं हो सकता। बालू से तेल नहीं निकलता, तिल से ही निकल सकता है क्योंकि तिल में तेल का गुण विद्यमान है। इसलिये श्रुति से स्वर की अभिव्यक्ति मानने पर श्रुति में भी रंजकता माननी होगी। चतुःसारणा करने पर जब श्रुतियाँ २२ तारों पर स्थित होती हैं तो वे अत्यन्त रंजक होती हैं। उस स॰. ' वे स्वरों के रूप में ही व्यक्त और सिद्ध होती हैं लेकिन परस्पर ऊँची-नीची ध्वनिरूप श्रुतियों के रूप में उन्हें पहचाना जा सकता है। अभिनव ने कहा है—'*श्रुतिस्थानाभिघातप्रभवशब्दप्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्धमधुरः शब्द एव स्वर इति*' (ना० शा०, २८, पृ० १२)। 'प्रभावित' शब्द में यह संकेत है कि मूलध्वनि में भी स्निग्धता-मधुरता होनी चाहिये अन्यथा स्वर में वह प्रभाव नहीं आ सकता। कुम्भा ने भी श्रुतियों द्वारा मन का रंजन कहा है (सं० राज, २/१/१/१२३)।

अभिनव ने स्वर का जो लक्षण दिया है वह पूर्ण है—'*शब्दस्वभावां चित्तवृत्तिं मध्यस्थतारूपस्वास्थ्यावस्थापरित्याजनेनोपतापयन्तो हृद्यतातिशयवशात् स्वतामाक्षिपन्तः स्वविषये अभिधानं कुर्वन्तः स्वरा इत्युक्ताः*' (अभि०, ना०शा, २८, पृ० १२)। भावार्थ यह है कि स्वर अपनी अतिशय मनोरमता के कारण विकाररहित चित्त को उस अवस्था से छुड़ा कर, पिघला कर उस पर अपना आक्षेप कर देते हैं और अपनी अनुभूति कराते हैं इसलिये वे स्वर कहलाते हैं।

'रञ्जयति' शब्द 'रञ्ज' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'रँग देना'। जो वस्तु रँगी जाती है वह 'तद्रूप' हो जाती है यानी उस पर जो रंग चढ़ाया जाता है उसी रंग की दिखाई देती है। स्वर भी अपनी अनुभूति के क्षणों में इसी तरह चित्त की वृत्ति को पिघला कर अपने माधुर्य के कारण चित्त को अपने (स्वर के) स्वरूप का बना देता है।

श्रुतीनां स्वरहेतुता

ननु श्रुतिश्चतुर्थ्यादिरस्त्वेवं स्वरकारणम्॥ २५॥

त्र्यादीनां तत्र पूर्वासां श्रुतीनां हेतुता कथम्।
ब्रूमस्तुर्यातृतीयाऽऽदिः श्रुतिः पूर्वाऽभिकाङ्क्षया॥ २६॥

निर्धार्यतेऽतः श्रुतयः पूर्वा अप्यत्र हेतवः।

श्रुतियों में स्वर का कारणत्व

२५ ग-२७ ख. (अ०) ननु प्रश्न है कि चतुर्थी-आदि श्रुतिः चौथी आदि श्रुति एवं इस प्रकार स्वरकारणं स्वर का कारण अस्ति (हो सकती) है (लेकिन) तत्र पूर्वासां उन पहले वाली त्र्यादीनां श्रुतीनां तीसरी आदि श्रुतियों की हेतुता कथं हेतुता कैसे (सिद्ध होगी)? ब्रूमः कहते हैं। तुर्या-तृतीया-आदिः श्रुतिः चौथी, तीसरी आदि श्रुति पूर्वा-अभिकाङ्क्षया पूर्व (श्रुति) की अपेक्षा से निर्धार्यते निर्धारित की जाती है। अतः इसलिये पूर्वा श्रुतयः अपि पूर्व श्रुतियाँ भी अत्र यहाँ हेतवः कारण (हैं)।

(सर०) 'ननु' और उसके साथ 'ब्रूमः' या 'उच्यते'—इस प्रकार का प्रयोग दार्शनिक या शास्त्रीय निरूपण की शैली में विशेष महत्त्व रखता है। विरोधी या विपक्षी विचार प्रस्तुत करने अथवा आक्षेप करने या शंका उठाने के लिये संस्कृत में 'ननु' से शुरू करके 'उच्यते' या 'ब्रूमः' के द्वारा उनका तर्कसहित खंडन या समाधान आरंभ किया जाता है।

ग्रंथकार ने यहाँ स्वयं एक शंका उठाई है। षड्ज, ऋषभ आदि ७ स्वर अपने पूर्ववर्ती स्वरों से क्रम से चौथी, तीसरी, दूसरी आदि श्रुतियों पर स्थित हैं इसलिये ये श्रुतियाँ उन स्वरों की अभिव्यक्ति का कारण हैं। लेकिन चतुःश्रुति स्वरों में पहली तीन, त्रिश्रुति स्वरों में पहली दो और द्विश्रुति स्वरों में पहली एक-एक श्रुतियाँ स्वर का कारण कैसे हो सकती हैं? इसका समाधान ग्रंथकार ने इस प्रकार किया है। चौथी, तीसरी, दूसरी कहने का आशय ही यह है कि उनसे पहले क्रमशः तीन-तीन, दो-दो और एक-एक श्रुति होनी चाहियें। चतुःश्रुति स्वर अपनी चार श्रुतियों के कारण ही चतुःश्रुति स्वर बनता है यद्यपि वह व्यक्त चौथी श्रुति पर होता है। इसलिये चौथी श्रुति पिछली तीन श्रुतियों के साथ मिल कर उस स्वर का कारण बनती है, अकेली चौथी श्रुति नहीं। इसी तरह त्रिश्रुति और द्विश्रुति स्वर भी पहली दो-दो और एक-एक श्रुति के साथ तीसरी और दूसरी श्रुति से मिल कर ही अपना स्वरूप प्राप्त करते हैं।

'श्रुति' के द्वारा यहाँ दो प्रयोजन व्यक्त किये गये हैं—१. किसी स्वर का अपने पूर्ववर्ती स्वर से अन्तर यानी दूरी बताना और २. किसी स्वर की स्थिति या स्थान बताना। जैसे, षड्ज को चतुःश्रुति कहने का अर्थ यह है कि निषाद से उसकी ४ श्रुति की दूरी है। इसमें यह भी अन्वित है कि वह चौथी श्रुति पर स्थित है। अगर ऐसा न हो तो उसे चतुःश्रुतिक कहना निष्प्रयोजन या निरर्थक होगा। चौथी, तीसरी आदि संख्यावाचक शब्दों को उनसे पहले की पहली-दूसरी-तीसरी आदि की अपेक्षा रहती है।

जब किसी स्वर के आन्दोलन अथवा सेवर्ट अथवा इंचों में दूरी बताई जाती है तो वहाँ भी वह संख्या पूरी होने पर ही स्वर की अभिव्यक्ति मानी जाती है। जैसे, 'स' के २४० आन्दोलन कहें तो २४० की संख्या पूरी होने पर ही उस ध्वनि को 'स' कहा जायेगा इससे पहले नहीं। इसी तरह चतुःश्रुति कहने का भी यही अर्थ है कि जहाँ चार श्रुतियाँ पूरी होंगी वहीं

चतुःश्रुति स्वर व्यक्त होगा। इससे यह भी प्रकट है कि स्वर जहाँ व्यक्त होता है वह उसकी अन्तिम सीमा होती है।

ग्रंथकार द्वारा उठाई गई शंका में भरत और शार्ङ्गदेव के दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट दिखाई देता है। भरत ने लक्ष्य के आधार पर लक्षण का यानी स्वर के आधार पर श्रुति का निरूपण किया है जबकि शार्ङ्गदेव ने श्रुति के आधार पर स्वर का किया है। भरत के लिये स्वर एक इकाई है और श्रुतिसंख्या उसके क्षेत्र को सूचित करती है इसीलिये उसने षड्जादि स्वरों में ४, ३ आदि श्रुतियाँ कहीं, चौथी, तीसरी आदि श्रुति पर स्वरों की स्थिति नहीं बताई। अभिनव के इस अंश से भी यह स्पष्ट होता है कि श्रुतिसंख्या का नियम स्वर के स्वरूप के लिये है—'*ततः स्वरे तत्कृतश्च श्रुतिसंख्यानियमः। अत एव निरन्तरध्वन्यंशश्रवणे विरूपस्वरश्रवणम्। तत एव तिस्रः श्रुतयः ऋषभ इत्यादि वक्ष्यते न तु तृतीया श्रुतिरिति*' (अभि०, २८, पृ० १६-१७)।

यह उल्लेखनीय है कि वादी-संवादी प्रकरण में जहाँ शार्ङ्गदेव ने ८ या १२ श्रुतियों का अन्तर संवादी का लक्षण दिया है वहाँ इसे स्पष्ट करते हुए कल्लि० ने भी 'स्वर की आधार श्रुति छोड़ कर' अर्थ किया है। लेकिन श्रुतिनिदर्शन में चतुःश्रुति आदि की व्याख्या में उसने भी यह कहा—'*स्वाभिव्यक्तिकरणत्वेन चतस्रः श्रुतियो यस्येति स तथोक्तः*' (सं०र०, १/३/१०-१६, पृ० ७३)। अपनी अभिव्यक्ति के करण के रूप में जिसकी चार श्रुतियाँ हैं वह चतुःश्रुति स्वर है—उसका यह कथन चतुःश्रुति स्वर के स्वरूप को बनाने में चार श्रुतियों का साधनभूत होना व्यक्त करता है, केवल स्वर का स्थान नहीं।

श्रुतिजातयः

दीप्ताऽऽयता च करुणा मृदुर्मध्येति जातयः॥ २७॥
श्रुतीनां पञ्च,

श्रुतिजातियाँ

२७ ग-२८ क. (अ०) दीप्ता आयता करुणा मृदुः मध्या च इति दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु और मध्या—ये **श्रुतीनां** श्रुतियों की **पञ्च जातयः** पाँच जातियाँ (हैं)।

तासां स्वरविनियोगश्च

तासां च स्वरेष्वेवं व्यवस्थितिः।
दीप्ताऽऽयता मृदुर्मध्या षड्जे स्यादृषभे पुनः॥ २८॥
संस्थिता करुणा मध्या मृदुर्गान्धारके पुनः।
दीप्ताऽऽयते, मध्यमे ते मृदुमध्ये च संस्थिते॥ २९॥
मृदुर्मध्याऽऽयताऽऽख्या च करुणा पञ्चमे स्थिता।
करुणा चायता मध्या धैवते, सप्तमे पुनः॥ ३०॥
दीप्ता मध्येति,

स्वरों में श्रुतिजातियों का विनियोग

२८ख-३१ क. (अ०) तासां च और उनकी **स्वरेषु** स्वरों में **एवं व्यवस्थितिः** इस प्रकार व्यवस्था (है)। **षड्जे** षड्ज में **दीप्ता-आयता-मृदुः मध्या स्यात्** दीप्ता, आयता, मृदु, मध्या होती है। **पुनः ऋषभे** फिर ऋषभ में **करुणा-मध्या-मृदुः संस्थिता** करुणा, मध्या, मृदु संस्थित (हैं)। **पुनः गान्धारके** फिर गान्धार में **दीप्ता-आयते** दीप्ता और आयता, **मध्यमे** मध्यम

में ते वे (दोनों अर्थात् दीप्ता-आयता) मृदुमध्ये च तथा मृदु, मध्या संस्थिते संस्थित (हैं)। पञ्चमे पंचम में मृदुः मध्या आयता-आख्या करुणा च मृदु, मध्या, आयता नामक और करुणा (श्रुति) स्थिता स्थित (है)। धैवते धैवत में करुणा आयता मध्या च करुणा, आयता और मध्या, पुनः सप्तमे फिर सातवें (निषाद) में दीप्ता मध्या इति दीप्ता (और) मध्या—ये (स्थित होती हैं)।

(सर०) उपर्युक्त पाँच संज्ञाओं का उल्लेख ना०शा० में भी इस प्रकार है—

श्रुतयोऽन्त्याद्(न्या) द्वितीयस्य मृदुमध्यायताः स्वराः (स्मृताः)॥
आयतत्वं भवेन्नीचे मृदुत्वं तु विपर्यये।
स्वे स्वरे मध्यमत्वं च मृदुमध्यमयोस्तथा।
दीप्तायते करुणानां श्रुतीनामेष निश्चयः॥ (ना०शा०, २९/-३६-३७)

इन्हें उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हुए अभिनव ने कहा कि अगर गान्धार का प्रयोग करने के बाद फिर से गान्धार लगाया जाय तो जिस श्रुति पर गान्धार स्थित है वह 'मध्या' होती है। अगर गान्धार के बाद मध्यम का प्रयोग हो तो गान्धार की श्रुति 'मृदु' कहलाती है और गान्धार के बाद ऋषभ हो तो गान्धार की श्रुति 'आयता' कहलाती है। (वही, अभि०, पृ० ८९) इससे प्रकट होता है कि स्वरों में श्रुतिजाति नियत नहीं है। ऊपर उद्धृत भरत के श्लोक लगभग उसी रूप में 'नारदीय-शिक्षा' में भी मिलते हैं।

शार्ङ्गदेव ने स्वरों में निश्चित श्रुतिजातियाँ कही हैं। यह परम्परा कहाँ से प्राप्त हुई यह अभी प्रश्न ही है। सिंह० ने श्रुतिजाति के निरूपण का प्रयोजन यह कहा है कि श्रुतिजाति के नामशब्द का जो अर्थ है वही भाव उस स्वर से भी व्यक्त होता है जिस स्वर की वह श्रुति जाति है। जैसे, दीप्ता श्रुति सुन कर चित्त उद्दीप्त होता है, आयता के द्वारा चित्त का विस्तार होता है। इससे लगता है कि इन जातियों को उनसे उत्पन्न चित्त की अवस्था विशेष के साथ जोड़ा गया है।

श्रुतिजातीनां श्रुतिभेदाः

तासां च जातीनां ब्रूमहे भिदाः।
तीव्रा रौद्री वज्रिकोग्रेत्युक्ता दीप्ता चतुर्विधा॥ ३१॥

कुमुद्वत्यायतायाऽस्याः क्रोधा चाथ प्रसारिणी।
संदीपनी रोहिणी च भेदाः पञ्चेति कीर्तिताः॥ ३२॥

दयावती तथाऽऽलापिन्यथ प्रोक्ता मदन्तिका।
त्रयस्ते करुणाभेदा मृदोर्भेदचतुष्टयम्॥ ३३॥

मन्दा च रतिका प्रीतिः क्षितिर्मध्या तु षड्विधा।
छन्दोवती रञ्जनी च मार्जनी रक्तिका तथा॥ ३४॥

रम्या च क्षोभिणीति,

श्रुतिजातियों के श्रुतिभेद

३१ ख-३५क. (अ०) तासां च और उनकी (श्रुतियों की) जातीनां भिदाः जातियों के भेद ब्रूमहे कहते हैं। तीव्रा रौद्री वज्रिका-उग्रा इति तीव्रा, रौद्री, वज्रिका (और) उग्रा—ये चतुर्विधा चार प्रकार की दीप्ता उक्ता दीप्ता कही गई है।

अस्याः इस आयतायाः आयता के **कुमुद्वती क्रोधा च अथ प्रसारिणी संदीपनी रोहिणी च** कुमुद्वती, क्रोधा और अब प्रसारिणी, संदीपनी तथा रोहिणी **इति पञ्च भेदाः** ये पाँच भेद **कीर्तिताः** प्रसिद्ध हैं। **दयावती तथा आलापिनी** दयावती और आलापिनी **अथ मदन्तिका** इसके बाद मदन्तिका **ते त्रयः** वे तीन **करुणाभेदाः प्रोक्ताः** करुणा के भेद कहे गये हैं। **मृदोः** मृदु के **भेदचतुष्टयं** चार भेद (हैं)—**मन्दा रतिका प्रीतिः क्षितिः च** मन्दा, रतिका (रक्तिका), प्रीति और क्षिति। **छन्दोवती रञ्जनी च** छन्दोवती और रंजनी **मार्जनी रक्तिका तथा** मार्जनी और रक्तिका (रक्ता) **रम्या च क्षोभिणी इति** रम्या और क्षोभिणी—यों **मध्या तु षड्विधा** मध्या तो ६ प्रकार की (है)।

श्रुतिषु स्वरस्थितिः

आसामथ ब्रूमः स्वरस्थितिम्।
तीव्राकुमुद्वतीमन्दाच्छन्दोवत्यस्तु षड्जगाः॥ ३५॥

दयावती रञ्जनी च रक्तिका चर्षभे स्थिताः।
रौद्री क्रोधा च गान्धारे वज्रिकाऽथ प्रसारिणी॥ ३६॥

प्रीतिश्च मार्जनीत्येताः श्रुतयो मध्यमाश्रिताः।
क्षिती रक्ता च सन्दीपन्यालापिन्यपि पञ्चमे॥ ३७॥

मदन्ती रोहिणी रम्येत्येतास्तिस्रस्तु धैवते।
उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती॥ ३८॥

श्रुतियों में स्वरों की स्थिति

३५ ख-३८ (अ०) अथ अब **आसां** इन (श्रुतियों) की **स्वरस्थितिं** स्वरों में स्थिति को **ब्रूमः** कहते हैं। **तीव्रा-कुमुद्वती-मन्दा-छन्दोवत्यः तु** तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती तो **षड्जगाः** षड्जगामी (हैं)। **दयावती रञ्जनी च रक्तिका च** दयावती और रंजनी तथा रक्तिका **ऋषभे स्थिताः** ऋषभ में स्थित हैं। **रौद्री क्रोधा च** रौद्री और क्रोधा **गान्धारे** गान्धार में, **अथ वज्रिका प्रसारिणी प्रीतिः च मार्जनी** इसके बाद वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति और मार्जनी **इति एताः श्रुतयः** इस प्रकार ये श्रुतियाँ **मध्यम-आश्रिताः** मध्यम के आश्रित हैं। **क्षिती रक्ता च** क्षिति और रक्ता **सन्दीपनी-आलापिनी-अपि** संदीपनी (और) आलापिनी भी **पञ्चमे** पंचम में (स्थित हैं)। **मदन्ती रोहिणी रम्या** मदन्ती, रोहिणी (और) रम्या **इति** इस प्रकार **एताः तिस्रः तु** ये तीन तो **धैवते** धैवत में (और) **उग्रा च क्षोभिणी** उग्रा और क्षोभिणी **इति द्वे श्रुती** ये दो श्रुतियाँ **निषादे वसतः** निषाद में रहती हैं।

(सर०) श्रुति से संबंधित दीप्तादि संज्ञाएँ संगीतरत्नाकर से पहले नारदीयाशिक्षा, नाट्यशास्त्र, भरतभाष्य (३/८३-११३) और अभिनवभारती (ना० शा०, २८/२१, पृ० १२ और २९/३६-३७, पृ० ८९) में भी हैं। लेकिन इनमें से किसी में भी दीप्तादि को 'श्रुतिजाति' नहीं कहा गया। इस संज्ञा का प्रयोग संगीतरत्नाकर में ही सबसे पहले हुआ है।

सामान्य रूप से 'दीप्ता' का अर्थ है उत्तेजित या उद्दीप्त, 'आयता' का विस्तृत, 'करुणा' का पिघलाने वाली या आर्द्र करने वाली, 'मृदु' का कोमल और 'मध्या' का मध्यम। ऊपर उल्लिखित सभी ग्रंथों में इन संज्ञाओं का जिस संदर्भ में अथवा जिस रूप में प्रयोग हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि वहाँ स्वर के रूप में श्रव्य ध्वनि के गुण को व्यक्त करने के लिये ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं, श्रुतिस्थान यानी तारता अथवा माप के लिये नहीं।

हर स्वर का अपना एक सामान्य गुण या प्रभाव होता है लेकिन स्वर प्रयोग के वैशिष्ट्य यानी स्वर लगाने के ढंग के आधार पर उसका गुण भिन्न भी हो सकता है। जैसे, गांधार की श्रुति सामान्य रूप से दीप्ता है लेकिन भिन्न स्थिति में वह

आयता, मृदु या मध्या भी हो सकती है। इसीलिये हर स्वर में दीप्ता, आयता आदि में से कौन-कौन सी श्रुति हो सकती है इसे सूचित करने के लिये यहाँ ग्रंथकार ने स्वरों में श्रुति-जातियाँ कही हैं।

श्रुति-जातियाँ ५ ही हैं लेकिन स्वरों में उनके २२ भेद होते हैं जिन्हें तीव्रा आदि नाम दिये गये हैं। ये नाम भी स्वर ध्वनियों के गुणों के सूचक हैं। यह कहा जा सकता है कि दीप्तादि ५ जातियों के २२ भेदों के ही नाम तीव्रादि हैं। लेकिन जैसा ऊपर कहा जा चुका है ये तारतारूप २२ श्रुतियों के नियत नाम नहीं हैं। इस प्रकार स्थान रूप श्रुतियाँ भी २२ हैं और गुणरूप श्रुतियाँ भी २२। शार्ङ्गदेव ने दोनों का निरूपण अलग-अलग किया है और उन्हें परस्पर संबद्ध नहीं किया है। इससे भी स्पष्ट है कि ये दो भिन्न धारणाएँ हैं। सिंह० ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि उस-उस जाति की श्रुति को सुन कर नाम के साम्य से मन में वैसा-वैसा विकार (भाव) उत्पन्न होता है, यह सूचित करने के लिये श्रुतिजाति का निरूपण ग्रंथकार ने किया है। जैसे, दीप्ता को सुन कर मन में दीप्तत्व, आयता को सुन कर आयतत्व आदि होता है।

सबसे पहले कल्लि० ने श्रुति संबंधी इन दो भिन्न धारणाओं को षड्जग्राम-मध्यमग्राम के प्रसंग में परस्पर संबद्ध किया है जब 'स्वचतुर्थश्रुतिसंस्थिते' और 'स्वोपान्त्यश्रुतिसंस्थे' का उसने यह अर्थ किया कि अपनी चौथी श्रुति पर यानी करुणा जाति के आलापिनी नामक भेद वाली १७वीं श्रुति पर पंचम के स्थित होने से षड्जग्राम होता है और आयता के संदीपनी भेद वाली १६वीं श्रुति पर पंचम स्थित होने पर मध्यमग्राम होता है। स्पष्ट है कि कल्लि० ने गुणसूचक करुणा आदि ५ जातियों, तीव्रादि २२ नामों और भिन्न तारता वाली २२ ध्वनियों (श्रुतियों) को मिला दिया है।

ग्रंथकार ने सबसे पहले दीप्तादि ५ जातियाँ गिनाई हैं। इसके बाद हर स्वर की जातियाँ बताई हैं, जैसे—षड्ज में ४ जातियाँ—दीप्ता, आयता, मृदु और मध्या। इसके बाद इन जातियों के भेद के रूप में जातियों के अन्तर्गत श्रुतियाँ नामसहित दी हैं, जैसे—दीप्ता जाति का संबंध ४ स्वरों से है इसलिये इस जाति के ४ भेद कहे और उनके नाम दिये—तीव्रा, रौद्री, वज्रिका और उग्रा। अन्त में प्रत्येक स्वर में श्रुतियों की स्थिति कही है, जैसे—षड्ज में तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा और छन्दोवती।

श्रुतिजाति संबंधी निरूपण में शार्ङ्गदेव का आधार 'भरतभाष्य' है जहाँ से लगभग पूरा विषय शार्ङ्गदेव ने लिया है।*

स्वराणां त्रैविध्यम्

ते मन्द्रमध्यताराख्यस्थानभेदात्त्रिधा मताः।

स्वरों की त्रिविधता

३९ क-ख. (अ०) ते वे (स्वर) **मन्द्र-मध्य-तार-आख्य** मन्द्र, मध्य, तार नामक **स्थानभेदात्** स्थानों के भेद से **त्रिधा मताः** तीन प्रकार के माने गये हैं।

(सर०) ७वें श्लोक में हृदय, कंठ और मूर्धा में क्रमशः मन्द्र, मध्य और तार नाद कहा जा चुका है। षड्जादि ७ स्वर भी शरीर के इन्हीं हृदयादि तीन स्थानों से उत्पन्न या व्यक्त होते हैं इसलिये वे भी मन्द्रादि तीन प्रकार के हैं जिन्हें मन्द्रस्थान, मध्यस्थान और तारस्थान के स्वर कहा जाता है। मूलतः ये स्वर शरीर में उत्पन्न होते हैं लेकिन वाद्यों में उत्पन्न स्वरों के लिये भी इनके अनुकरण पर मन्द्रादि शब्दों का ही प्रयोग होता है।

सिंह० ने यह स्पष्ट किया है कि मन्द्र, मध्य, तार के आधार पर जो स्वरभेद कहा है वह वास्तविक नहीं है बल्कि स्थान पर आधारित है। जिस तरह देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति तीन मंज़िले भवन की तीन अलग-अलग मंज़िलों में रह कर अलग-अलग व्यक्ति सा लगता है लेकिन वास्तव में यह वही देवदत्त है, यह पहचान हर मंज़िल के व्यक्ति में होती है, उसी

---

* श्रुतिजाति के स्पष्टीकरण के लिये द्रष्टव्य—

१. डॉ० सी० कुन्हन राजा द्वारा संगीतरत्नाकर के प्रथम अध्याय के अंग्रेज़ी अनुवाद में श्रुतिजाति संबंधी टिप्पणियाँ (पृ० ५२-५५)।

२. डॉ० एँन्० रामनाथन् का लेख—'The Concept of Sruti-Jati-s'.

तरह वही ७ स्वर मन्द्रादि तीन स्थानों में अलग-अलग से भासित होते हुए भी यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि जो मन्द्रस्थान में षड्ज था वही यह मध्य अथवा तारस्थान में षड्ज है। इसीलिये ग्रंथकार ने यह कहा है कि षड्जादि ७ स्वर तीन स्थानों के भेद से तीन प्रकार के माने गये हैं।

द्वादशविकृतस्वराः

त एव विकृतावस्था द्वादश प्रतिपादिताः॥ ३९॥

बारह विकृत स्वर

३९ ग-घ. (अ०) ते एव वे ही विकृत-अवस्थाः विकृत अवस्था वाले द्वादश प्रतिपादिताः बारह प्रतिपादित किये गये हैं।

(सर०) बारह विकृत स्वर दो प्रकार के स्वरसाधारण की प्रक्रिया तथा ग्रामभेद से प्राप्त होते हैं जो ग्रामरचना की विधि और स्वरसाधारण में अगले प्रकरणों में स्पष्ट किये जाने वाले हैं। लेकिन ग्रंथकार ने अगले श्लोकों में संक्षेप में विकृत स्वरों के नाम और उनकी श्रुतिसंख्या व स्थिति को बताया है।

च्युतोऽच्युतो द्विधा षड्जो द्विश्रुतिर्विकृतो भवेत्।
साधारणे काकलीत्वे निषादस्य च दृश्यते॥ ४०॥

४०. (अ०) द्विश्रुतिः विकृतः षड्जः द्विश्रुति (वाला) विकृत षड्ज च्युतः अच्युतः च्युत (और) अच्युत द्विधा भवेत् दो प्रकार का होता है निषादस्य च और निषाद के साधारणे काकलीत्वे (क्रमशः) साधारणत्व और काकलीत्व में दृश्यते दिखाई देता है।

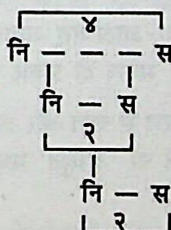
(सर०) विकृत स्वरों के प्रसंग में 'अन्तर साधारण' और 'कैशिक साधारण' शब्दों का प्रयोग बार-बार हुआ है। इनके अर्थ और प्रक्रिया को विस्तार से तो इसी अध्याय के पाँचवें 'साधारण प्रकरण' में समझाया जायेगा लेकिन विषय को स्पष्ट करने के लिये हम यहाँ संक्षेप में हर स्वर की श्रुति-अवस्था दिखाते हुए उस स्वर के स्थान और पिछले स्वर से उसके अन्तराल का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

षड्ज में दो तरह से विकार आता है। 'कैशिक साधारण' होने पर निषाद अपने स्थान से एक श्रुति चढ़ता है और षड्ज एक श्रुति उतरता है। इस प्रकार षड्ज द्विश्रुति होता है और अपने स्थान से उतर जाने के कारण 'च्युत' षड्ज कहलाता है। 'अन्तर साधारण' में निषाद अपने स्थान से दो श्रुति चढ़ कर काकली कहलाता है। तब भी षड्ज द्विश्रुति होता है लेकिन अपने मूल स्थान से च्युत न होने के कारण 'अच्युत' कहलाता है। अच्युत रहते हुए भी निषाद से उसका अन्तराल बदल जाता है इसलिये उसे केवल षड्ज भी नहीं कहा जा सकता इसीलिये 'अच्युत' कहा है।

स्वरों की मूल अवस्था

प्रथम विकार च्युत षड्ज

द्वितीय विकार अच्युत षड्ज



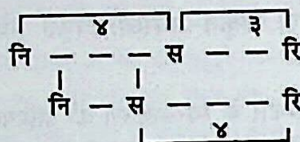
साधारणे श्रुतिं षाड्जीमृषभः संश्रितो यदा।
चतुःश्रुतित्वमायाति तदैको विकृतो भवेत्॥ ४१॥

४१. (अ०) साधारणे (षड्ज) साधारण में यदा जब ऋषभः ऋषभ षाड्जीं श्रुतिं संस्थितः षड्ज की श्रुति से संश्रित (होकर) चतुःश्रुतित्वम् आयाति चतुःश्रुतित्व को प्राप्त होता है तदा तब एकः विकृतः भवेत् एक (ही) विकृत (ऋषभ) होता है।

(सर०) ऊपर देख चुके हैं कि कैशिक साधारण में षड्ज अपने स्थान से एक श्रुति नीचे उतरता है। इस स्थिति में षड्ज की वह श्रुति ऋषभ को मिल जाने से मूल त्रिश्रुति ऋषभ चतुःश्रुति हो जाता है। यही ऋषभ की एकमात्र विकृत अवस्था है।

मूल अवस्था

विकृत ऋषभ



साधारणे त्रिश्रुतिः स्यादन्तरत्वे चतुःश्रुतिः।
गान्धार इति तद्भेदौ द्वौ निःशङ्केन कीर्तितौ॥ ४२॥

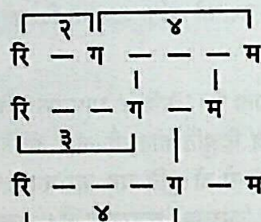
४२. (अ०) साधारणे (कैशिक) साधारण में त्रिश्रुतिः त्रिश्रुति (और) अन्तरत्वे अन्तरत्व (अन्तर साधारण) में चतुःश्रुतिः गान्धारः चतुःश्रुति गान्धार इति तत् द्वौ भेदौ यों उस (गान्धार) के दो भेद निःशङ्केन कीर्तितौ निःशङ्क (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कहे गये हैं।

(सर०) कैशिक साधारण होने पर द्विश्रुति गांधार अपने स्थान से एक श्रुति चढ़ जाने के कारण त्रिश्रुति हो जाता है। अन्तर साधारण होने पर दो श्रुति चढ़ने से चतुःश्रुति होता है। इसलिये गान्धार के ये दो विकृत भेद होते हैं जो क्रमशः साधारण गान्धार और अन्तर गान्धार कहे जाते हैं।

मूल अवस्था

प्रथम विकार साधारण गांधार

द्वितीय विकार अन्तर गांधार



मध्यमः षड्जवद् द्वेधाऽन्तरसाधारणाश्रयात्।

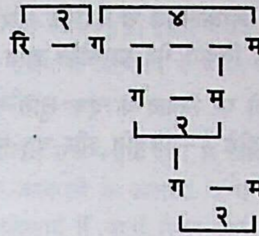
४३. क-ख. (अ०) अन्तर-साधारण-आश्रयात् अन्तर (अन्तर गांधार और) साधारण (साधारण गांधार) के आश्रय से मध्यमः मध्यम षड्जवद् द्वेधा षड्ज के समान दो प्रकार का (होता है)।

(सर०) जिस तरह दो प्रकार के साधारण से च्युत और अच्युत षड्ज बताया जा चुका है उसी तरह गान्धार का कैशिकत्व होने पर 'च्युत' मध्यम और 'अन्तरत्व' होने पर 'अच्युत' मध्यम—ये दो विकार मध्यम के भी होते हैं।

मूल अवस्था

प्रथम विकार च्युत मध्यम

द्वितीय विकार अच्युत मध्यम



पञ्चमो मध्यमग्रामे त्रिश्रुतिः कैशिके पुनः ॥ ४३ ॥

मध्यमस्य श्रुतिं प्राप्य चतुःश्रुतिरिति द्विधा।

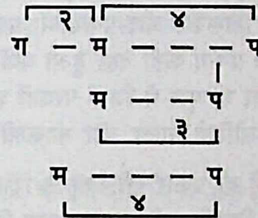
४३ ग-४४ ख. (अ०) पञ्चमः पंचम मध्यमग्रामे त्रिश्रुतिः मध्यमग्राम में त्रिश्रुति (होता है)। पुनः कैशिके लेकिन कैशिक(-साधारण) में मध्यमस्य श्रुतिं प्राप्य मध्यम की (एक) श्रुति को प्राप्त करके चतुःश्रुति चतुःश्रुति इति द्वेधा यों दो प्रकार का (होता है)।

(सर०) षड्जग्राम के पंचम के एक प्रमाणश्रुति उतरने पर वह मध्यमग्राम का पंचम बन जाता है जिसकी मध्यम से दूरी त्रिश्रुतिक है। लेकिन कैशिक साधारण में मध्यम अपने मूल स्थान से एक श्रुति नीचे चला जाता है और मध्यमग्रामिक त्रिश्रुति पंचम चतुःश्रुति बन जाता है। यह पंचम षड्जग्रामिक पंचम से तो एक श्रुति उतरा हुआ ही है लेकिन मध्यम की एक श्रुति प्राप्त करके चतुःश्रुतिक हो जाता है। इस प्रकार पंचम के दो विकृत भेद—मध्यमग्रामिक त्रिश्रुति पंचम और मध्यमग्रामिक चतुःश्रुतिक पंचम हैं।

मूल अवस्था

प्रथम विकार मध्यमग्रामिक त्रिश्रुति पंचम

द्वितीय विकार मध्यमग्रामिक चतुःश्रुतिक पंचम



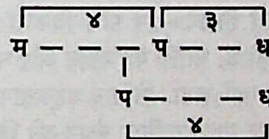
धैवतो मध्यमग्रामे विकृतः स्याच्चतुःश्रुतिः ॥ ४४ ॥

४४ ग-घ. (अ०) मध्यमग्रामे मध्यमग्राम में विकृतः धैवतः विकृत धैवत चतुःश्रुतिः स्यात् चतुःश्रुति होता है।

(सर०) मध्यमग्राम में पंचम के मूलस्थान से एक श्रुति उतरने से उसकी वह श्रुति धैवत को मिल जाती है। इस प्रकार धैवत में वास्तव में कोई विकार न होने पर भी अन्तराल बदल जाने से उसे विकृत कहा गया है।

मूल अवस्था

विकृत धैवत



कैशिके काकलीत्वे च निषादस्त्रिचतुःश्रुतिः।

प्राप्नोति विकृतौ भेदौ द्वौ,

४५ क-ग. (अ०) कैशिके काकलीत्वे च कैशिक और काकलीत्व में निषादः निषाद त्रि-चतुश्श्रुतिः त्रिश्रुति (और) चतुःश्रुति द्वौ विकृतौ भेदौ (ये) दो विकृत भेद प्राप्नोति प्राप्त करता है।

(सर०) कैशिक साधारण होने पर निषाद के एक श्रुति चढ़ने से और अन्तर साधारण में काकली बनने पर दो श्रुति चढ़ने से निषाद के दो विकृत भेद होते हैं—त्रिश्रुति और चतुःश्रुति।

	२ ४
मूल अवस्था	ध — नि — — — स
प्रथम विकार कैशिक निषाद	ध — — नि — स
	३
द्वितीय विकार काकली निषाद	ध — — — नि — स
	४

इति द्वादश स्मृताः ॥ ४५ ॥

ते शुद्धैः सप्तभिः सार्धं भवन्त्येकोनविंशतिः।

४५ घ-४६ ख. (अ०) इति ये द्वादश बारह (विकृत स्वर) स्मृताः माने गये हैं। ते वे सप्तभिः शुद्धैः सार्धं सात शुद्ध (स्वरों) के साथ एकोनविंशतिः भवन्ति उन्नीस होते हैं।

(सर०) स्वरों के संदर्भ में 'शुद्ध' और 'विकृत' संज्ञाओं का प्रयोग भरत और मतंग ने नहीं किया है। लेकिन स्वरसाधारण—विधि में '*विकृतत्वाच्चानंशः*' कह कर अन्तर और काकली को भरत ने विकृत ही माना है। फिर भी साधारण 'ग' और कैशिक 'नि' के निरूपण और प्रयोग में अपने स्थान से स्वतः एक-एक श्रुति उतर जाने वाले मध्यम और षड्ज के लिये 'विकृत' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ क्योंकि वे अन्तर-काकली की तरह स्थिर स्वर नहीं माने गये। भरत काल में षड्जग्राम के स्वर आधार या मूल थे जिन्हें परवर्ती शास्त्रकारों ने 'शुद्ध' संज्ञा दी। इनमें विकार यानी परिवर्तन होने से प्राप्त स्वर 'विकृत' कहलाए। इसीलिये अन्तर और काकली विकृत कहे गए।

शार्ङ्गदेव के स्वरों में दो प्रकार की विकृति दिखाई देती है—१. स्थानविकृति यानी अपने मूल स्थान से हट जाने के कारण स्वर में आने वाली विकृति, और २. अन्तराल विकृति यानी अपने मूल स्थान पर रहते हुए ही स्वर के क्षेत्र में विस्तार या संकोच होने से आने वाली विकृति। इनमें से पहली में वास्तव में ध्वनि में परिवर्तन आता है; जैसे—अन्तर गांधार और काकली निषाद में, जो क्रम से मध्यम और षड्ज की दो-दो श्रुति लेकर चढ़ जाते हैं। दूसरी विकृति में ध्वनि में परिवर्तन नहीं होता; जैसे—मध्यमग्राम का चतुःश्रुति धैवत अथवा अन्तर-काकली वाले साधारण में चतुःश्रुति से द्विश्रुति बने मध्यम और षड्ज।

शार्ङ्गदेव की 'अच्युत' और 'च्युत' संज्ञाएँ इन दोनों प्रकार की विकृतियों की संकेतक हैं। १२ विकृत स्वर कह कर उसने यह भी स्पष्ट किया है कि मध्यमग्रामिक पंचम, दो प्रकार के स्वरसाधारण से प्राप्त होने वाले साधारण और अन्तर गान्धार तथा कैशिक और काकली निषाद—इन पाँच विकारों के कारण किन-किन स्वरों की स्थिति पर क्या-क्या असर पड़ता है। वास्तव में विकृत स्वर ५ ही हैं, यद्यपि षड्जग्राम और मध्यमग्राम दोनों को आधारभूत स्वरावलियाँ मानने के कारण मध्यमग्रामिक पंचम को भरत ने विकृत नहीं कहा। लेकिन षड्जग्राम की प्रधानता और षड्ज के संवादी पंचम के प्राकृतिक होने के कारण उसे मूल स्वीकार करने पर मध्यमग्रामिक पंचम को विकृत ही कहा जायगा। इसीलिये शार्ङ्गदेव ने इस पंचम को विकृत स्वरों में रखा है।

शार्ङ्गदेव से पहले अभिनव ने मध्यमग्रामिक पंचम को विकृत ही बताया है। श्रुतिनिदर्शन में भरत के '*मध्यमग्रामे तु पञ्चमः श्रुत्यपकृष्टः कार्यः*' की टीका में अभिनव ने कहा—'……। *पूर्णत्वात् तच्च स्वरद्वयमेव पञ्चमस्य चतुश्श्रुतिकत्वविरमात्काकल्यन्तरयो-*

श्चतुश्श्रुतिकत्वं विकारो न स्वभावः' (अभि०, २८, पृ० २१, पं० १२-१३)। इसमें पंचम के चतुःश्रुतिक न रहने पर उस त्रिश्रुति पंचम को विकार कहा गया है। इसी तरह स्वरसाधारण के प्रसंग में अभिनव ने पंचम की इस विकृति को याद दिलाया है— '........ *पञ्चमस्य त्रिश्रुतिकाभिधाने दर्शितैव विकृतिः'* (वही, पं० २२)।

भरत सम्प्रदाय में इन १२ विकृत स्वरों को एक के बाद एक—इस क्रम से किसी वीणा पर स्थापित नहीं किया जाता था। हर स्वर के लिये स्वतंत्र तार वाली वीणाओं में अन्तर-काकली के अलावा अन्य किसी विकृत स्वर के लिये न तो तंत्री है और न ही सारिका (पर्दे वाले) वाद्यों में अतिरिक्त सारिकाएँ हैं यानी स्थिर स्वरों के रूप में केवल अन्तर-काकली के लिये स्वतंत्र व्यवस्था है और संभवतः पंचम के तार या पर्दे को ही मध्यमग्रामिक पंचम में मिलाने की व्यवस्था रही होगी।

१६वीं १७वीं शताब्दी में कुछ दाक्षिणात्य ग्रंथकारों ने शार्ङ्गदेव के १२ विकृत स्वर नामों को भिन्न स्वर समझ कर तत्कालीन वीणा पर स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस स्थापना विधि और उसके परिणामों पर परिशिष्ट—ख में प्रकाश डाला गया है।

स्वराणाम्-उच्चारयितारः

मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः ॥४६॥

गजश्च सप्त षड्जादीन्क्रमादुच्चारयन्त्यमी।

स्वरों के उच्चारकर्ता

४६ ग-४७ ख. (अ०) मयूर-चातक-च्छाग-क्रौञ्च-कोकिल-दर्दुराः गजः च मोर, चातक, बकरी, क्रौंच, कोयल, मेंढक और हाथी अमी सप्त ये सात क्रमात् क्रम से षड्ज-आदीन् षड्ज आदि (सात स्वरों) को (का) उच्चारयन्ति उच्चारण करते हैं।

स्वराणां चातुर्विध्यम्

चतुर्विधाः स्वरा वादी संवादी च विवाद्यपि॥ ४७॥

अनुवादी च, वादी तु प्रयोगे बहुलः स्वरः।

स्वरों की चतुर्विधता—वादी-संवादी-विवादी-अनुवादी

४७ ग-४८ ख. (अ०) स्वराः चतुर्विधाः स्वर चार प्रकार के (होते हैं)—वादी संवादी च वादी और संवादी विवादी अपि विवादी भी अनुवादी च तथा अनुवादी। वादी तु वादी तो प्रयोगे प्रयोग में बहुलः स्वरः बहुल (अर्थात् अत्यधिक प्रयुक्त होने वाला) स्वर (है)।

(सर०) वादी का लक्षण भरत ने *'वदनाद्वादी'* दिया है। अर्थात् बोलने के कारण वादी है। मतंग ने भी यही लक्षण देकर स्पष्टीकरण भी किया है। उसके अनुसार 'वदन' यानी बोलना तो चेतन प्राणी का धर्म है अचेतन स्वर का कैसे हो सकता है? वास्तव में बोलने का अर्थ 'प्रतिपादकत्व' यानी राग के रागत्व को उत्पन्न करना है— *'वदनाद् वादी स्वामिवत्। ...... ननु वदनादिकं प्राणिधर्मः कथमचेतनानां स्वराणां सम्भवति? सत्यमुक्तम्। वदनं हि नामात्र [राग]प्रतिपादकत्वं विवक्षितम्, न वचनमिति। किं तत् प्रतिपादयति? रागस्य रागत्वं जनयति।'* (बृह०, प्रथम खण्ड, अनु० २०-२१)

वादी के भरत और मतंग के प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं है। भरत ने संक्षिप्त लक्षण दिया है और मतंग ने स्पष्टीकरण भी किया है। रागत्व को उत्पन्न करने का अर्थ है राग के स्वरूप को बनाना। जाति-राग आदि में अंश के रूप में सर्वाधिक

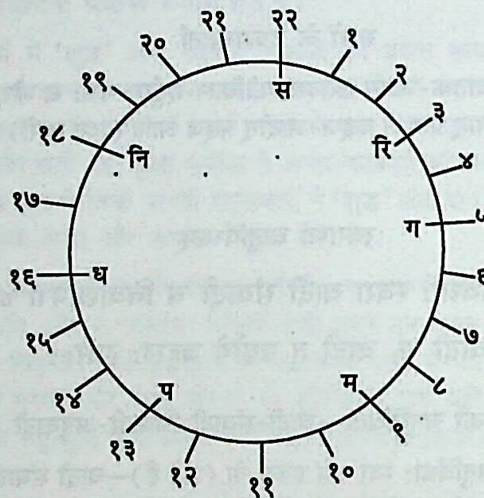
प्रयुक्त होकर बोलते रहने के कारण वादी जाति आदि के स्वरूप का निर्माता है। इसीलिये भरत ने कहा है—*'तत्र यो यदांशः स तदा वादी'* (ना०शा, २८, पृ० १५)।

श्रुतयो द्वादशाष्टौ वा ययोरन्तरगोचराः ॥ ४८ ॥

मिथः संवादिनौ तौ स्तो,

४८ ग-४९ क. (अ०) ययोः जिन दो (स्वरों) के अन्तरगोचराः अन्तर (बीच) में दिखाई देने वाली द्वादश-अष्टौ वा श्रुतयः श्रुतियाँ बारह या आठ (हों) तौ वे दो (स्वर) मिथः परस्पर संवादिनौ स्तः संवादी होते हैं।

(सर०) संवादी का भरतोक्त लक्षण *'संवदनात्संवादी'* है यानी जो संवाद करे वह संवादी। दो स्वरों में से एक जो आधार स्वर हो वह वादी और दूसरा संवादी होता है। भरत के अनुसार संवाद का लक्षण है *'ययोश्च नवकत्रयोदशकमन्तरं तावन्योन्यं संवादिनौ'* (वही) यानी जिन दो स्वरों में नौ 'और' तेरह श्रुतियों का 'अन्तर' हो वे परस्पर संवादी होते हैं। अभिनव ने इसकी टीका में कहा—*'एवं नवश्रुतिस्त्रयोदशश्रुतिश्च'*। सामान्य रूप से इन कथनों का अर्थ ९ 'अथवा' १३ श्रुति की 'दूरी' समझा जाता है। लेकिन अभिनव ने अपने उपाध्याय को उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया कि 'अन्तर' शब्द स्वरूप का सूचक है अन्तराल का नहीं—*'उपाध्यायास्त्वाहुः—अन्तरमिति स्वरूपं नान्तरालं, तेन नवश्रुतिकं यस्य स्वरूपं स्वरस्य, यस्य च त्रयोदशश्रुतिकत्वं स्वरूपं, तौ स्वरौ परस्परसंवादिनौ'* (ना०शा०, अभि०, खण्ड ४, पृ० १६, पं० २१-२३)। इसे नीचे के श्रुतिमण्डल (श्रुतिचक्र) से आसानी से समझा जा सकता है।



इसमें पंचम षड्ज से तेरहवीं श्रुति पर है और षड्ज पंचम से नवीं श्रुति पर। इसलिए पंचम का त्रयोदशश्रुतिक स्वरूप है और षड्ज का नवश्रुतिक। अतः ये दोनों स्वर परस्पर संवादी हैं।

शार्ङ्गदेव ने ९ और १३ के बजाय ८ या १२ श्रुतियों का अन्तर कहा है। उसके निरूपण में कुछ वातें ध्यान देने योग्य हैं—१. स्वरों के परस्पर संबंध की सूचक यानी उन्हें जोड़ने वाली श्रुतिसंख्या ९-१३ के स्थान पर स्वरों को एक दूसरे से अलग करके दिखाने वाली श्रुतिसंख्या ८-१२ कही है। २. दोनों में से कोई भी एक अन्तर (८ अथवा १२) कहा है, दोनों नहीं। ३. दो स्वरों के बीच की दूरी ही श्रुतिसंख्या के द्वारा सूचित की है, स्वर का स्वरूप नहीं। दोनों टीकाकारों ने यह स्पष्ट किया है कि स्वर की आधार श्रुति छोड़ कर ग्रन्थकार ने ८ या १२ श्रुतियाँ कही हैं। यह भरत की संवाद सिद्धान्त की धारणा से भिन्न है।

मतंग ने भरतोक्त लक्षण देते हुए संवाद-लक्षण को और ज्यादा स्पष्ट किया—'*संवादिनस्तु पुनः समश्रुतिकत्वे सति त्रयोदशनवान्तरत्वेनावबोद्धव्याः*' (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० २१)। अर्थात् संवादी तो वे हैं जिनमें समश्रुतिकता होते हुए १३ और ९ श्रुत्यन्तर हो। समश्रुतिकता क्या है इसे बृह० में स्पष्ट नहीं किया गया है। लेकिन अभि० में इसे स्पष्ट करते हुए एक विशेष क्रिया की ओर संकेत हुआ है जिसमें तार पर (दाहिने हाथ से) आघात करते हुए किसी स्वरस्थान पर तार को बिना दबाए बाएँ हाथ की ऊँगली से केवल हल्के से छूकर उँगली उठा लेने से एक अन्य स्वर उत्पन्न हो जाता है। स्वरस्थान का मूल स्वर और इस क्रिया से उत्पन्न उपस्वर—ये दोनों समान श्रुतिस्थान वाले होते हैं इसलिये वे परस्पर संवादी होते हैं—'*वीणायां च षड्जादिस्थानेऽङ्गुल्यन्तरपीडनपूर्वकमभिहन्यमाने, तत्सम्पाद्यमिति व्यवहारः*' (ना० शा०, अभि०, खण्ड ४, पृ० १७, पं० १०)। सं० राज, २/१/१/२३०-३२ में इस क्रिया को और ज्यादा स्पष्ट किया गया है।* वर्तमान लक्ष्य में सितार पर उपस्वर उत्पन्न करने की क्रिया उक्त क्रिया का ही रूप है। व्यावहारिक दृष्टि से समश्रुतिकता का अर्थ है जिन दो स्वरों में संवाद कहा जाय उनमें से हरेक का अपने पूर्ववर्ती स्वर से श्रुत्यन्तर समान होना। जैसे स और प अपने-अपने पूर्ववर्ती स्वरों नि और म से चतुःश्रुति अन्तर पर हैं। कुम्भा ने भी इस प्रकार का अर्थ समश्रुतिक का किया है। इस प्रकार समश्रुतिक होने के कारण वे परस्पर संवादी हैं।

भरत, मतंग, अभिनव को संवाद के लिये सिर्फ़ ९ और १३ श्रुतियों का अन्तर अभीष्ट नहीं है बल्कि विशिष्ट अन्तराल पर आधारित विशेष संबंध या स्वरूप भी; क्योंकि जाति-रागादि के प्रयोग का प्रयोजन विशेष प्रभाव उत्पन्न करना है, स्वर के भौतिक रूप के द्वारा एक स्थूल ढाँचा खड़ा करना मात्र प्रयोजन नहीं है बल्कि स्वरों के विशेष प्रकार के संबंध से निर्मित होने वाले स्वरूप के आधार पर एक व्यक्तित्व का, मानस छवि का निर्माण करना है इसलिये संवाद संबंध को कई रूपों में समझाया गया है और इसीलिये समश्रुतिकता का नियम रखा गया। म का अपने पूर्ववर्ती ग से ४ श्रुतियों का और नि का अपने पूर्ववर्ती ध से २ श्रुतियों का अन्तर होने से उनमें समश्रुतिकता नहीं है इसलिये म-नि को संवादी नहीं माना। ध्यान देने योग्य है कि मध्यमग्राम के संवादी स्वर बताते समय भरत ने स-प का निषेध तो किया लेकिन रि-ध का नहीं हालाँकि मध्यमग्रामिक रि-ध में भी समश्रुतिकता नहीं है। अभिनव ने स्पष्ट किया कि मध्यमग्रामिक कैशिकी जाति में धैवत के अंशत्व में ऋषभ का लोप हो जाने से मध्यमग्राम में रि-ध में भी संवाद मान्य नहीं है (अभि०, खण्ड ४, पृ० १७, पं० १४-१५)।

मतंग ने संवादित्व को स्पष्ट करते हुए कहा कि वादी द्वारा उत्पन्न हुए रागत्व का निर्वाह करना अर्थात् उसे पुष्ट करना संवादित्व है—'*यद् वादिस्वरेण रागस्य रागत्वं जनितं तन्निर्वाहकत्वं नाम संवादित्वम्*' (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० २१)। रागत्व को पुष्ट करने के कारण ही जाति-राग आदि में संवादी स्वर का लोप नहीं किया जा सकता। अभिनव ने भी कहा है—'*संवादिनः तत एव न जातुचिल्लोपः कार्यः*' (अभि०, खण्ड ४, पृ० १७, पं० १२)। षड्जमध्यमा जाति में म के अंशत्व में नि का लोप हो जाता है। इससे प्रकट होता है कि ऐसे ही स्वर राग को पुष्ट करने वाले अर्थात् संवादी माने गए हैं जिनमें नवत्रयोदश श्रुत्यन्तर के साथ समश्रुतिकता भी हो और ऐसे स्वर लुप्त नहीं होते।

शार्ङ्गदेव ने न तो भरत की तरह संवादी स्वरजोड़ियाँ बताईं, न मतंग की तरह संवाद के लिए समश्रुतिकता का नियम कहा और न अभिनव की तरह म-नि में संवाद का निषेध किया। लेकिन उसके द्वारा बताई गई जातियों की लोपविधि में भरतादि से कोई भिन्नता नहीं है।

सिंह० ने मध्यमग्राम के संवादी स्वरों में म-नि को परस्पर संवादी कहा है हालाँकि षड्जग्राम में उन्हें संवादी के रूप में नहीं कहा। कल्लि० ने ग्रंथकार के विवादी संबंधी तीन मतों की व्याख्या में म-नि में संवाद की चर्चा की है। उसने एक मत के अनुसार यहाँ समश्रुतिकता को संवाद के लिये जरूरी नहीं माना है।

कुम्भा ने वादी-संवादी पर लम्बी चर्चा में एक मत के अनुसार यह दिखाया है कि कभी समश्रुतिकता न होते हुए भी

* विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य डॉ० एॅन्० रामनाथन् का लेख Vadī, Samvādī Vivādī and Anuvādī Svaras. The Jl. of the Madras Music Academy, Vol. LIV.

संवाद माना जाता है और कभी इसके विपरीत समश्रुतिक होते हुए भी स्वरों में संवाद नहीं माना जाता इसलिये 'समानश्रुतिता' 'संवादविधायिका' नहीं है (सं० राज, २/१/१/२४५)।

भरत, मतंग, अभिनव, शार्ङ्गदेव और कुम्भा के संवादी निरूपण के आधार पर यह समझा जा सकता है कि संवाद संबंध का किसी एक ही नियम के आधार पर निश्चय करना संभव नहीं है। इनमें से किसी ने भी म-नि में नवश्रुत्यन्तर होते हुए भी संवाद नहीं माना क्योंकि राग के स्वरूप या रागत्व की दृष्टि से इतना ही पर्याप्त नहीं है। इसलिये इन स्वरों में ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से तो संवाद कहा जा सकता है, राग की दृष्टि से नहीं, इनमें ध्वनिसंवाद या स्वरसंवाद है लेकिन रागसंवाद नहीं।

निगावन्यविवादिनौ।
रिधयोरेव वा स्यातां तौ तयोर्वा रिधावपि॥ ४९॥

४९ ख-घ. (अ०) निगौ नि और ग अन्यविवादिनौ अन्य (स्वरों) के विवादी (हैं)। तौ वा अथवा वे दोनों रिधयोः एव रि-ध के ही स्यातां (विवादी) होते हैं। रिधौ अपि वा अथवा रि-ध भी तयोः उन दोनों के (विवादी होते हैं)।

(सर०) भरत ने विवादी का लक्षण *'विवदनाद्विवादी'* दिया है और जिन स्वरों में दो श्रुतियों का अन्तर हो उन्हें विवादी कहा, जैसे, रि-ग और ध-नि।

मतंग ने विवादी के संबंध में दो महत्त्वपूर्ण बातें कहीं। एक तो अनुवादी स्वरों का प्रयोग बताते हुए चतुःश्रुति स्वरों की अपेक्षा त्रिश्रुति स्वरों में एक श्रुति कम होने से उनमें मतंग ने अनुवादित्व कहा। इसी प्रकार त्रिश्रुति की अपेक्षा द्विश्रुति स्वरों में भी एक श्रुति ही कम है इसलिए वे भी अनुवादी होने चाहिएँ। लेकिन दो श्रुतियों का अन्तर विवादी होने के कारण उनका विवादित्व निश्चित है इसलिये ग-नि में रि-ध की अपेक्षा एक-एक ही श्रुति कम होने पर भी वे विवादी ही हैं। दूसरे, मतंग ने विवादी का निश्चित कार्य भी बताया है। उसके अनुसार वादी, संवादी और अनुवादी स्वरों के द्वारा राग को 'वादित्व' (रागस्वरूप की उत्पत्ति), 'संवादित्व' (रागत्व का निर्वाह या पुष्टि) और 'अनुवादित्व' (रागत्व के निर्वाह का प्रतिपादन) प्राप्त हुआ उसका विनाश ही विवादित्व है।

अभिनव ने संवादी की तरह ही विवादी को समझाते हुए स्वरूप पर बल दिया है, इसलिये उसने कहा कि जिन स्वरों का स्वरूप द्विश्रुतिक है वे अन्य सभी स्वरों के विवादी होते हैं इसलिये ग-नि विवादी हैं (अभि०, खण्ड ४, पृ० १८, पं० ३-५)।

शार्ङ्गदेव ने विवादी संबंधी तीन मत दिए हैं। कल्लि० ने उन्हें स्पष्ट किया कि समश्रुतिकता को संवाद का आधार मानने पर म-नि संवादी नहीं हैं। उस स्थिति में नि और ग अन्य सभी स्वरों के विवादी होंगे क्योंकि कोई भी स्वर नि-ग का समश्रुतिक नहीं है। लेकिन केवल नवत्रयोदश श्रुत्यन्तर को संवाद का आधार माना जाय तो म-नि के संवादी बन जाने से ग-नि केवल रि-ध के विवादी रह जायँगे अथवा रि-ध ग-नि के विवादी होंगे।

शार्ङ्गदेव ने संवादी के लिये तो श्रुत्यन्तर बताया है लेकिन विवादी और अनुवादी के लिये नहीं। स्वर की आधारश्रुति को छोड़ कर संवादी श्रुत्यन्तर बताने के ग्रंथकार के विधान के अनुरूप कल्लि० ने एक श्रुत्यन्तर को विवादी कहा है। उसने विकृत ग-नि यानी अंतर-काकली का अपने-अपने परवर्ती म और स से विवाद कहा है। उल्लेखनीय है कि अंतर-काकली का प्रयोग अल्प मात्रा में होता है और भरत के अनुसार विकृतत्व के कारण वे अंश नहीं बनते। वे स्वतंत्र स्वर नहीं, मूल ग-नि के ही विकार हैं। इस कारण उनका अन्य स्वरों के साथ स्वतंत्र रूप से संबंध देखने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

शेषाणामनुवादित्वं,

५० क. (अ०) शेषाणां शेष (स्वरों) का अनुवादित्वं अनुवादित्व (होता है)।

(सर०) भरत के अनुसार जो अनुवाद करे वह अनुवादी है—*'अनुवदनादनुवादी'*। मतंग ने 'अनुवदन' को इस प्रकार स्पष्ट किया—*'यत् संवादिना रागस्य रागत्वं संपादितं तत्प्रतिपादकत्वं नामानुवादित्वं'* (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० २३)। अर्थात् संवादी

के द्वारा जो राग का रागत्व संपादित हुआ उसका प्रतिपादन अनुवादित्व है। मतंग ने यह भी कहा कि जिन स्वरों के श्रुतिमूल्य में एक श्रुति का अन्तर हो वे परस्पर अनुवादी होते हैं, जैसे, षड्ज चतुःश्रुतिक और ऋषभ त्रिश्रुतिक है। इनमें एक श्रुति कम है इसलिये ये परस्पर अनुवादी हैं और इनका व्यत्यास से यानी एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करने से राग की हानि नहीं होती।

भरत ने वादी, संवादी और विवादी के अलावा शेष स्वरों को अनुवादी कहा है। शार्ङ्गदेव ने भी ठीक इसी तरह का लक्षण दिया है। इस प्रकार दोनों ने ही उसका कोई स्वतंत्र या निश्चित कार्य नहीं बताया है। लेकिन जैसा ऊपर कहा गया, मतंग ने उसे वादी-संवादी के कार्य का पोषक कहा। सिंह० ने निषेधात्मक रूप में व्याख्या करते हुए कहा कि जिनमें परस्पर संवादित्व अथवा विवादित्व न हो वे अनुवादी हैं। साथ ही उसने मतंग का मत भी दिया है।

मतंग ने स्थान-व्यत्यास से एक स्वर के स्थान पर दूसरे स्वर के प्रयोग की जो छूट दी है उसका आशय अथवा प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। एक स्वर के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करने से राग की हानि न होने की बात उसने संवादी के प्रसंग में कही उससे यह प्रकट होता है कि इस क्रिया का रागों के प्रयोग से सीधा संबंध है। रागों में ऐसे संचार या क्रिया होती थीं जिनमें व्यत्यास से स्वरों का प्रयोग होता था अथवा एक का प्रतिरूप दूसरा संचार बन जाता था। (वर्तमान लक्ष्य में उत्तर भारतीय

म म

भीमपलासी राग में इसका कुछ प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इस राग के दो रागवाचक स्वर संचार ये हैं—नि़ सा ग् ग् रे-सा,

सां सां प

म प नि् नि् ध प। इनमें से एक संनिवेश दूसरे का समश्रुतिक है इसलिये एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करने से राग-हानि नहीं होती।) लेकिन जाति के गेय रूप के अभाव में इसकी पुष्टि मतंग द्वारा दिए गए स्वरों अथवा ककुभादि रागों के स्वर संचारों के द्वारा नहीं हो सकती। विशेष संचारों में त्रिश्रुति स्वर बाल भर चढ़ कर चतुःश्रुति जैसा अथवा चतुःश्रुति स्वर ज़रा सा उत्तर कर त्रिश्रुति जैसा लग जाता हो और इस प्रकार संभवतः त्रिश्रुति और चतुःश्रुति स्वरों का एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग हो जाता हो। लेकिन संवादी और अनुवादी के संबंध में मतंग का उक्त कथन, उसका प्रयोजन और प्रयोगविधि स्पष्ट नहीं है।

विवादी के लिए जिस द्विश्रुत्यन्तर की चर्चा की गई है वह रि-ग और ध-नि का यानी २८ सेवर्ट का है। यों तो जैसे चतुःश्रुति और त्रिश्रुति स्वरों में एक श्रुति का ही अन्तर है उसी तरह त्रिश्रुति और द्विश्रुति स्वरों में भी है। इसलिये अगर इनमें से पूर्वोक्त का एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग संभव हो तो त्रिश्रुति और द्विश्रुति में भी हो सकना चाहिए। लेकिन मतंग ने स्पष्ट रूप से कहा कि एक ही श्रुति कम होने पर भी ग-नि विवादी ही हैं। इसलिये उनका त्रिश्रुति स्वरों के स्थान पर प्रयोग नहीं हो सकता। त्रिश्रुति (१८+२३+५ = ४६) और द्विश्रुति (२३+५ = २८) स्वरों में १८ सेवर्ट का अन्तर है जो प्रमाणश्रुति से ३$\frac{३}{५}$ गुना बड़ा है। इतने बड़े अन्तर की अनदेखी किसी प्रकार संभव नहीं हो सकती। इसलिये द्विश्रुति स्वर त्रिश्रुति स्वरों के स्थान पर प्रयुक्त नहीं हो सकते।

मतंग ने वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी में से हरेक के स्वतंत्र कार्य का निरूपण किया है, विशेष रूप से अनुवादी और विवादी का। प्रायः अन्य सभी ने वादी के साथ संवादी और विवादी का ही श्रुत्यन्तर बताया है और इनसे बचे हुए स्वरों को अनुवादी कह दिया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सभी ने अनुवादी को अन्त में रखा है जबकि मतंग ने विवादी को अन्तिम स्थान दिया है। कारण स्पष्ट है कि वादी के द्वारा आरंभ किये गये कार्य को सर्वाधिक पुष्ट संवादी करता है और इन दोनों के कार्य की पुष्टि करना अनुवादी का काम है। इस प्रकार तीनों में सहयोग रहने के कारण ये एक वर्ग के हैं जबकि विवादी इनके विपरीत धर्म वाला है क्योंकि वह इन तीनों द्वारा किये गये राग-प्रतिपादन का विनाशक है। मतंग ने इसीलिये उसे अन्त में रखा है।

वादी राजाऽत्र गीयते।
संवादी त्वनुसारितत्वादस्यामात्योऽभिधीयते॥ ५०॥
विवादी विपरीतत्वाद्धीरैरुक्तो रिपूपमः।
नृपामात्यानुसारित्वादनुवादी तु भृत्यवत्॥ ५१॥

५० ख-५१. (अ०) अत्र इनमें से वादी वादी (स्वर) राजा गीयते राजा (के रूप में) गाया जाता है। संवादी तु संवादी तो अनुसारित्वात् अनुसारित्व (अनुसरण करने) के कारण अस्य इस (वादी) का अमात्यः अभिधीयते मंत्री कहा जाता है। विवादी विवादी (स्वर) विपरीतत्वात् विपरीतत्व (विरोधी होने) के कारण धीरैः धीरों के द्वारा रिपु-उपमः उक्तः शत्रु के समान कहा गया है। नृप-अमात्य-अनुसारित्वात् राजा (और) मंत्री का अनुसरण करने के कारण अनुवादी तु अनुवादी तो भृत्यवत् सेवक के समान (है)।

(सर०) वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी को सभी ने राजा, मंत्री, सेवक और शत्रु की उपमा दी है जो इनके क्रम और कार्य दोनों दृष्टियों से पूरी तरह सार्थक हैं। वादी सबसे प्रमुख होता है जैसे राजा। उसके अभिमत को पुष्ट करने वाले मंत्री की तरह वादी के प्रयोजन को पुष्ट करने वाला संवादी होता है। राजा और मंत्री का अनुसरण करने वाले सेवक की तरह वादी और संवादी के प्रति अनुवादी रहता है और इन सबके विपरीत आचरण करने के कारण शत्रु के समान विवादी स्वर होते हैं।

स्वराणां कुलजातिवर्णद्वीपर्षिदेवताछन्दोरसाः
तत्र कुलाः

गीर्वाणकुलसम्भूताः षड्जगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमः पितृवंशोत्थो रिधावृषिकुलोद्भवौ॥ ५२॥
निषादोऽसुरवंशोत्थो,

स्वरों के कुल-जाति-वर्ण-द्वीप-ऋषि-देवता-छन्द और रस
कुल

५२-५३ क. (अ०) षड्ज-गान्धार-मध्यमाः षड्ज, गांधार और मध्यम गीर्वाणकुलसम्भूताः देवकुल से उत्पन्न (हैं)। पञ्चमः पितृवंश-उत्थः पंचम पितृवंश से उत्पन्न (और) रि-धौ ऋषिकुल-उद्भवौ रि और ध ऋषिकुल से उद्‌भूत (हैं)। निषादः असुरवंश-उत्थः निषाद असुरवंश से उत्थित है।

ब्राह्मणादिवर्णाः

ब्राह्मणाः समपञ्चमाः।
रिधौ तु क्षत्रियौ ज्ञेयौ वैश्यजाती निगौ मतौ॥ ५३॥
शूद्रावन्तरकाकल्यौ स्वरौ,

ब्राह्मणादि वर्ण

५३ ख-५४ क. (अ०) स-म-पञ्चमाः ब्राह्मणाः स-म-प ब्राह्मण (और) रि-धौ तु रि-ध तो क्षत्रियौ ज्ञेयौ क्षत्रिय जाने गये हैं। नि-गौ नि-ग वैश्यजाती वैश्य जाति वाले मतौ माने गये हैं। अन्तरकाकल्यौ स्वरौ अन्तर-काकली स्वर शूद्रः शूद्र (होते हैं)।

(सर०) चतुःश्रुति होते हुए भी अन्तर-काकली किसी मूर्च्छना के आरंभक स्वर नहीं बनते और न किसी जाति में वे अंश बनते हैं। इस प्रकार सिद्धान्त और प्रयोग दोनों दृष्टियों से उनका अल्प महत्त्व है। संभवतः इस रूप में इन्हें अन्य स्वरों की तुलना में हीन मान कर शूद्र कहा गया है। लेकिन उल्लेखनीय यह है कि केवल ब्राह्मणादि वर्ण-निरूपण में ही अन्तर-काकली को सम्मिलित किया है, कुल-देवतादि में नहीं।

पीतादिवर्णाः

वर्णास्त्विमे क्रमात्।
पद्माभः पिञ्जरः स्वर्णवर्णः कुन्दप्रभोऽसितः॥ ५४॥
पीतः कर्बुर इति,

पीतादि वर्ण

५४ ख-५५ क. (अ०) वर्णाः तु वर्ण (रंग) तो **इमे** **क्रमात्** इस क्रम से (होते हैं)। **पद्म-आभः** पद्म (लाल कमल) की आभा वाला (षड्ज), **पिञ्जरः** हल्का पीला (ऋषभ), **स्वर्णवर्णः** स्वर्ण (सोने जैसा) गहरा पीला (गांधार), **कुन्दप्रभः** कुन्द की प्रभा वाला (मध्यम), **असितः** काला (पंचम), **पीतः** पीला (धैवत) **कर्बुरः इति** चितकबरा (निषाद) ये (सात स्वरों के रंग हैं)।

(सर०) स्वरों के रंग बताने में योगदर्शन का प्रभाव है। वहाँ नाद की उत्पत्ति अग्नि और वायु के संयोग से कही गई है। अग्नि का गुण 'रूप' माना गया है जिसका ग्रहण रंगों के द्वारा अथवा रंगों के रूप में होता है। नाद का ज्योति तत्त्व ही रंग है। साधना के विशेष स्तर अथवा अवस्था में यद्यपि नाद और ज्योति की एकीभूत अनुभूति होती है लेकिन उसमें नाद का दृश्य रूप भी होता है। योगियों ने विशुद्ध चेतना की अवस्था में नाद के रंगों की अनुभूति की और तदनुसार स्वरों के रंग बताये। उल्लेखनीय है कि नाद के दृश्य रूप की पुष्टि आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी होती है।

जन्मभूमयः

एषां जन्मभूमीरथ ब्रुवे।
जम्बूशाककुशक्रौञ्चशाल्मलीश्वेतनामसु॥ ५५॥
द्वीपेषु पुष्करे चैते जाताः षड्जादयः क्रमात्।

जन्मभूमि

५५ ख-५६ ख. (अ०) अथ अब **एषां** इनकी **जन्मभूमीः ब्रुवे** जन्मभूमियों को कहता हूँ। **जम्बू-शाक-कुश-क्रौञ्च-शाल्मली-श्वेत-नामसु** जम्बू, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मली (और) श्वेत नामक **पुष्करे च द्वीपेषु** और पुष्कर (नामक) द्वीपों में **क्रमात्** क्रम से **एते षड्ज-आदयः जाताः** ये षड्ज आदि (सात स्वर) उत्पन्न हुए।

(सर०) स्वरों की सप्त संख्या का निश्चय कराने के लिये उनकी सप्तद्वीपों के आश्रित उत्पत्ति बताई गई है। इसकी पुष्टि में सिंह० ने सुश्रुत का उद्धरण देकर कहा है कि जैसे त्वचा आदि सात धातुओं के आश्रित सात ही रस होते हैं उसी तरह सप्तद्वीपों या सप्तचक्रों के आश्रित सात ही स्वर होते हैं।

स्वरों की जन्मभूमि पर टीका करते हुए सिंह० ने यह शंका उठाई कि स्वर ७ ही क्यों माने, ९ क्यों नहीं, जब कि अन्तर-काकली भी भिन्न स्वर हैं? उत्तर देते हुए उसने कहा कि वे अंश नहीं बनते क्योंकि वे गांधार-निषाद के ही विकार हैं, उनसे भिन्न स्वर नहीं हैं। लेकिन रंगों के निरूपण में सिंह० अन्तर-काकली पर मौन है।

ऋषयः

वह्निर्वेधाः शशाङ्कश्च लक्ष्मीकान्तश्च नारदः॥ ५६॥
ऋषयो ददृशुः पञ्च षड्जादींस्तुम्बुरुर्धनी।

ऋषि

५६ ग-५७ ख. (अ०) वह्निः वेधाः शशाङ्कः च अग्नि, ब्रह्मा और चन्द्रमा, **लक्ष्मीकान्तः च नारदः** विष्णु और नारद **ऋषयः** ऋषियों ने **षड्ज-आदीन्** षड्ज आदि **पञ्च** पाँच (स्वरों) को **ददृशुः** देखा (और) **तुम्बुरुः** तुम्बुरु ने **ध-नी** 'ध' (और) 'नि' (को देखा)।

देवताः

वह्निब्रह्मसरस्वत्यः शर्वश्रीशगणेश्वराः॥ ५७॥
सहस्रांशुरिति प्रोक्ताः क्रमात्षड्जादिदेवताः।

देवता

५७ ग-५८ ख. (अ०) वह्नि-ब्रह्म-सरस्वत्यः अग्नि, ब्रह्मा, सरस्वती, **शर्व-श्रीश-गणेश्वराः** शंकर, विष्णु, गणेश, **सहस्रांशुः इति** सूर्य—ये **क्रमात्** क्रम से **षड्ज-आदि-देवताः** षड्ज आदि (सात स्वरों) के देवता (कहे गये हैं)।

(सर०) ग्रन्थकार ने कुल, जाति, वर्ण, ऋषि, देवता के निरूपण में मतंग का अनुसरण किया है।

छन्दांसि

क्रमादनुष्टुब्गायत्री त्रिष्टुप्च बृहती ततः॥ ५८॥
षङ्क्तिरुष्णिक्च जगतीत्याहुश्छन्दांसि सादिषु।

छन्द

५८ ग-५९ ख. (अ०) क्रमात् क्रम से **अनुष्टुभ्-गायत्री** अनुष्टुभ्, गायत्री, **त्रिष्टुभ् च बृहती** त्रिष्टुभ् और बृहती, **ततः पंक्तिः उष्णिक् च जगती** उसके बाद पंक्ति, उष्णिक् और जगती—इति ये **स-आदिषु** 'स' आदि (स्वरों) में **छन्दांसि आहुः** छन्द कहे गये हैं।

रसविनियोगः

सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धो बीभत्से भयानके॥ ५९॥
कार्यौ गनी तु करुणे हास्यशृङ्गारयोर्मपौ।

इति प्रथमे स्वरगताध्याये तृतीयं नादस्थानश्रुतिस्वरजातिकुलदैवतर्षिच्छन्दोरसप्रकरणम्॥ ३॥

रसविनियोग

५९ ग-६० ख. (अ०) वीरे-अद्भुते रौद्रे वीर, अद्भुत और रौद्र (रसों) में स-री 'स' और 'रि', बीभत्से भयानके धः बीभत्स और भयानक में 'ध', करुणे तु ग-नी करुण में तो 'ग' और 'नि' (तथा) हास्यशृङ्गारयोः हास्य (और) शृंगार में म-पौ 'म' और 'प' कार्यौ करने चाहिएँ।

(सर०) ग्रन्थकार ने रसविनियोग भरत के अनुसार ही कहा है। भरत ने यह भी कहा है कि जाति में जो स्वर बलवान् अर्थात् अंश हो उसके आश्रय से प्रयोग करना चाहिये। रस की अभिव्यक्ति किसी अकेले स्वर के द्वारा संभव नहीं है इसलिये स्वर बताने का प्रयोजन यह है कि उस जाति का प्रयोग करना चाहिये जिसमें उक्त स्वर अंश हो।

संगीत के द्वारा की जाने वाली नादोपासना का आधार स्वर ही हैं। वैदिक मन्त्रोपासना और तंत्र की नादोपासना का संगीत की स्वरोपासना पर गहरा प्रभाव रहा है। वैदिक और तांत्रिक उपासना में जिस तरह मन्त्रों के ऋषि, देवता, कुल, छन्द आदि का ज्ञान और उन पर अवधान सिद्धि अथवा अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये आवश्यक माना गया उसी तरह संगीत के द्वारा वांछित फल या प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से सप्तस्वरों के भी ऋषि, देवता, कुल, द्वीप, जाति, छन्द आदि कहे गये। सिंह० ने भी यह संकेत दिया है कि बीजाक्षरों के द्वारा षड्जादि स्वरों की उपासना के समय उनके ऋषि, देवता आदि का स्मरण करना चाहिये।

प्रथम स्वरगताध्याय में नादस्थानश्रुतिस्वरजातिकुलदेवताऋषिछन्दरस नामक तीसरा प्रकरण समाप्त॥ ३ ॥

चतुर्थं ग्राममूर्च्छनाक्रमतानप्रकरणम्

चौथा ग्राम-मूर्च्छना-क्रम-तान प्रकरण

ग्रामलक्षणम्

ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः।

ग्रामलक्षण

१ क-ख. (अ०) मूर्च्छना-आदेः मूर्च्छना आदि का समाश्रयः स्वरसमूहः समाश्रय स्वरसमूह ग्रामः स्यात् ग्राम होता है।

(सर०) 'ग्राम' शब्द लोक से लिया गया है। सिंह० और कल्लि० ने मतंग के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि जैसे लोक में जहाँ जनसमूह रहते हैं उसे ग्राम कहा जाता है उसी तरह जिसमें स्वरसमूह रहते हैं उसे भी 'ग्राम' कहा जाता है। मूर्च्छना 'आदि' कहने से मूर्च्छना, उनका क्रम, तान, वर्ण, अलंकार, जाति आदि जिन रूपों में स्वरसमूह व्यक्त होता है उन सभी का ग्रहण किया जाना चाहिये। 'मूर्च्छनादेः समाश्रयः' ग्राम का विशेष लक्षण है। सिंह० द्वारा उद्धृत सं० स० सार के अंश के अनुसार वही स्वरसमूह ग्राम कहला सकता है जो व्यवस्थित यानी निश्चित श्रुतिक्रम से युक्त स्वरों का समूह हो अन्यथा, सिंह० के अनुसार, कोई भी स्वरसमूह ग्राम कहा जायगा।

वेदादि और लोकव्यवहार में अ, इ, उ आदि अथवा उदात्तादि भी स्वरों के समूह हो सकते हैं इसलिये 'मूर्च्छनादेः समाश्रयः' विशेषण का प्रयोग न हो तो लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है यानी वेदादि और लौकिक स्वरों के समूह में भी ग्रामलक्षण चला जायगा और वे भी ग्राम कहलायेंगे। उनसे भेद स्थापित करके संगीत में 'ग्राम' की विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये ही इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। जो स्वरसमूह मूर्च्छनादि का आश्रय होगा उसमें व्यवस्था यानी विशेष श्रुतिव्यवस्था या श्रुतिक्रम होना भी अनिवार्य है।

द्वौ ग्रामौ

तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात्षड्जग्राम आदिमः॥ १॥

द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षणमुच्यते।

दो ग्राम

१ ग-२ ख. (अ०) धरातले पृथ्वी पर तौ द्वौ वे (ग्राम) दो (हैं)। तत्र उनमें से षड्जग्रामः षड्जग्राम आदिमः स्यात् आदिम (पहला) होता है। मध्यमग्रामः द्वितीयः मध्यमग्राम दूसरा (है)। तयोः उन दोनों के लक्षणम् उच्यते लक्षण को कहा जाता है (अर्थात् कहते हैं)।

(सर०) भरत की परम्परा में दो ही ग्राम माने गये हैं। भरत ने गांधारग्राम का नाम तक नहीं लिया है। यहाँ भी दो ग्राम ही कहे गये हैं जो भरत-परंपरा को ही मान्यता प्रदान करते हैं, यद्यपि आगे गांधारग्राम की भी चर्चा यह कह कर की जाने वाली है कि वह स्वर्गलोक में ही प्रयुक्त होता है (श्लो० ५)। इसलिये यहाँ यह कहा गया है कि पृथ्वी पर दो ही ग्राम हैं।

षड्जग्राम को प्रधान कहने के दो कारण हैं—एक तो यह कि स्वरस्थान का आरंभ मूलतः षड्ज से ही होने के कारण वह सबसे प्रमुख स्वर है। दूसरे, षड्ज ही एक मात्र ऐसा स्वर है जिसके एक ही सप्तक में 'म' और 'प'—ये दो संवादी स्वर हैं। इन कारणों से षड्ज के आधार पर बनने वाला षड्जग्राम ही प्रथम हो सकता है। इस तथ्य को ग्रंथकार श्लो० ६ में स्पष्ट करने वाले हैं। इनके अलावा एक कारण यह भी है कि षड्ज-पंचम संवाद, जो प्राकृतिक, मूलभूत और प्रधान है, में षड्ज प्रथम स्वर है और इसी संवाद के आधार पर षड्जग्राम की रचना होती है।

षड्जग्रामः पञ्चमे स्वचतुर्थश्रुतिसंस्थिते॥ २॥

२ ग-घ. (अ०) पञ्चमे पंचम (के) स्व-चतुर्थश्रुति-संस्थिते अपनी चौथी श्रुति पर संस्थित होने पर षड्जग्रामः षड्जग्राम (होता है)।

(सर०) मध्यम से पंचम का अन्तर षड्जग्राम में चार श्रुति का होता है। जब पंचम अपनी चौथी श्रुति पर स्थित होता है तो षड्ज से १३ श्रुति का अन्तर होने के कारण उनमें संवाद होता है जो षड्ज-पंचम संवाद कहलाता है। यह संवाद ही षड्जग्राम का मुख्य लक्षण है।

कल्लि० ने 'स्वचतुर्थश्रुतिसंस्थिते' की व्याख्या में पंचम की चौथी श्रुति को १७वीं श्रुति पर स्थित करुणा जाति का आलापिनी नामक भेद कह कर श्रुतिजाति और तारतारूप श्रुतियों की धारणा को मिला दिया है जिससे ग्रंथकार के आशय को वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं। इसे तृतीय प्रकरण में 'श्रुतिजाति' के संदर्भ में स्पष्ट किया जा चुका है।

स्वोपान्त्यश्रुतिसंस्थेऽस्मिन्मध्यमग्राम इष्यते।

३ क-ख. (अ०) (पंचम के) स्व-उपान्त्यश्रुति-संस्थे अपनी उपान्त्य (अन्तिम से पहले की समीप वाली) श्रुति में स्थित होने पर मध्यमग्रामः इष्यते मध्यमग्राम इच्छित (सम्मत) होता है।

(सर०) षड्जग्रामिक पंचम ही जब अपनी अभिव्यंजक श्रुति के पास वाली पिछली श्रुति पर चला जाता है तब मध्यमग्राम होता है। पंचम की यह स्थिति दोनों ग्रामों की भेदक है। ऐसा होने पर पंचम का षड्ज से संवाद टूट जाता है क्योंकि उनमें १२ श्रुतियों का अन्तर रह जाता है। लेकिन ऋषभ से उसका ९ श्रुत्यंतर होने के कारण षड्ज के बजाय ऋषभ उसका संवादी बन जाता है। भरत ने दोनों ग्रामों के इस अन्तर को इस प्रकार कहा है—

संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च।
षड्जग्रामे तु षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च॥ (ना० शा०, २८/२३)

ग्रंथकार द्वारा प्रयुक्त 'उपान्त्य' का अर्थ है 'अन्तिम के पास वाली' और 'स्व' का अर्थ है 'अपनी' जो विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ है। 'स्व' के दो अभिप्राय हैं—सिंह० के अनुसार केवल उपान्त्य कहने से पंचम के बाद वाली यानी 'ध' की पहली श्रुति पर भी पंचम जा सकता है क्योंकि वह भी पंचम की अन्तिम श्रुति के पास है। लेकिन वह पंचम की अपनी श्रुति नहीं है। उसकी अपनी उपान्त्य तीसरी श्रुति है और उसी पर स्थित होने से मध्यमग्राम बनता है। कल्लि० के अनुसार मध्यम ग्राम में मध्यमसाधारण होने पर जब मध्यम एक श्रुति नीचे उतर जाता है तो वह श्रुति पंचम को मिल जाने से मध्यमग्रामिक मूल त्रिश्रुति पंचम का मध्यम से फिर से ४ श्रुति का अन्तर हो जाता है (पाँचवें प्रकरण में ८वें श्लोक की व्याख्या देखें)। मध्यमग्राम का पंचम त्रिश्रुति ही होना चाहिये, ऐसा समझ कर उस उतरे हुए लेकिन चतुःश्रुति पंचम को फिर से एक श्रुति उतार कर त्रिश्रुति न बना दिया जाय इसलिये 'स्व' उपान्त्य कहा क्योंकि वह पंचम की अपनी श्रुति से एक श्रुति ही नीचे है। इसका अर्थ यह है कि मध्यमग्रामिक पंचम षड्ज से १२ श्रुति के अन्तर पर ही रहेगा, ११वीं पर नहीं।

'स्वोपान्त्यश्रुतिसंस्थे' की टीका में भी कल्लि० ने 'श्रुतिजाति' और २२ श्रुतियों की धारणा को जोड़ते हुए मध्यमग्रामिक पंचम को १६वीं श्रुति पर आयता जाति के संदीपनी नामक भेद पर स्थापित किया है जो उचित नहीं है।

यद्वा धस्त्रिश्रुतिः षड्जे मध्यमे तु चतुःश्रुतिः॥ ३॥

३ ग-घ. (अ०) यत् वा अथवा धः धैवत षड्जे षड्ज (ग्राम) में त्रिश्रुतिः त्रिश्रुति (और) मध्यमे तु मध्यम (ग्राम) में तो चतुःश्रुतिः चतुःश्रुति होता है।

(सर०) षड्जग्राम में 'प' और 'ध' का अन्तर तीन श्रुतियों का है। मध्यमग्राम में पंचम के एक श्रुति उतर जाने पर वही अन्तर ३ के बजाय ४ श्रुति का हो जाता है। इसलिये यह लक्षण भी दिया जा सकता है कि षड्जग्राम में धैवत त्रिश्रुतिक होता है और मध्यमग्राम में चतुःश्रुतिक। लेकिन यह उपलक्षण है क्योंकि धैवत स्वतंत्र रूप से दोनों ग्रामों का भेदक नहीं है। उसका चतुःश्रुतिक होना पंचम की स्थिति पर निर्भर है। इन दोनों लक्षणों में प्रधानता का भेद है। पंचम की प्रधानता से पहला और धैवत की प्रधानता से दूसरा लक्षण दिया गया है। सिंह० ने कहा कि इनमें से पहला ही ग्रंथकार का अपना मत है, दूसरा नहीं क्योंकि कूटतानों के निरूपण में पंचम के वर्जन से जो तानें बनती हैं उनमें भेदक पंचम न रहने के कारण दोनों ग्रामों में वे तानें एक सी हो जाने से उनमें पुनरुक्ति कही है। लेकिन धैवत को वर्जित करके बनने वाली तानों में पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि उनमें भेदक पंचम रहता है। इसलिये भेदक स्वर पंचम ही है, धैवत नहीं।

गान्धारग्रामः

रिमयोः श्रुतिमेकैकां गान्धारश्चेत्समाश्रितः।
पश्रुतिं धो निषादस्तु धश्रुतिं सश्रुतिं श्रितः॥ ४॥

गान्धारग्राममाचष्ट तदा तं नारदो मुनिः।
प्रवर्तते स्वर्गलोके ग्रामोऽसौ न महीतले॥ ५॥

गान्धारग्राम

४-५. (अ०) (जब) गान्धारः गांधार रि-मयोः 'रि' (और) 'म' की एक-एकां श्रुतिं एक-एक श्रुति के समाश्रितः चेत् समाश्रित होता है; प-श्रुतिं 'प' की श्रुति के (आश्रित) धः 'ध' (और) निषादः तु निषाद तो ध-श्रुतिं स-श्रुतिं श्रितः 'ध' की श्रुति के (और) 'स' की श्रुति के आश्रित (होता है) तदा तब तं उसे नारदः मुनिः नारद मुनि ने गान्धारग्रामं गांधारग्राम आचष्ट कहा है। असौ ग्रामः यह ग्राम स्वर्गलोके प्रवर्तते स्वर्गलोक में प्रवर्तित होता है, महीतले न पृथ्वी पर नहीं।

(सर०) षड्जग्राम में श्रुत्यन्तर इस प्रकार है—

स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि — — — स
| ३ | २ | ४ | ४ | ३ | २ | ४ |

गान्धारग्राम में गांधार 'रि' और 'म' की एक-एक श्रुति ले लेता है यानी 'रि' अपने स्थान से एक श्रुति नीचे उतर कर द्विश्रुतिक हो जाता है और गांधार 'म' की एक श्रुति लेकर चतुःश्रुतिक बन जाता है। 'प' की एक श्रुति 'ध' ले लेता है यानी 'प' एक श्रुति नीचे उतर कर षड्ज से १२वीं श्रुति पर स्थित हो जाता है। निषाद की वही स्थिति हो जाती है जो गान्धार की यानी निषाद 'ध' और 'स' की एक-एक श्रुति लेता है। परिणामस्वरूप 'ध' अपने स्थान से एक श्रुति नीचे उतरता है और 'नि' एक श्रुति चढ़ जाता है। तदनुसार गान्धारग्राम की श्रुतिव्यवस्था यह हो जाती है—

स — रि — — — ग — — म — — प — — ध — — — नि — — स
| २ | ४ | ३ | ३ | ३ | ४ | ३ |

गान्धारग्राम का पृथ्वी पर प्रयोग न होने के कारण नान्यदेव ने इसका 'अतितारातिमन्द्रत्व' और 'वैस्वर्य' कहा है। (गान्धारग्राम संबंधी विशेष विवरण परिशिष्ट—ग में देखें)

ग्रामत्रये नामस्वराणां प्राधान्यम्

षड्जः प्रधानमाद्यत्वादमात्याधिक्यतस्तथा।
ग्रामे स्यादविलोपित्वान्मध्यमस्तु पुरःसरः॥ ६॥
एतत्कुलप्रसूतत्वाद् गान्धारोऽप्यग्रणीर्दिवि।

ग्रामों में नामस्वरों की प्रधानतता

६-७ ख. (अ०) षड्जः षड्ज आद्यत्वात् आद्य (प्रथम स्वर) होने से तथा अमात्य-आधिक्यतः और अधिक अमात्य (संवादी स्वर) वाला होने से ग्रामे ग्राम में प्रधानं स्यात् प्रधान होता है। अविलोपित्वात् अविलोपी होने से मध्यमः तु मध्यम तो पुरःसरः अग्रणी (है)। एतत्-कुल-प्रसूतत्वात् इन ('स' और 'म') के कुल से उत्पन्न होने के कारण गान्धारः अपि गांधार भी दिवि दिव्यलोक में अग्रणीः अग्रणी (है)।

(सर०) यहाँ ग्रंथकार ने ७ स्वरों में से तीन—षड्ज, मध्यम और गान्धार—की प्रमुखता के कारण उनसे तीन ग्रामों की रचना और उनमें भी दो ग्रामों की प्रधानता के कारण दिये हैं।

सप्तस्वरों में षड्ज ही पहला स्वर है, एक सप्तक में इसी के दो संवादी स्वर हैं और दो संवादों में से मूल और प्रधान षड्ज-पंचम संवाद में भी यह आधार स्वर है इसलिये षड्ज ही प्रधान है। इसी कारण षड्जग्राम प्रमुख है, यह पहले (श्लो० १ ग-२ ख की व्याख्या में) स्पष्ट किया जा चुका है। उसी को यहाँ याद दिलाया गया है।

मध्यम अलोपी होने से प्रधान है। उसके अनाशित्व के कारण के बारे में दो मत हैं जिनका उल्लेख कल्लि० ने किया है। पहले के अनुसार सरिग—इन तीन मुख्य स्वरों का ही मध्यम के बाद के त्रिक—पधनि—में क्रम से पहले, दूसरे और तीसरे स्वरों से संवाद होता है। मध्यम इनके बीच में रहने से उसका इस प्रकार का संबंध नहीं बनता। दूसरा मत भरत की षाडव-औडव तानों की लोपविधि पर आधारित है। भरत ने स, रि, प और नि के लोप से ही षाडव-औडव तानों का विधान किया है। यों दोनों ग्रामों में कुल मिला कर अन्य सभी स्वरों का लोप संभव है लेकिन मध्यम किसी भी ग्राम में लोप्य नहीं है। इनके अलावा एक कारण यह भी है कि सप्तक में मध्यम की विशेष स्थिति है जिसके कारण उसकी मध्यम संज्ञा सार्थक होती है। 'सरिग' और 'पधनि'—इन दो त्रिकों के ठीक बीच में होने से दोनों का विभाजक स्वर यही है क्योंकि यह एक ओर षड्ज से और दूसरी ओर निषाद से ९ श्रुति के अन्तर पर है। श्रुतिविभाजन की दृष्टि से यह बीचों बीच है इसलिये दोनों ओर के स्वरों में सन्तुलन रखता है। दोनों त्रिकों के 'मध्य' में रह कर दोनों का मान (मध्य + मः) करने के कारण ही इसे 'मध्यम' संज्ञा दी गई है।

तीसरे प्रकरण में ५२वें श्लोक में स-ग-म को देवकुल से उत्पन्न कहा जा चुका है। स-म की तरह 'ग' के भी उसी कुल से उत्पन्न होने के कारण गान्धार भी स-म की तरह प्रधान है। इसलिये उससे आरंभ होने वाला ग्राम गान्धारग्राम कहलाता है। लेकिन वह दिव्यलोक में ही प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार सात स्वरों में से तीन स्वरों की ही प्रधानता के आधार पर ग्राम तीन ही माने गये।

ग्रामाणां देवर्तुप्रयोगकालाः

क्रमाद् ग्रामत्रये देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥ ७॥
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु गातव्यास्ते यथाक्रमम्।
पूर्वाह्णकाले मध्याह्नेऽपराह्णेऽभ्युदयार्थिभिः॥ ८॥

ग्रामों के देवता-ऋतु-काल

७ ग-८. (अ०) क्रमात् क्रम से ग्रामत्रये तीन ग्रामों में ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः ब्रह्मा, विष्णु (और) महेश देवाः देवता (हैं)। ते वे (तीनों ग्राम) यथाक्रमं यथाक्रम हेमन्त-ग्रीष्म-वर्षासु हेमन्त, ग्रीष्म (और) वर्षा (ऋतुओं) में गातव्याः गाये जाने चाहियें। अभ्युदय-अर्थिभिः अभ्युदय (अदृष्ट फल) की इच्छा रखने वालों के द्वारा पूर्वाह्णकाले प्रातःकाल में, मध्याह्ने दोपहर में (और) अपराह्णे दोपहर-बाद में (वे गाये जाने चाहियें)।

(सर०) कल्लि० ने उल्लेख किया है कि तीनों ग्रामों का ऋतुओं और विशेष प्रहर में विनियोग अदृष्ट फल की दृष्टि से कहा गया है। इस प्रकार प्रयोग करने से देवता-परितोष होता है और तदनुसार न करने से वह फल तो प्राप्त नहीं होता लेकिन कोई दोष नहीं होता।

सिंह० ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि मतंग ने ग्रामनिरूपण का प्रयोजन स्वर-श्रुति-मूर्च्छना-तान-जाति-राग आदि अर्थात् स्वर के सम्पूर्ण विस्तार को व्यवस्था प्रदान करना बताया है।

मूर्च्छनालक्षणं तद्भेदाश्च

क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते, ग्रामद्वये ताः सप्त सप्त च॥ ९॥

मूर्च्छना का लक्षण और उसके भेद

९. (अ०) क्रमात् क्रम से सप्तानां स्वराणां सात स्वरों का आरोहः अवरोहणं च आरोह और अवरोह मूर्च्छना इति उच्यते मूर्च्छना (है) इस प्रकार कहा जाता है। ताः च और वे ग्रामद्वये दो ग्रामों में सप्त-सप्त सात-सात (होती हैं)।

(सर०) ग्राम के लक्षण में उसे मूर्च्छनादि का आश्रय कहा जा चुका है। इसलिये सबसे पहले मूर्च्छना से ही ग्रन्थकार ने शुरू किया है।

'मूर्च्छना' शब्द की व्युत्पत्ति मतंग के अनुसार 'मूर्छ' धातु से है जिसके अर्थ हैं—मोह और समुच्छ्राय (व्याप्त होना, वृद्धि)। कल्लि० ने 'मुर्छा' धातु से व्युत्पत्ति दी है। इस प्रकार मूर्च्छना शब्द 'मूर्छ्' या 'मुर्छ' धातु से निष्पन्न होता है। इन धातुओं में विकल्प से 'च'कार होने पर 'मूर्च्छना' और न होने पर 'मूर्छना' बनता है।

कल्लि० के अनुसार धातु को मोहार्थक मानने पर मूर्च्छना का अर्थ है 'जिसके द्वारा श्रोता मोहित होते हैं' और समुच्छ्राय अर्थ का ग्रहण करने पर अर्थ है 'जिसके द्वारा राग व्याप्त होते हैं' अर्थात् उभरते हैं। सिंह० ने यह स्पष्ट किया है कि मूर्च्छना के लक्षण में स्वर का आरोह और अवरोह क्रम ही विवक्षित है, आरोह और अवरोहरूप क्रिया नहीं।

ग्रन्थकार द्वारा मूर्च्छना लक्षण में प्रयुक्त 'क्रमात्', 'सप्तानां' और 'आरोहश्चावरोहणं' पर टीका करते हुए कल्लि० ने, यह स्पष्ट किया है कि कूटतानों से मूर्च्छना को अलग करने के लिये 'क्रमात्' का प्रयोग किया है (क्योंकि कूटतानों में व्युत्क्रम होता है, सीधा क्रम नहीं)। 'सप्तानां' के द्वारा शुद्ध तानों का निरास किया है (क्योंकि शुद्धतानों में ६ या ५ स्वरों का प्रयोग होता है, ७ का नहीं)। 'आरोहश्चावरोहणं' के द्वारा आरोही-अवरोही वर्ण और उन पर आधारित अलंकारों का निषेध किया है। उसने यह भी कहा है कि मतंग, नन्दिकेश्वरादि ने तीन स्थानों की व्याप्ति की सिद्धि के लिये लक्ष्य के अनुरोध से द्वादशस्वर मूर्च्छना भी कही हैं लेकिन द्वैग्रामिक प्रयोग में (द्वैग्रामिक जाति-रागादि के रूप में) वह प्रयोजन सिद्ध हो ही जाता है इसलिये ग्रन्थकार ने उन्हें अलग से कहने की ज़रूरत नहीं समझी है।

भरत के मूर्च्छना लक्षण में आरोह-अवरोह सम्मिलित नहीं है। मतंग ने आरोह-अवरोह क्रम कहा है। लेकिन मूर्च्छना और तान का भेद बताते समय मूर्च्छना में आरोह क्रम और तान में अवरोह क्रम कहा है (वृह०, प्र० खण्ड, अनु० ४५)।

तासां नामानि

षड्जे तूत्तरमन्द्राऽऽदौ रजनी चोत्तरायता।
शुद्धषड्जा मत्सरीकृदश्वक्रान्ताऽभिरुद्गता॥ १०॥

उनके नाम

१०. (अ०) षड्जे तु षड्ज (ग्राम) में तो उत्तरमन्द्रा आदौ उत्तरमन्द्रा आरम्भ में (है तथा) रजनी उत्तरायता च रजनी और उत्तरायता, शुद्धषड्जा मत्सरीकृत्-अश्वक्रान्ता-अभिरुद्गता शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता (और) अभिरुद्गता (ये सात मूर्च्छनाएँ हैं)।

मध्यमे स्यात्तु सौवीरी हारिणाश्वा ततः परम्।
स्यात्कलोपनता शुद्धमध्या मार्गी च पौरवी॥ ११॥
हृष्यकेत्यथ तासां तु लक्षणं प्रतिपाद्यते।

११-१२ ख. (अ०) मध्यमे तु मध्यम (ग्राम) में तो (पहली मूर्च्छना) सौवीरी स्यात् सौवीरी होती है। ततः परं उसके बाद हारिणाश्वा स्यात् हारिणाश्वा होती है। कलोपनता शुद्धमध्या मार्गी पौरवी हृष्यका च इति कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी और हृष्यका ये (७ मूर्च्छनाएँ होती हैं)। तासां तु लक्षणं उनके लक्षण को तो अथ अब प्रतिपाद्यते प्रतिपादित किया जाता है।

मूर्च्छनानां स्थापनाविधिः

मध्यस्थानस्थषड्जेन मूर्च्छनाऽऽरभ्यतेऽग्रिमा॥ १२॥
अधस्तनैर्निषादाद्यैः षडन्या मूर्च्छनाः क्रमात्।

मूर्च्छनाओं की स्थापना विधि

१२ ग-१३ ख. (अ०) मध्यस्थानस्थ-षड्जेन मध्यस्थान में स्थित षड्ज से अग्रिमा मूर्च्छना पहली मूर्च्छना आरभ्यते आरंभ की जाती है। (उससे) अधः तनैः नीचे के निषाद-आद्यैः निषाद आदि के द्वारा क्रमात् क्रम से अन्याः षट् मूर्च्छनाः अन्य ६ मूर्च्छनाएँ (होती हैं)।

(सर०) षड्जग्राम में मध्यस्थान के षड्ज से पहली मूर्च्छना शुरू करके अगली-अगली मूर्च्छनाएँ उससे नीचे-नीचे के स्वरों से यानी क्रम से मन्द्रस्थान के नि, ध, प, म, ग, रि से शुरू होती हैं। इन्हें नीचे की सारिणी में देखा जा सकता है—

१. उत्तरमन्द्रा	स रि ग म प ध नि ध प म ग रि स
२. रजनी	ऩि स रि ग म प ध प म ग रि स ऩि
३. उत्तरायता	ध़ ऩि स रि ग म प म ग रि स ऩि ध़
४. शुद्धषड्जा	प़ ध़ ऩि स रि ग म ग रि स ऩि ध़ प़
५. मत्सरीकृता	म़ प़ ध़ ऩि स रि ग रि स ऩि ध़ प़ म़
६. अश्वक्रान्ता	ग़ म़ प़ ध़ ऩि स रि स ऩि ध़ प़ म़ ग़
७. अभिरुद्गता	रि़ ग़ म़ प़ ध़ ऩि स ऩि ध़ प़ म़ ग़ रि़

मध्यमध्यममारभ्य सौवीरी मूर्च्छना भवेत्॥ १३॥

षडन्यास्तदधोऽधःस्थस्वरानारभ्य तु क्रमात्।

१३ ग-१४ ख. (अ०) मध्य-मध्यमम्-आरभ्य मध्य (स्थान के) मध्यम से आरम्भ करके (मध्यमग्राम की) सौवीरी मूर्च्छना भवेत् सौवीरी मूर्च्छना होती है। तत् अधः अधःस्थ-स्वरान्-आरभ्य तु उससे नीचे-नीचे स्थित स्वरों से आरम्भ करके तो क्रमात् क्रम से अन्याः षट् अन्य ६ (मूर्च्छनाएँ होती हैं)।

(सर०) इसी प्रकार मध्यमग्राम की पहली मूर्च्छना मध्यस्थान के मध्यम से शुरू करके शेष ६ मूर्च्छनाएँ क्रम से ग, रि, स, नि, ध, प से आरंभ होती हैं। तदनुसार मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

१. सौवीरी	म प ध नि स॑ रि॑ ग॑ रि॑ स॑ नि ध प म
२. हारिणाश्वा	ग म प ध नि स॑ रि॑ स॑ नि ध प म ग
३. कलोपनता	रि ग म प ध नि स॑ नि ध प म ग रि
४. शुद्धमध्या	स रि ग म़ प ध नि ध प म ग रि स
५. मार्गी	नि़ स रि ग म प ध प म ग रि स नि़
६. पौरवी	ध़ नि़ स रि ग म प म ग रि स नि़ ध़
७. हृष्यका	प़ ध़ नि़ स रि ग म ग रि स नि़ ध़ प़

टीकाकारों ने मूर्च्छनाओं का केवल आरोह दिया है लेकिन ग्रन्थकार द्वारा दिये गये लक्षण के अनुसार आरोह-अवरोह दोनों से मूर्च्छनाओं का स्वरूप बनता है, तदनुसार ही ऊपर मूर्च्छनाएँ बना कर दिखाई गई हैं।

ग्रन्थकार ने वीणा पर मूर्च्छनाएँ स्थापित करने की दो विधियाँ बताई हैं। ऊपर पहली विधि दिखाई गई। ग्रन्थकार ने इसे स्वमत और दूसरी विधि को अन्य मत कहा है। कल्लि० के अनुसार दूसरी विधि लक्ष्य के अनुरोध से दी गई है। पहली में वीणा पर तीनों स्थानों में षड्जग्राम अथवा मध्यमग्राम के मूल स्वर निश्चित हो जाने पर वही स्वरावली पहली मूर्च्छना बन जाती है। फिर उस ग्राम के मध्यस्थानीय प्रथम स्वर (षड्ज अथवा मध्यम) से नीचे-नीचे के स्वरों से शुरू करके अन्य मूर्च्छनाएँ स्वतः मिल जाती हैं और वीणा में कोई परिवर्तन किये बिना उस पर सातों मूर्च्छनाएँ क्रम से देखी जा सकती हैं।

मत्तकोकिला वीणा में हर स्वर के लिये स्वतंत्र तंत्री है इसलिये इस विधि से उस पर मूर्च्छना स्थापित करने पर क्रमशः ७-७ तारों पर मन्द्र, मध्य और तार स्थान के स्वर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार भरतोक्त मूर्च्छनाओं का प्रयोजन—तीनों स्थानों की प्राप्ति—पूरा हो जाता है। षड्जग्राम की षड्ज से शुरू होने वाली पहली मूर्च्छना उत्तरमन्द्रा के मध्यस्थानीय स्वर ८वें से १४वें तारों पर स्थापित करके मन्द्र और तारस्थानीय स्वर क्रम से पहले से सातवें तारों पर और १५वें से २१वें तारों पर स्थापित होंगे। इस प्रकार २१ तारों पर तीनों स्थानों में उत्तरमन्द्रा के स्वर प्राप्त होते हैं। इसके बाद तारों में कोई परिवर्तन किये बिना शेष ६ मूर्च्छनाएँ भी स्वतः प्राप्त होंगी। मध्य षड्ज से पिछले यानी ७वें से शुरू करके १३वें तार तक निषाद की रजनी, ६ठे से १२वें पर धैवत की उत्तरायता, ५वें से ११वें पर पंचम की शुद्धषड्जा, चौथे से १०वें पर मध्यम की मत्सरीकृता, तीसरे से ९वें पर गान्धार की अश्वक्रान्ता और दूसरे से ८वें तारों पर ऋषभ की अभिरुद्गता मूर्च्छनाएँ मिलेंगी। इस विधि में उत्तरमन्द्रा के अलावा शेष मूर्च्छनाओं में षड्ज से पिछले स्वर मन्द्रस्थान में होंगे।

षड्जग्राम की पहली मूर्च्छना के स्वरों में मिली हुई इस वीणा में मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ स्थापित करने के लिये १२वें तार पर स्थित पंचम को नवें तार के ऋषभ के साथ संवाद करके मध्यमग्रामिक बनाना होगा और ५वें तथा १९वें तारों पर भी मध्यमग्राम का पंचम मिलाना होगा। इस क्रिया से वीणा मध्यमग्रामिकी बन जायगी और मध्यमग्राम की मध्यम से शुरू होने वाली पहली मूर्च्छना सौवीरी की ११वें तार के मध्यम से लेकर १७वें तारों पर स्थिति होगी। लेकिन इससे सरिग—ये तीन स्वर

तारस्थान में चले जायँगे। इसके बाद १०वें से १६वें, ९वें से १५वें, ८वें से १४वें, ७वें से १३वें, ६ठे से १२वें, ५वें से ११वें तारों पर क्रम से ग, रि, स, नि, ध, प से शुरू होने वाली हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी और हृष्यका मूर्च्छनाएँ स्थित होंगी। शुद्धमध्या ७वें से १३वें तारों पर वीणा के ठीक मध्यस्थान में रहेगी और इसके बाद की तीन मूर्च्छनाओं में क्रमशः नि, निध, निधप स्वर मन्द्रस्थान के होंगे। इस विधि को अगली दो सारिणियों में मत्तकोकिला के तारों पर दिखाया जा रहा है।

षड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ

तन्त्री संख्या	स्थान	षड्जग्रामिक			मूर्च्छनाओं		के	स्वर
		उत्तरमन्द्रा	रजनी	उत्तरायता	शुद्धषड्जा	मत्सरीकृता	अश्वक्रान्ता	अभिरुद्गता
१.		स						
२.		रि						रि
३.		ग					ग	ग
४.	मन्द्र	म				म	म	म
५.		प			प	प	प	प
६.		ध		ध	ध	ध	ध	ध
७.		नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि
८.		स	स	स	स	स	स	स
९.		रि	रि	रि	रि	रि	रि	
१०.		ग	ग	ग	ग	ग		
११.	मध्य	म	म	म	म			
१२.		प	प	प				
१३.		ध	ध					
१४.		नि						
१५.		स						
१६.		रि						
१७.		ग						
१८.	तार	म						
१९.		प						
२०.		ध						
२१.		नि						

मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ

तन्त्री संख्या	स्थान	मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाओं के स्वर						
		सौवीरी	हारिणाश्वा	कलोपनता	शुद्धमध्या	मार्गी	पौरवी	हृष्यका
१.		स						
२.		रि						
३.		ग						
४.	मन्द्र	म						
५.		प						प
६.		ध					ध	ध
७.		नि				नि	नि	नि
८.		स			स	स	स	स
९.		रि		रि	रि	रि	रि	रि
१०.		ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग
११.	मध्य	म	म	म	म	म	म	म
१२.		प	प	प	प	प	प	
१३.		ध	ध	ध	ध	ध		
१४.		नि	नि	नि	नि			
१५.		स	स	स				
१६.		रि	रि					
१७.		ग						
१८.	तार	म						
१९.		प						
२०.		ध						
२१.		नि						

इन सारिणियों में मोटे अक्षर प्रथम मूर्च्छना के स्वरों के सूचक हैं।

षड्जस्थानस्थितैर्न्याद्यै रजन्याद्याः परे विदुः॥ १४॥

हारिणाश्वादिका गाद्यैर्मध्यमस्थानसंस्थितैः।
षड्जादीन्मध्यमादींश्च तदूर्ध्वं सारयेत्क्रमात्॥ १५॥

१४ ग-१५. (अ०) परे विदुः अन्य लोग कहते हैं (कि) **षड्जस्थानस्थितैः** षड्ज के स्थान पर स्थित **नि-आद्यैः** 'नि' आदि (स्वरों) से **रजनी-आद्याः** रजनी आदि (मूर्च्छनाएँ स्थापित करनी चाहियें)। **हारिणाश्वा-आदिका** हारिणाश्वा आदि **मध्यमस्थानसंस्थितैः** मध्यम के स्थान में संस्थित **ग-आद्यैः** 'ग' आदि के द्वारा (स्थापित करनी चाहियें)। (तब) **षड्ज-आदीन्-मध्यम-आदीन् च** (षड्जग्राम में) षड्जादि को (और) (मध्यमग्राम में) मध्यमादि को **क्रमात्** क्रम से **तत्-ऊर्ध्वं** उससे ऊपर **सारयेत्** सरकाना चाहिये।

(सर०) मूर्च्छना स्थापना की दूसरी विधि भरत के इस विधान से संबद्ध है—*'मध्यमस्वरेण तु वैणेन मूर्च्छनानिर्देशः कार्यो भवति अनाशित्वान्मध्यमस्य'* (ना० शा०, अ० २८, पृ० २७)। अभिनव ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि 'जातावेकवचनं' सूत्र के अनुसार यहाँ 'मध्यमस्वरेण' का अर्थ है मध्यस्थानीय स्वर। मध्यस्थान अनाशी होता है क्योंकि, जैसा अभि० में कहा गया है, अपूर्णतंत्री वीणा में (यानी जिनमें तीनों स्थान नहीं होते) भी मध्यस्थान अनिवार्य रूप से रहता है। यों गान में भी मन्द्र और तार में प्रयोग किया जाय या नहीं मध्यस्थान में अवश्य होता है इसलिये मध्यस्थान अनाशी है।

भरत के कथन को मतंग ने और ज़्यादा स्पष्ट किया है। उसने कहा—*'मध्यमसप्तकेन मूर्च्छनानिर्देशो भवति मन्द्रतारसंसिद्ध्यर्थम्। कुतः? मध्यमसप्तकस्याविनाशित्वादित्यर्थः'।* (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० ५०)

इस विधि में हर मूर्च्छना को वीणा पर मध्यस्थान में स्थापित किया जाता है क्योंकि गान-वादन का मुख्य आधार अथवा क्षेत्र मध्यस्थान ही होता है। गायक अपने कंठक्षेत्र के अनुसार मध्यसप्तक में गाता है और राग के स्वर बदल जाने पर भी उसका मध्यस्थान नहीं बदलता। तंत्रीवाद्य की संगत में भी गायक के मध्यस्थान के अनुसार ही उन वाद्यों को मिलाया जाता है।

अभिनव ने मत्तकोकिला को मुख्य वीणा कहा है क्योंकि उसमें २१ तार होने के कारण मन्द्र, मध्य, तार तीनों स्थान प्राप्त होते हैं (ना० शा०, खण्ड ४, पृ० १२२, पं० २५)। इसमें मध्यस्थान में प्रयोज्य स्वर स्थापित करके शेष दो स्थानों में वही स्वर स्थापित करने पर तीनों स्थान प्राप्त हो जाते हैं।

मतंग के अनुसार जो कुछ गाया जाता है वह 'मध्यमध्वनिविशेष' यानी मध्यसप्तक से ही गाया जाता है और कंठध्वनि के द्वारा ही मन्द्रतारव्यवस्था सिद्ध होती है (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० ६०)। इसलिये वीणा पर स्थानप्राप्ति कंठ के अनुसार ही होती है।

इस विधि में पहले से स्थापित किसी मूर्च्छना के स्थान पर किसी भिन्न मूर्च्छना को स्थापित करने के लिये मध्यसप्तक के प्रथम स्वर के स्थान पर ही नई मूर्च्छना का प्रथम स्वर मान कर शेष स्वरों को उस ग्राम की श्रुतिव्यवस्था के अनुसार मिलाया जाता है। यह क्रिया दत्तिल की विधि का भी अनुमोदन करती है जिसका उल्लेख सिंह० ने १५वें श्लोक की टीका में किया है। इस क्रिया में शेष तारों को आवश्यकतानुसार चढ़ाना या उतारना पड़ सकता है। नीचे सारिणियों में इस विधि को दिखाया जा रहा है।*

---

* इन सारिणियों में स्वरों के बीच की आड़ी रेखाएँ स्वरों की श्रुतियों को, दो मूर्च्छनाओं के बीच बाएँ से दाहिनी ओर तिरछी रेखाएँ तारों को चढ़ाने अथवा पर्दों को आगे सरकाने की क्रिया को और दाहिनी से बाईं ओर तिरछी रेखाएँ तारों को उतारने अथवा पर्दों को पीछे की ओर सरकाने की क्रिया को सूचित करती हैं।

षड्जग्राम की मूर्च्छनाएँ

	३	२	४	४	३	२	४
उत्तरमन्द्रा	स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि — — — स						
रजनी	नि — — — स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध						
उत्तरायता	ध — नि — — — स — — रि — ग — — — म — — — प						
शुद्धषड्जा	प — — ध — नि — — — स — — रि — ग — — — म						
मत्सरीकृता	म — — — प — — ध — नि — — — स — — रि — ग						
अश्वक्रान्ता	ग — — — म — — — प — — ध — नि — — — स — — रि						
अभिरुद्गता	रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि — — — स						

मध्यमग्राम की मूर्च्छनाएँ

	३	२	४	४	३	२	४
षड्जग्रामिक स्वर	स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि — — — स						

	३	४	२	४	३	२	४
सौवीरी	म — — प — — — ध — नि — — — स — — रि — ग — — — म						
हारिणाश्वा	ग — — — म — — प — — — ध — नि — — — स — — रि						
कलोपनता	रि — ग — — — म — — प — — — ध — नि — — — स						
शुद्धमध्या	स — — रि — ग — — — म — — प — — — ध — नि						
मार्गी	नि — — — स — — रि — ग — — — म — — प — — — ध						
पौरवी	ध — नि — — — स — — रि — ग — — — म — — प						
हृष्यका	प — — — ध — नि — — — स — — रि — ग — — — म						

इस विधि के द्वारा ऐसी वीणाओं पर ही मूर्च्छना के स्वर मिलाना संभव है जिनमें या तो हर स्वर के लिये अलग-अलग तार हों, जैसे मत्तकोकिला, अथवा जिनमें पर्दों को सरकाया जा सके। प्रयोज्य स्वरावली की श्रुतियों के अनुसार स्वर मिलाने के लिये अचल पर्दों को सरकाना संभव नहीं है इसलिये ऐसी वीणाओं में पहली विधि ही प्रयोज्य हो सकती है जिनमें सारिकाओं को सरकाने की ज़रूरत नहीं होती बल्कि भिन्न सारिकाओं से विभिन्न मूर्च्छनाएँ आरंभ होती हैं।

भरत के परवर्ती काल में लक्ष्य में हुए परिवर्तनों का परिणाम मूर्च्छनास्थापना की पहली विधि है। अचल सारिका वाली वीणा के विकास और वीणा के स्वतंत्रवादन के प्रचलन के कारण यह विधि अस्तित्व में आई प्रतीत होती है। दूसरी विधि को कल्लि० ने भले ही ग्रन्थकार द्वारा लक्ष्य के अनुरोध से निरूपित कहा हो लेकिन शार्ङ्गदेव द्वारा जातियों के जो 'प्रस्तार' (स्वरतालपदबद्ध गीत) स्वरांकित रूप में इसी अध्याय के ७वें प्रकरण में दिये हैं उनसे यही लक्षित होता है कि वास्तव में तत्कालीन लक्ष्य में, कम से कम स्वतंत्र वादन में, पहली विधि ही प्रयोज्य रही होगी। इस बारे में ७वें प्रकरण में गान्धारी जाति की व्याख्या में भी चर्चा की जायगी।

भरत ने एक ही मूर्च्छना की सिद्धि दो प्रकार से कही है—

'द्विविधैक मूर्च्छनासिद्धिः तत्र षड्जग्रामे द्विश्रुत्युत्कर्षाद्धैवतीकृते गान्धारे ग्राममूर्च्छनायोरन्यतरत्वम्। तद्वशान्मध्यमादयो यथासंख्येन निषादादित्वं प्रतिपद्यन्ते। तद्वन्मध्यमग्रामे धैवतमार्दवाद् द्वैविध्यं तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च संज्ञान्यत्वम्' (ना० शा०, अ० २८, पृ० २६)। इसके अनुसार षड्जग्राम के गान्धार को धैवत से नवश्रुत्यन्तर संवाद करके दो श्रुति चढ़ा कर अन्तर गान्धार बना दिया जाय तो इस गान्धार के रूप में वह स्थान मिल जायगा जो मध्यमग्रामिक धैवत के लिये अभीष्ट है क्योंकि इस क्रिया के फलस्वरूप षड्जग्राम के रि--ग में ४ श्रुति का अन्तर हो जाता है और यही मध्यमग्राम के प-ध का अन्तर है। तदनुसार षड्जग्राम के मपधनि ही मध्यमग्राम के निसरिग और सरि ही मप बन जायँगे। इस प्रकार षड्जग्रामिक सरि(अंतर)गमपधनि में ही मध्यमग्रामिक मपधनिसरिग प्राप्त हो जाने से षड्जग्राम की पहली मूर्च्छना में ही मध्यमग्राम की पहली मूर्च्छना सिद्ध हो जायगी। जैसे—

```
                 ┌──३──┐┌─२─┐┌────४────┐┌────४────┐┌──३──┐┌─२─┐
षड्जग्राम की     स — — रि — ग — — — — म — — — — प — — ध — नि
पहली मूर्च्छना                   |
                             अंतर ग        ९ श्रुत्यन्तर
                                   └──────────────────────┘
मध्यमग्राम की    म — — प — — — — ध — नि — — — — स — — रि — ग
पहली मूर्च्छना   └──३──┘└────४────┘└─२─┘└────४────┘└──३──┘└─२─┘
```

इसी प्रकार मध्यमग्राम की पहली मूर्च्छना के धैवत को गान्धार के साथ षड्ज-पंचम संवाद के आधार पर दो श्रुति उतार कर, उतरे हुए धैवत को गान्धार कह कर शेष स्वरों की संज्ञा बदल दी जाय तो मध्यमग्राम की पहली मूर्च्छना ही षड्जग्राम की पहली मूर्च्छना बन जायगी क्योंकि शेष स्वरों के श्रुत्यन्तर दोनों मूर्च्छनाओं में एक से हैं। इस प्रकार एक ग्राम ही दूसरा ग्राम अथवा एक मूर्च्छना ही दूसरी मूर्च्छना बन जाती है। इसे नीचे की सारिणी में देखा जा सकता है—

```
                 ┌──३──┐┌────४────┐┌─२─┐┌────४────┐┌──३──┐┌─२─┐
मध्यमग्राम की    म — — प — — — — ध — नि — — — — स — — रि — ग
पहली मूर्च्छना          |
                        |          १३ श्रुत्यन्तर
                        |└────────────────────────────────┘
षड्जग्राम की     स — — रि — ग — — — — म — — — — प — — ध — नि
पहली मूर्च्छना   └──३──┘└─२─┘└────४────┘└────४────┘└──३──┘└─२─┘
```

ग्राम और मूर्च्छना सिद्धान्त का प्राचीन संगीत में विशेष प्रयोजन अथवा उपयोगिता है। दो ग्रामों के रूप में सिद्धान्ततः ऐसी दो स्वतंत्र और पृथक् स्वरावलियाँ स्वीकार की गईं जिनमें ऐसी जातियों और रागों का वर्गीकरण हो सके जिनमें भिन्न प्रकार के पंचम प्रयुक्त होते थे। षड्जग्राम के रूप में उन गेय रूपों को आधार मिला जिनमें षड्ज के साथ संवाद करने वाले पंचम का प्रयोग था और मध्यमग्राम उनका आधार बना जिनमें पंचम उतरा हुआ था और षड्ज के साथ नहीं बल्कि ऋषभ के साथ संवाद करता था। प्रचलित गेय रूपों में मुख्य अन्तर पंचम का था इसलिये दो ग्राम स्वीकृत हुए। यद्यपि गान्धारग्राम का भी उल्लेख किया जाता रहा है लेकिन भरत से पहले ही ऐसे जाति-रागादि प्रचार से उठ चुके थे जिनमें गान्धारग्राम की स्वरावली हो इसलिये उसे पृथ्वी से लुप्त कहा गया।

दो ग्राम पंचम के भेद से युक्त मूल अर्थात् आधार (शुद्ध) स्वर तो प्रदान करते थे, लेकिन अन्य विकृत स्वर नहीं। भिन्न-भिन्न गेय रूपों (जाति, राग आदि) में जो विभिन्न अन्तराल प्रयुक्त होते थे उनके आधार पर गेय रूपों के वर्गीकरण अथवा स्वरनिर्धारण के लिये अन्य स्वरावलियों की आवश्यकता ने मूर्च्छना सिद्धान्त को जन्म दिया। तदनुसार षड्जग्रामिक और

मध्यमग्रामिक मूल स्वरावलियों में हर स्वर से शुरू करकें ७-७ क्रम बनाए गए और यही दोनों ग्रामों की १४ मूर्च्छनाएँ बनीं। तत्कालीन गेय रूप इन १४ मूर्च्छनाओं और इनके भेदों (जिनकी चर्चा अगले श्लोकों में की जाने वाली है) के स्वरों से संबद्ध थे। इस प्रकार दो ग्रामों और उनकी मूर्च्छनाओं के स्वरों के द्वारा रागादि में प्रयोज्य स्वरावली का निर्धारण संभव हुआ।

वर्तमान संगीत में भेदक पंचम का तो लोप हो गया है लेकिन उत्तर भारतीय शुद्ध स्वरसप्तक यानी बिलावल के रूप में षड्जग्राम की निषाद की भरतोक्त रजनी मूर्च्छना ज्यों की त्यों विद्यमान है। नीचे की स्वरावलियों में इसे देखा जा सकता है—

	४	३	२	४	४	३	२
रजनी मूर्च्छना	नि — — — स	— — रि	— ग	— — — म	— — — प	— — ध	— नि

बिलावल सप्तक — सा — — — रे — — ग — म — — — प — — — ध — — नि — सां

९ श्रुत्यन्तर

१३ श्रुत्यन्तर

षड्जग्राम और मध्यमग्राम में से किसी भी ग्राम की मूल स्वरावली में पंचम का षड्ज और ऋषभ से एक साथ संवाद संभव नहीं है। लेकिन बिलावल की स्वरावली में पंचम षड्ज से १३ श्रुत्यन्तर से और ऋषभ से ९ श्रुत्यन्तर से संवाद करता है। इस प्रकार भेदक पंचम न रहने के बावजूद आज की उत्तर भारत की आधार स्वरावली षड्जग्राम से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है।

सिंह० ने अपनी टीका में द्वादशस्वर मूर्च्छनाओं का भी उल्लेख किया है। ये मूर्च्छनाएँ सबसे पहले मतंग ने नन्दिकेश्वर के मत से दी हैं जिनका प्रयोजन मूर्च्छनाओं के द्वारा रागों की सिद्धि करना है। इस मत के अनुसार राग की सिद्धि केवल सात स्वरों में नहीं हो सकती, मन्द्र और तार के कुछ स्वर जोड़ कर ही राग सिद्ध होते हैं इसलिये मतंग ने सप्तस्वर मूर्च्छनाओं के अलावा द्वादशस्वर मूर्च्छनाएँ भी कहीं हैं जो सप्तस्वर मूर्च्छनाओं के शुरू और अन्त में कुछ स्वर जोड़ने से बनी हैं। इनके स्वरूप इस प्रकार हैं*—

षड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ

उत्तरमन्द्रा	ध नि स रि ग म प ध नि स रि ग
रजनी	नि स रि ग म प ध नि स रि ग म
उत्तरायता	स रि ग म प ध नि स रि ग म प
शुद्धषड्जा	रि ग म प ध नि स रि ग म प ध
मत्सरीकृता	ग म प ध नि स रि ग म प ध नि
अश्वक्रान्ता	म प ध नि स रि ग म प ध नि स
अभिरुद्गता	प ध नि स रि ग म प ध नि स रि

* रेखांकित स्वरों में भरत की सप्तस्वर मूर्च्छनाओं की स्थिति देखी जा सकती है।

मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ

सौवीरी	नि स रि ग म प ध नि स रि ग म
हारिणाश्वा	स रि ग म प ध नि स रि ग म प
कलोपनता	रि ग म प ध नि स रि ग म प ध
शुद्धमध्या	ग म प ध नि स रि ग म प ध नि
मार्गी	म प ध नि स रि ग म प ध नि स
पौरवी	प ध नि स रि ग म प ध नि स रि
हृष्यका	ध नि स रि ग म प ध नि स रि ग

सिंह० ने मध्यमग्राम की पहली मूर्च्छना 'स' से और शेष ६ क्रम से रि, ग, म, प, ध, नि से शुरू की हैं। लेकिन बृह० में ये क्रम से नि, स, रि, ग, म, प, ध से ही शुरू हुई हैं। इसलिये उसी के अनुसार ऊपर मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं के स्वर दिये गये हैं।

मतंग ने इन मूर्च्छनाओं का उपयोग नन्दिकेश्वर के अनुसार जातियों की मूर्च्छनाएँ बताते समय किया है। शार्ङ्गदेव ने जातियों में मूर्च्छनाओं का जो निर्देश किया है वह ठीक मतंग जैसा है जिसे इसी अध्याय के ७वें प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। अभिनव और कुम्भा ने द्वादशस्वर मूर्च्छनाओं का स्पष्ट रूप से खंडन किया जिसके फलस्वरूप बाद के ग्रन्थकारों द्वारा इस मत की पूरी अपेक्षा की गई।

यह उल्लेखनीय है कि भरत ने जातियों के साथ मूर्च्छनाओं को सम्बद्ध नहीं किया है। जाति और मूर्च्छना को जोड़ना या तो परवर्ती काल में आरम्भ हुआ अथवा संभवतः भरत से भिन्न नन्दिकेश्वर की परंपरा से संबद्ध है।

चतुर्विधमूर्च्छनाः

चतुर्धा ताः पृथक्शुद्धाः काकलीकलितास्तथा।
सान्तरास्तद्द्वयोपेताः षट्पञ्चाशदितीरिताः॥ १६॥

चतुर्विध मूर्च्छनाएँ

१६. (अ०) ताः वे पृथक् चतुर्धा पृथक् चार प्रकार की (मूर्च्छनाएँ) शुद्धाः काकलीकलिताः सान्तराः शुद्धा, काकली (निषाद) युक्त, सान्तरा (अन्तर गान्धार सहित) तथा तत्-द्वय-उपेताः और उन दोनों (काकली, अन्तर) से युक्त इति षट्पञ्चाशत् यों (कुल मिला कर) छप्पन ईरिताः कही गई हैं।

(सर०) जिन मूर्च्छनाओं में ग्रामों की मौलिक श्रुतिव्यवस्था बनी रहती है वे शुद्धा मूर्च्छनाएँ हैं। यद्यपि मध्यमग्राम का 'प' और 'ध' षड्जग्राम की अपेक्षा विकृत ही हैं लेकिन जो श्रुतिव्यवस्था आधार के रूप में शुद्ध मानी उसे उस ग्राम की मूल व्यवस्था मान कर ही मूर्च्छनाएँ बनाई जाती हैं। ग्राम के निषाद के स्थान पर काकली निषाद का प्रयोग होने से सकाकली, गान्धार के स्थान पर अन्तर-ग होने से सान्तरा और ग्राम के ग-नि के स्थान पर अन्तर-काकली दोनों का प्रयोग करके बनाई गई मूर्च्छना सकाकल्यन्तरा होती है। इस प्रकार दोनों ग्रामों की १४ मूल मूर्च्छनाएँ ४-४ भेदों के द्वारा कुल ५६ मूर्च्छनाएँ बनती हैं।

विकृत स्वर अनेक होते हुए भी सिर्फ़ अन्तर और काकली को रख कर ही मूर्च्छनाएँ बनाने का कारण यह है कि ये दो ही ऐसे विकृत स्वर हैं जो दोनों ग्रामों में प्रयुक्त हो सकते हैं। कैशिक साधारण से प्राप्त होने वाले अन्तराल वीणा में स्थापित नहीं किये जाते बल्कि वे अपने-अपने ग्रामों की कुछ नियत जातियों तथा रागों के विशेष संचारों में स्वतः प्रयुक्त हो जाते हैं। ग्रामभेदक पंचम तो केवल मध्यमग्राम में ही होता है।

मूर्च्छना के चतुर्विध भेद दो प्रकार के हैं। भरत के अनुसार पूर्णा, षाडविता, औडुविता और साधारणकृता—ये चार प्रकार की मूर्च्छनाएँ होती हैं। साधारणकृता में तीन संभावनाएँ हैं—अन्तर गान्धारयुक्त, काकलीयुक्त और एकसाथ अन्तर-काकली युक्त। शार्ङ्गदेव के अनुसार मूर्च्छनाएँ शुद्धा, सान्तरा, सकाकली और सकाकल्यन्तरा होती हैं। मूर्च्छना का आरंभक स्वर प्रयोग में अंश बनता है लेकिन विकृत होने के कारण अन्तर और काकली अंश नहीं बन सकते। स्पष्ट है कि इस कारण ये दोनों स्वर मूर्च्छना के आरंभक स्वर नहीं हो सकते यानी इनसे मूर्च्छनाएँ नहीं बन सकतीं। इस स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि शार्ङ्गदेव की दोनों ग्रामों की गांधार और निषाद से शुरू होने वाली मूर्च्छनाओं के साधारणकृत भेद कैसे बनेंगे? और अगर नहीं बनेंगे तो ५६ की संख्या भी सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि गांधार की मूर्च्छना में मूल गांधार के स्थान पर अन्तर गांधार का, निषाद की मूर्च्छना में मूल निषाद के स्थान पर काकली का और दोनों में से किसी में भी एकसाथ अन्तर-काकली का प्रयोग संभव नहीं है। भरत की साधारणकृता मूर्च्छनाओं में यह समस्या नहीं है क्योंकि वहाँ मूर्च्छना के चार भेदों में वह केवल एक भेद है इसलिये ५६ की संख्या की दृष्टि से हर मूर्च्छना के सान्तरा, सकाकली आदि तीनों प्रकार बनाना ज़रूरी नहीं है। गान्धार की साधारणकृता मूर्च्छना सान्तरा न होकर सकाकली और निषाद की सकाकली के बजाय सान्तरा हो सकती है तथा अन्य मूर्च्छनाओं के तीनों प्रकार के साधारणकृत भेद बन सकते हैं। (भरत के मूर्च्छनाभेद के स्पष्टीकरण के लिये परिशिष्ट—घ देखें)।

उपर्युक्त स्थिति में शार्ङ्गदेव द्वारा कही गई ५६ संख्या के बारे में यही समझना होगा कि यह संख्या गणिताधारित सारी संभावनाओं की सूचक है लेकिन सभी का प्रयोग हो यह ज़रूरी नहीं है। मतंग के साधारणकृता मूर्च्छना-संबंधी विवरण से इसकी पुष्टि होती है, जो इस प्रकार है—*'इदानीं साधारणकृता मूर्छनास्तु ख्यातुमाह—साधारणस्वरौ निषादगान्धारवन्तौ। तदादिकृतास्तत्रैवान्तर्भूता: साधारणमूर्छना भवन्ति'* (बृह, प्र० खण्ड, अनु० ४७)। इसके अन्तिम अंश में कहा गया है कि साधारण स्वरों यानी अन्तर-काकली से आरंभ होने वाली मूर्च्छनाएँ गान्धार-निषाद की मूर्च्छनाओं में ही अन्तर्भूत होती हैं, पृथक् नहीं।

साधारणकृता मूर्च्छनाओं में अन्तर-काकली के प्रयोग का नियम सामान्य है जो सभी मूर्च्छनाओं पर लागू हो सकता है। लेकिन गान्धार-निषाद की मूर्च्छनाओं में इस नियम का बाध मतंग के ऊपर उद्धृत अंश से होता है।

प्रसङ्गात् काकल्यन्तरलक्षणम्

श्रुतिद्वयं चेत् षड्जस्य निषादः संश्रयेत्तदा।
स काकली मध्यमस्य गान्धारस्त्वन्तरः स्वरः॥ १७॥

प्रसंगवश अन्तर-काकली का लक्षण

१७. (अ०) (जब) निषादः निषाद षड्जस्य श्रुतिद्वयं षड्ज की दो श्रुतियों के संश्रयेत् चेत् संश्रित होता है तदा तब सः काकली वह (निषाद) काकली (होता है)। गान्धारः तु गान्धार तो मध्यमस्य मध्यम की (दो श्रुतियों के संश्रित होने पर) अन्तरः स्वरः अन्तर स्वर (होता है)।

(सर०) चतुर्विध मूर्च्छनाओं के शार्ङ्गदेव द्वारा कहे गये ५६ भेदों में से अन्तर-काकली युक्त ४२ भेद बनते हैं। प्रसंगवश इन दोनों स्वरों का स्वरूप बता दिया है। (इन स्वरों का विशेष विवरण 'स्वरसाधारण प्रकरण' में दिया जायगा।)

मूर्च्छनासंख्यापरिज्ञानोपायः

यस्यां यावतिथौ षड्जमध्यमौ ग्रामयोः क्रमात्।
मूर्च्छना तावतिथ्येव सा निःशङ्केन कीर्तिता॥ १८॥

मूर्च्छनासंख्या के ज्ञान का उपाय

१८. (अ०) ग्रामयोः (षड्ज और मध्यम) ग्रामों की यस्यां जिस (मूर्च्छना) में क्रमात् क्रम से षड्जमध्यमौ षड्ज और मध्यम यावतिथौ जितनवें (जिस संख्या पर) में (हों) सा वह तावतिथ्येव मूर्च्छना उतनवीं (उसी संख्या की) मूर्च्छना निःशङ्केन निःशङ्क (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कीर्तिता कही गई है।

(सर०) किसी मूर्च्छना का अपने ग्राम के मूल मूर्च्छनाक्रम में कौन-सा यानी कितनवाँ स्थान है, यह जानने की विधि इस श्लोक में बताई गई है। षड्जग्राम में मूर्च्छनाक्रम स, नि, ध, प, म, ग, रिं और मध्यमग्राम में म, ग, रि, स, नि, ध, प यों है। इस क्रम में किसी मूर्च्छना की संख्या जानने का उपाय यह है कि षड्जग्राम की मूर्च्छनाओं में षड्ज की और मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं में मध्यम की स्थिति कहाँ है यह गिन लिया जाय। जैसे—ध नि स रि ग म प—षड्जग्राम की 'ध' की इस मूर्च्छना में 'स' तीसरे स्थान पर है इसलिये षड्जग्राम में 'ध' की मूर्च्छना तीसरी होती है। इसी तरह मध्यमग्राम में पधनिसरिगम—इस पंचम की मूर्च्छना में 'म' सातवें स्थान पर है इसलिये इस ग्राम में पंचम की मूर्च्छना सातवीं होती है।

मूर्च्छनाक्रमाः

प्रथमादिस्वरारम्भादेकैका सप्तधा भवेत्।
तासूच्चार्यान्त्यस्वरांस्तान्पूर्वानुच्चारयेत् क्रमात्॥ १९॥
ते क्रमास्तेषु संख्या स्याद् द्वानवत्या शतत्रयम्।

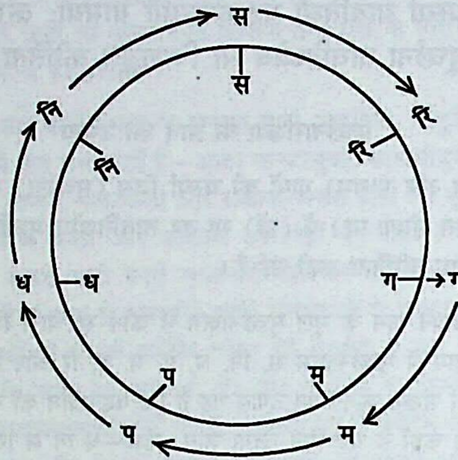
मूर्च्छनाओं के क्रम

१९-२० ख. (अ०) प्रथमादि-स्वर-आरम्भात् प्रथम आदि स्वरों से आरंभ होने से एक-एका प्रत्येक (मूर्च्छना) सप्तधा भवेत् सात प्रकार की होती है। तासु उनमें अन्त्यस्वरान् उच्चार्य अन्तिम स्वरों का उच्चारण करके क्रमात् क्रम से (अर्थात् प्रत्येक बार) तान् उन पूर्वान् उच्चारयेत् पहले वालों का उच्चार करना चाहिये। ते क्रमाः वे (मूर्च्छनाओं के) क्रम (हैं)। तेषु संख्या उनमें संख्या शतत्रयं द्वानवत्या तीन सौ बानवे स्यात् होती है।

(सर०) हर ग्राम में ७-७ मूर्च्छनाएँ हैं। इनमें से हरेक के ७ स्वरों में क्रम से अगले-अगले स्वर से शुरू करके ७-७ क्रम बनाए जा सकते हैं। जैसे षड्ज की मूर्च्छना स रि ग म प ध नि में क्रम से रि से स, ग से रि, म से ग, प से म, ध से प और नि से ध—यों ७ क्रम बन सकते हैं। इस प्रकार ५६ मूर्च्छनाओं में से हरेक के ७-७ क्रम यानी कुल ५६ × ७ = ३९२ क्रम होते हैं।

किसी मूर्च्छना के मूल सप्तस्वर क्रम में रह कर क्रम बनाने से ७ स्वर प्राप्त नहीं होते। जैसे, षड्ज की मूर्च्छना में अगर ग से क्रम बनाएँ तो ग म प ध नि—ये ५ ही स्वर मिल सकते हैं। इसलिये सिंह० ने प्रश्न उठाया कि अगले-अगले स्वर से क्रम बनाने पर सप्तस्वरता कैसे रहेगी? उसके अनुसार इस प्रश्न का उत्तर श्लोक की दूसरी पंक्ति में इस प्रकार दिया गया है कि अगले-अगले स्वर से शुरू करके मूर्च्छना के अन्तिम स्वर तक जाकर फिर से मूर्च्छना के शुरू के स्वर लिये जाते हैं।

इसका अर्थ यह है कि ये क्रम चक्रिक गति से बनाए जाते हैं क्योंकि तभी शुरू के स्वरों पर जाना संभव है। जैसे—



रेखात्मक गति से स की मूर्च्छना स रि ग म प ध नि में ग से क्रम शुरू करने पर मूर्च्छना के मूल क्रम में ग म प ध नि— ये ५ स्वर तो प्राप्त होंगे लेकिन उसके बाद स रि—ये दो स्वर मूलक्रम से आगे बढ़कर प्राप्त करने होंगे। उस स्थिति में उस क्रम और गांधार की मूर्च्छना में कोई भेद नहीं रहेगा। वास्तव में ये क्रम किसी मूर्च्छना के अपने स्वरक्रम के भीतर रहने पर ही उस मूर्च्छना के क्रम कहला सकते हैं।

सिंह० ने यह शंका भी उठाई कि इस प्रकार मूर्च्छना के शुरू के स्वरों पर जाने से आरोह-अवरोह का अभाव होने के कारण मूर्च्छना का लक्षण ही खंडित हो जाता है। इसका समाधान उसने इस तरह किया कि आरोह-अवरोह न रहने पर भी स्वरों का निश्चित क्रम रहने से मूर्च्छनात्व बना रहता है। यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ सिंह० ने क्रमयुक्तता को मूर्च्छना का प्रमुख लक्षण स्वीकार किया है।

सिंह० ने क्रमों के निरूपण के प्रयोजन का यह कह कर संकेत दिया है कि ये कूटतानों में उपयोगी होते हैं। आगे कूटतानों के संदर्भ में ग्रंथकार द्वारा यह बताया जाने वाला है कि कूटतानें स्वरों के व्युत्क्रम से यानी मूलक्रम के भंग से बनती हैं इसलिये एक मत के अनुसार क्रमों को कुलसंख्या में गिना नहीं जाता। ऐसा करते समय ये पूर्णक्रम, जो ३९२ हैं, घटा दिये जाते हैं। लेकिन कूटतानों की रचना का आधार मूलक्रम ही होते हैं इसलिये कूटतानों की रचना और संख्या—दोनों के लिये क्रमों का महत्त्व है।

मूर्च्छनादेवताः

यक्षरक्षोनारदाब्जभवनागाश्विपाशिनः ॥ २० ॥

षड्जग्रामे मूर्च्छनानामेताः स्युर्देवताः क्रमात्।

मूर्च्छनाओं के देवता

२० ग-२१ ख. (अ०) यक्ष-रक्षस्-नारद-अब्जभव-नाग-अश्वि-पाशिनः यक्ष, राक्षस, नारद, ब्रह्मा, नाग, अश्विनी कुमार (और) वरुण—षड्जग्रामे षड्जग्राम में क्रमात् क्रम से मूर्च्छनानां मूर्च्छनाओं के एताः देवताः स्युः ये देवता होते हैं।

ब्रह्मेन्द्रवायुगन्धर्वसिद्धद्रुहिण भानवः॥ २१॥

स्युरिमा मध्यमग्राममूर्च्छनादेवताः क्रमात्।

२१ ग-२२ ख. (अ०) ब्रह्मा-इन्द्र-वायु-गन्धर्व-सिद्ध-द्रुहिण-भानवः ब्रह्मा, इन्द्र, वायु, गन्धर्व, सिद्ध, शिव (और) सूर्य—क्रमात् इमाः क्रम से ये मध्यमग्राम-मूर्च्छनादेवताः मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं के देवता स्युः होते हैं।

नारदमतेन मूर्च्छनानां नामान्तराणि

तासामन्यानि नामानि नारदो मुनिरब्रवीत्॥ २२॥

मूर्च्छनोत्तरवर्णाऽऽद्या षड्जग्रामेऽभिरुद्गता।
अश्वक्रान्ता च सौवीरी हृष्यका चोत्तरायता॥ २३॥

रजनीति समाख्याता ऋषीणां सप्त मूर्च्छनाः।

नारदमत से मूर्च्छनाओं के अन्य नाम

२२ ग-२४ ख. (अ०) नारदः मुनिः नारद मुनि ने तासां उन (मूर्च्छनाओं) के अन्यानि नामानि अन्य नाम अब्रवीत् कहे हैं। षड्जग्रामे षड्जग्राम में आद्या मूर्च्छना पहली मूर्च्छना उत्तरवर्णा उत्तरवर्णा (है तथा) अभिरुद्गता अश्वक्रान्ता च अभिरुद्गता और अश्वक्रान्ता सौवीरी हृष्यका उत्तरायता च सौवीरी, हृष्यका और उत्तरायता, रजनी रजनी इति ये ऋषीणां सप्त मूर्च्छनाः ऋषियों की सात मूर्च्छनाएँ समाख्याताः कही गई हैं।

(सर०) नारद के नाम से तीन ग्रन्थ प्राप्त हैं—नारदीयाशिक्षा, संगीतमकरन्द और पञ्चमसारसंहिता। अन्तिम ग्रन्थ में मूर्च्छनाओं का उल्लेख नहीं है। दूसरे में मूर्च्छनानामों से संबंधित पाठ भ्रष्ट जरूर है लेकिन २१ मूर्च्छनाओं के नाम वही हैं जो यहाँ दिये गये हैं (सं० म०, १/१/५७-६२, संगीत १९७८, संगीत कार्यालय)। दोनों में उत्तरवर्णा के स्थान पर उत्तरमन्द्रा है। षड्जग्राम की मूर्च्छनाओं के नारदोक्त नामों में से कुछ संगीत के शास्त्रग्रन्थों में षड्जग्राम में और कुछ मध्यमग्राम में प्राप्त होते हैं। उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, अश्वक्रान्ता और अभिरुद्गता षड्जग्रामीय तथा सौवीरी और हृष्यका मध्यमग्रामीय मूर्च्छनाओं में हैं। लेकिन नारद की इन मूर्च्छनाओं के आरंभक स्वर वही हैं जो अन्य ग्रन्थों में इन मूर्च्छनाओं के हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि नारद ने २१ मूर्च्छनाओं को देव, पितर और ऋषि—इन तीन वर्गों में ७-७ की संख्या में रखा है लेकिन इन्हें तीन ग्रामों से संबद्ध नहीं किया है। ऊपर कही गई ७ मूर्च्छनाएँ ऋषियों यानी मनुष्यों की हैं इसलिये पृथ्वी पर प्रयुक्त होती हैं। सं० र० में प्राप्त नाम कुछ भिन्न हैं और २१ मूर्च्छनाएँ तीन ग्रामों से संबद्ध हैं।

आप्यायनी विश्वकृता चन्द्रा हेमा कपर्दिनी॥ २४॥

मैत्री चान्द्रमसी पित्र्या मध्यमे मूर्च्छना इमाः।

२४ ग-२५ ख. (अ०) मध्यमे मध्यम (ग्राम) में आप्यायनी विश्वकृता चन्द्रा हेमा कपर्दिनी मैत्री चान्द्रमसी आप्यायनी, विश्वकृता, चन्द्रा, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री (और) चान्द्रमसी इमाः पित्र्याः मूर्च्छनाः ये पितरों की मूर्च्छनाएँ (हैं)।

(सर०) ना० शि० में विश्वकृता और चान्द्रमसी के स्थान पर क्रम से विश्वभृता और वार्हती नाम हैं।

नन्दा विशाला सुमुखी चित्रा चित्रवती सुखा॥ २५॥
आलापा चेति गान्धारग्रामे स्युः सप्त मूर्च्छनाः।
ताश्च स्वर्गे प्रयोक्तव्या विशेषात्तेन नोदिताः॥ २६॥

२५ ग-२६. (अ०) नन्दा विशाला सुमुखी चित्रा चित्रवती सुखा आलापा च इति नन्दा, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा और आलापा—ये सप्त मूर्च्छनाः सात मूर्च्छनाएँ गान्धारग्रामे स्युः गान्धारग्राम में होती हैं। ताः च और वे स्वर्गे प्रयोक्तव्याः स्वर्ग में प्रयुक्त करनी चाहियें (अर्थात् होती हैं)। तेन इसलिये विशेषात् विशेषता से (अर्थात् लक्षण सहित) न उदिताः नहीं कही गई हैं।

(सर०) ना० शि० में नन्दा और आलापा के बजाय नन्दी और वला नाम हैं।

शुद्धतानलक्षणं, तद्भेदाश्च

तानाः स्युर्मूर्च्छनाः शुद्धाः षाडवौडुवितीकृताः।

शुद्धतान का लक्षण और उसके भेद

२७ क-ख. (अ०) शुद्धाः मूर्च्छनाः शुद्धा मूर्च्छनाएँ षाडव-औडुवितीकृताः षाडव (और) औडव बनाई जाने पर तानाः स्युः (शुद्ध) तान होती हैं।

(सर०) वीणा पर स्थापित किसी मूर्च्छना में १ या २ स्वरों का लोप करके बनने वाले षाडव या औडव रूपों को तान कहा गया है। भरत ने इन्हें मूलतः मूर्च्छना के भेद कहा है और इन्हें तान संज्ञा भी दी है। शार्ङ्गदेव के अनुसार मूर्च्छनाएँ सप्तस्वर यानी पूर्ण होती हैं और तान अपूर्णस्वरवाली। अन्तर-काकलीरहित शुद्धा मूर्च्छनाओं में ही स्वर वर्जित करने पर ये तानें बनती हैं इसलिये उसने इन्हें शुद्धतान कहा है।

विस्तार अर्थ वाली 'तनु' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने से 'तान' शब्द बनता है। इसका संदर्भप्राप्त अर्थ है 'विस्तार करने वाला'।* वीणा पर स्थापित किसी शुद्धा मूर्च्छना में स्वर वर्जित करने पर उस मूर्च्छना के भेद के रूप में तान उसी का विस्तार करती है इसलिये यह संज्ञा सार्थक है।

ग्रंथकार ने दो प्रकार की तानों का निरूपण किया है—शुद्ध तान और कूट तान। शुद्ध तानों में स्वर का केवल लोप होता है और कूटतानों में लोप अथवा लोप के बिना स्वरों का व्युत्क्रम होता है जिनका निरूपण ग्रंथकार द्वारा आगे किया जाने वाला है।

श्लोक १९-२० की व्याख्या में सिंह० ने मूर्च्छना और तान के भेद संबंधी मतंग का जो अंश उद्धृत किया है उसमें तान को आरोहात्मक कहा है लेकिन बृह० के मूलपाठ में तान को अवरोहात्मक कहा गया है। कुम्भा ने दोनों ग्रामों की जो शुद्ध तानें दी हैं उनमें स्वरों का अवरोह क्रम है।

मूर्च्छना, क्रम और तान संबंधी उपर्युक्त चर्चा से यह प्रकट है कि भरत ने मूर्च्छना के लिये आरोह-अवरोह का उल्लेख नहीं किया है लेकिन मतंग और शार्ङ्गदेव के अनुसार यह मूर्च्छना का लक्षण है। भरत, मतंग के अनुसार तानें मूर्च्छना के ही षाडव-औडव भेद हैं और शार्ङ्गदेव ने इन्हें शुद्धतान कह कर इनका मूर्च्छना से भेद दिखाया है। 'क्रम' शुद्धा मूर्च्छनाओं में चक्रिक गति से प्राप्त होने वाले भेद हैं लेकिन उनके लिये आरोह-अवरोह संबंधी नियम नहीं है। मतंग, शार्ङ्गदेव और कुम्भा ने मूर्च्छनाओं को आरोह-अवरोह दोनों से युक्त तथा मतंग और कुम्भा ने शुद्धतानों को अवरोहात्मक बताया है।

---

* संस्कृत में तान शब्द पुल्लिंग है लेकिन हिन्दी में स्त्रीलिंग। तदनुसार व्याख्या में उसे स्त्रीलिंग रूप में रखा गया है।

तत्र षाडवतानाः

षड्जगाः सप्त हीनाश्चेत्क्रमात्सरिपसप्तमैः ॥ २७॥

तदाऽष्टाविंशतिस्ताना, मध्यमे सरिगोज्झिताः।
सप्त क्रमाद्यदा तानाः स्युस्तदा त्वेकविंशतिः ॥ २८॥

एते चैकोनपञ्चाशदुभये षाडवा मताः।

षाडव तानें

२७ ग-२९ ख. (अ०) षड्जगाः सप्त षड्ज(ग्राम)गामी सात (मूर्च्छनाएँ जब) क्रमात् क्रम से स-रि-प-सप्तमैः हीनाः चेत् स, रि, प (और) नि से रहित होती हैं तदा तब अष्टाविंशतिः तानाः अट्ठाईस (षाडव) तानें (बनती हैं)। मध्यमे मध्यमग्राम में यदा जब सप्त सात (मूर्च्छनाएँ) क्रम से स-रि-गोज्झिताः स, रि, ग से रहित (होती हैं) तदा तु तब तो एकविंशतिः तानाः स्युः इक्कीस (षाडव) तानें होती हैं। एते च और ये उभये दोनों (ग्रामों की मिला कर) एकोनपञ्चाशत् उनन्चास षाडवाः मताः षाडव (तानें) मानी गई हैं।

(सर०) वीणा पर तानें किस तरह स्थापित की जाती हैं इसका शार्ङ्गदेव ने कोई उल्लेख नहीं किया है। लेकिन भरत ने 'प्रवेश' और 'निग्रह' से तानक्रिया दो प्रकार की कही है। अभिनव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस क्रिया का निरूपण भरत ने मत्तकोकिला जैसी वीणा पर किया है जिसमें हर स्वर के लिये अलग-अलग तार हैं (जैसे वर्तमान स्वर-मण्डल, संतूर आदि)। इस पर सिंह० की टीका का आधार भरत ही है।

'प्रवेश' का सामान्य अर्थ है 'किसी में पहुँचाना'। तानक्रिया में जिस स्वर का लोप करना हो उस स्वर के तार को किसी अन्य स्वर के तार में प्रविष्ट कराया जाता है। इसके लिये लोप्य स्वर के तार को चढ़ा कर या उतार कर अगले या पिछले स्वर में से उस स्वर में मिलाया जाता है जिसका प्रयोग प्रयोज्य राग में ज़्यादा होता है।

'निग्रह' का अर्थ है 'असंस्पर्श' यानी वीणा पर लोप्य स्वर के तार को अगले या पिछले स्वर में मिलाए बिना लोप्य स्वर को न बजाना। इस क्रिया में लोप्य स्वर के तार के छू जाने की आशंका से बचने के लिये 'प्रवेश' क्रिया बताई गई है।

वर्तमान प्रयोग में इन क्रियाओं को इस प्रकार समझा जा सकता है। आज दो तरह के तंत्रीवाद्य हैं—एक तो स्वरमंडल वर्ग के जिनमें हर स्वर के लिये अलग तार होता है और दूसरे सितार, सरोद जैसे डाँड वाले जिनमें एक ही तार पर पर्दों अथवा पर्दों के बिना भिन्न-भिन्न स्वर उत्पन्न किये जाते हैं। इनमें से पहले वर्ग के वाद्यों में दोनों क्रियाएँ संभव हैं लेकिन दूसरे प्रकार के वाद्यों में निग्रह ही संभव है क्योंकि यहाँ किसी स्वर को अगले या पिछले स्वर में मिलाया नहीं जा सकता, उस स्थान को छोड़ा ही जा सकता है।

षड्जग्राम में हर शुद्धा मूर्च्छना में से स, रि, प और नि में से एक बार में एक-एक स्वर का लोप करने से हर मूर्च्छना की ४-४, कुल २८ षाडव तानें बनती हैं। इसी तरह मध्यमग्राम में स, रि और ग का लोप करने से हर मूर्च्छना की ३-३, कुल २१ षाडव तानें बनती हैं। इस तरह दोनों ग्रामों की षाडव तानों की कुल संख्या २८+२१ = ४९ होती है।

कल्लि० ने यह शंका उठाई कि पंचम का लोप होने पर यह पहचान कैसे होगी कि वह किस ग्राम की तान है। इसका उसने यह उत्तर दिया कि पंचम का लोप तो ग्रामविशेष यानी षड्जग्राम में ही हो सकता है, इसी से निश्चय हो जायगा कि वह षड्जग्राम की तान है।

यहाँ षड्जग्राम की षड्ज की मूर्च्छना के षाडव रूप बना कर दिखाये जा रहे हैं। इसकी तरह अन्य मूर्च्छनाओं के रूप भी बनाये जा सकते हैं।

षाडव भेद (तानें)

× रि ग म प ध नि
स × ग म प ध नि
स रि ग म × ध नि
स रि ग म प ध ×

औडुवतानाः

सपाभ्यां द्विश्रुतिभ्यां च रिपाभ्यां सप्त वर्जिताः॥ २९॥

षड्जग्रामे पृथक्ताना एकविंशतिरौडुवाः।
रिधाभ्यां द्विश्रुतिभ्यां च मध्यमग्रामगास्तु ते॥ ३०॥

हीनाश्चतुर्दशैव स्युः, पञ्चत्रिंशत्तु ते युताः।
सर्वे चतुरशीतिः स्युर्मिलिताः षाडवौडुवाः॥ ३१॥

औडव तानें

२९ ग-३१. (अ०) षड्जग्रामे षड्जग्राम में सप्त सात (मूर्च्छनाएँ) स-पाभ्यां स-प से, द्विश्रुतिभ्यां द्विश्रुतिकों (द्विश्रुति ग-नि) से रि-पाभ्यां च और रि-प से वर्जिताः वर्जित पृथक् पृथक् एकविंशतिः औडुवाः तानाः इक्कीस औडव तानें (होती हैं)। मध्यमग्रामगाः तु ते मध्यमग्रामगामी तो वे रि-धाभ्यां रि-ध से द्विश्रुतिभ्यां च हीनाः और द्विश्रुतिकों (ग-नि) से हीन (होने पर) चतुर्दश एव स्युः चौदह ही होती हैं। ते युताः तु वे सब मिल कर तो पञ्चत्रिंशत् पैंतीस (होती हैं और) षाडव-औडुवाः सर्वे मिलिताः षाडव-औडव सब मिलाकर चतुरशीतिः स्युः चौरासी होती हैं।

(सर०) षड्जग्राम की हर मूर्च्छना में से एक-एक बार स-प, रि-प और ग-नि में से एक-एक स्वर जोड़ी का लोप करने से ३-३ औडव तानें, कुल ७ × ३ = २१ औडव तानें बनती हैं। मध्यमग्राम में रि-ध और ग-नि के लोप से कुल ७ × २ = १४ औडव तानें बनती हैं। दोनों ग्रामों की षाडव और औडव मिला कर (२८ + २१ + २१ + १४ = ८४) तानें होती हैं।

ध्यान देने योग्य है कि किसी भी ग्राम की तानों में मध्यम का, मध्यमग्राम की तानों में पंचम का और षड्जग्राम की तानों में धैवत का लोप नहीं है। कारण यह है कि प्रयोग में अपनी विशेष स्थिति और महत्त्व के कारण मध्यम को अलोपी, अनाशी, प्रवर माना गया है, मध्यमग्राम की पहचान ही पंचम पर निर्भर है ओर षड्जग्राम में ऐसी जाति, राग प्रायः नहीं थे जिनमें धैवत का लोप होता हो।

कूटतानलक्षणम्

असंपूर्णाश्च संपूर्णा व्युत्क्रमोच्चारितस्वराः।
मूर्च्छनाः कूटतानाः स्युस्तत्सङ्ख्यामभिदध्महे॥ ३२॥

कूटतान का लक्षण

३२. (अ) **व्युत्क्रम-उच्चारित-स्वराः** व्युत्क्रम (उलट-पुलट करके) से उच्चारित स्वर वाली **असंपूर्णाः संपूर्णाः च मूर्च्छनाः** असंपूर्णा, और संपूर्णा मूर्च्छनाएँ **कूटतानाः स्युः** कूटतानें होती हैं। **तत्-सङ्ख्यां** उनकी सङ्ख्या को **अभिदध्महे** कहा जाता है (अर्थात् कहते हैं)।

(सर०) ग्रंथकार ने मूर्च्छना का लक्षण क्रमयुक्त ७ स्वरों का आरोहावरोह दिया है। तदनुसार असंपूर्णा मूर्च्छना संभव नहीं है इसलिये 'असंपूर्णा' का अर्थ या तो मूर्च्छना के चातुर्विध्य के दूसरे मत के अनुसार समझना होगा जिसमें षाडव-औडव रूपों को भी मूर्च्छना माना गया है अथवा कल्लि० के अनुसार मूर्च्छना का सामान्य रूप से आरोह अर्थ लेना होगा क्योंकि कूटतान का लक्षण व्युत्क्रमोच्चार है और इसके विपरीत या भेदक धर्म आरोह ही हो सकता है। मूल आरोह क्रम में कुछ भी भिन्नक्रमता होने पर व्युत्क्रम होता है इसीलिये अवरोहात्मक क्रम को भी कूटतान माना गया है। किसी निश्चित संख्या के स्वरों की कूटतानों में अन्तिम कूटतान आधारक्रम की ठीक उल्टे क्रम में यानी अवरोह स्वरूप वाली ही होती है।

पूर्णापूर्णाः कूटतानाः

पूर्णाः पञ्च सहस्त्राणि चत्वारिंशद्युतानि तु।
एकैकस्यां मूर्च्छनायां कूटतानाः सह क्रमैः॥ ३३॥

षट्पञ्चाशन्मूर्च्छनास्थाः पूर्णाः कूटास्तु योजिताः।
लक्षद्वयं सहस्त्राणि द्व्यशीतिर्द्वे शते तथा॥ ३४॥
चत्वारिंशच्च सङ्ख्याता,

पूर्ण-अपूर्ण कूटतानें

३३-३५ क. (अ०) **एक-एकस्यां मूर्च्छनायां** एक-एक मूर्च्छना में **क्रमैः सह तु** (मूल) क्रम सहित तो **चत्वारिंशत् युतानि पञ्च सहस्त्राणि** चालीस से युक्त पाँच हजार (५०४०) **पूर्णाः कूटतानाः** पूर्ण कूटतानें (होती हैं)। **षट्पञ्चाशत्-मूर्च्छनास्थाः** ५६ मूर्च्छनाओं में स्थित **योजिताः पूर्णाः कूटाः तु** जोड़ी गई पूर्णा (और) कूट (तानें) तो **लक्षद्वयं** दो लाख **द्व्यशीति सहस्त्राणि** बयासी हजार **द्वे शते** दो सौ **तथा चत्वारिंशत् च सङ्ख्याताः** और चालीस संख्या वाली (२,८२,२४० हैं)।

(सर०) दत्तिल, मतंग आदि ने गूलक्रम को कूटतान नहीं माना है क्योंकि उनमें व्युत्क्रम नहीं होता। इसलिये श्लोक १९-२० ख में कहे गये हर मूर्च्छना के ७ क्रमों को छोड़ कर ५०३३ पूर्ण कूटतानें कही हैं। लेकिन ग्रंथकार के अनुसार मूलक्रम के बिना व्युत्क्रम भी संभव नहीं है इसलिये मूलक्रम को सम्मिलित करना जरूरी है। पूर्वमत के अनुसार मूलक्रम छोड़ न दिया जाय इसलिये ग्रंथकार ने 'सह क्रमैः' कहा है।

एक मूर्च्छना में बनने वाली ५०४० कूटतानों को मूर्च्छनाओं की कुल संख्या ५६ से गुणा करने पर कूटतानों की २,८२,२४० संख्या प्राप्त होती है।

अथापूर्णान्प्रचक्ष्महे।
एकैकान्त्यान्त्यविरहाद्भेदाः षट् षट्स्वरादयः॥ ३५॥

एकस्वरोऽत्र निर्भेदोऽप्युक्तो नष्टादिसिद्धये।
क्रमा अकूटतानत्वेऽप्युक्तास्तेषूपयोगिनः॥ ३६॥

३५ ख-३६. (अ०) अथ अब **अपूर्णान्** अपूर्ण (कूटतानों) को **प्रचक्ष्महे** कहा जाता है। **एक-एक-अन्त्य-अन्त्यविरहात्** (क्रम से) एक-एक अन्तिम-अन्तिम (स्वर को) छोड़ने से **षट्स्वर-आदयः** ६ आदि स्वरों से **षट् भेदाः** ६ भेद (होते हैं)। **अत्र** यहाँ **एकस्वरः** एक स्वर (वाला) **निर्भेदः अपि** भेदरहित (होने पर) भी **नष्टादिसिद्धये** नष्ट (-उद्दिष्ट) आदि की सिद्धि के लिये **उक्तः** कहा गया है। **क्रमाः** क्रम (में) **अकूटतानत्वे अपि** कूटतानत्व (व्युत्क्रम) न होने पर भी **तेषु** उनमें (कूटतानों में) **उपयोगिनः** उपयोगी होने से **उक्ताः** कहे गये हैं।

(सर०) एक-एक अन्तिम स्वर छोड़ने का अर्थ यह है कि ७ स्वरों के क्रम में अन्तिम 'नि' को छोड़कर ६ स्वरों का, फिर ६ स्वरों में से अन्तिम 'ध' को छोड़कर ५ का और इसी तरह क्रमशः प, म, ग, रि छोड़ देने पर क्रम से ४, ३, २, १ स्वरों के—यों ६ भेद बन जायँगे। इन सबकी अपूर्ण कूटतानें बनेंगी। एक स्वर में व्युत्क्रम संभव न होने से भेद नहीं होते फिर भी नष्टोद्दिष्ट में अन्त में १ अंक जोड़ा जाता है इसलिये १ स्वर के प्रस्तार भी गिने गये हैं। उनके बिना नष्ट और उद्दिष्ट सिद्ध नहीं हो सकते। (उद्दिष्ट और नष्ट को श्लोक ६६ ग-७० में समझाया जायगा।)

स्युः षाडवानां विंशत्या सह सप्त शतानि तु।
औडुवानां तु विंशत्या सहितं शतमिष्यते॥ ३७॥

चतुःस्वराणां कूटानां चतुर्विंशतिरीरिताः।
त्रिस्वराः षड् द्विस्वरौ द्वावेकस्त्वेकस्वरो मतः॥ ३८॥

३७-३८. (अ०) षाडवानां तु षाडवों (६ स्वरों) की तो **विंशत्या सह सप्त शतानि** बीस सहित सात सौ (७२०) (कूटतानें) **स्युः** होती हैं। **औडुवानां तु** औडव (५ स्वरों) की तो **विंशत्या सहितं शतं** बीस सहित सौ (१२०) **इष्यते** कही जाती है। **चतुःस्वराणां** चार स्वरों की **कूटानां** कूट (तानों) को **चतुर्विंशतिः ईरिताः** चौबीस कहा गया है। **त्रिस्वराः षट्** तीन स्वर वाली ६, **द्विस्वरौ द्वौ** दो स्वर वाली दो (और) **एकस्वरः तु** एक स्वर वाली तो **एकः मतः** एक मानी गई है।

एकस्वरादि-चतुःस्वरान्ततानानां नामानि

आर्चिको गाथिकश्चाथ सामिकोऽथ स्वरान्तरः।
एकस्वरादितानानां चतुर्णामभिधा इमाः॥ ३९॥

एक स्वर से चतुःस्वर तक की तानों के नाम

३९. (अ०) आर्चिकः गाथिकः च आर्चिक (और) गाथिक **अथ सामिकः** तथा सामिक **अथ स्वरान्तरः** तब स्वरान्तर—**एकस्वरादि चतुर्णां तानानां** एक स्वर से आरंभ करके (४ स्वरों तक) चार तानों के **इमाः अभिधाः** ये नाम (हैं)।

(सर०) एक स्वर वाली कूटतान 'आर्चिक' कहलाती है, दो स्वर वाली 'गाथिक', तीन स्वर वाली 'सामिक' और चार स्वर वाली 'स्वरान्तर' कहलाती है। आर्चिक का अर्थ है ऋचा संबंधी, गाथिक का गाथा संबंधी और सामिक का साम संबंधी। तान के संदर्भ में इन सभी शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक रूप में हुआ है। कल्लि० के अनुसार ऋचा (ऋग्वेद के मंत्र) का प्रयोग एक स्वर के आश्रित होने से यहाँ आर्चिक कहा गया है और गाथा में द्विस्वर प्रयोग होने से गाथिक। सामिक ३ स्वर वाला प्रयोग है। ३ की संख्या बहुत्व की सूचक होने से लक्षणा से ३ में सभी सातों स्वर सम्मिलित कर लिये गये हैं। ७ स्वरों में से स, रि, ग—ये तीन मुख्य माने गए हैं क्योंकि प, ध, नि में उन्हीं की आवृत्ति है और मध्यम इनके मध्य में रहता है। संभवतः इस रूप में भी ३ में ही ७ का अन्तर्भाव कर लिया गया है। अथवा मन्द्र, मध्य, तार—इन तीन स्थानों से ३ का संबंध है। सामगान में स्वर के इन सभी रूपों का प्रयोग होने से संभवतः साम के साथ ३ का संबंध जोड़ा गया है। ४ स्वर वाली तानें १ से ७

स्वर वाली तानों के 'अन्तर' में यानी मध्यवर्ती होने से 'स्वरान्तर' कही जाती हैं। ५ स्वर की औडव और ६ की षाडव संज्ञा पहले कही जा चुकी है तथा ७ स्वर वाली तानें सम्पूर्ण कही जा चुकी हैं।

अपूर्णकूटतानानां क्रमसहिता सङ्ख्या

तत्र षाडवकूटतानसङ्ख्या

उक्ताः शुद्धादिभेदेन निगयुक्ताश्चतुर्विधाः।
तयोरेकैकहीनास्तु द्वेधा मूलक्रमा मताः॥ ४०॥

अपूर्ण कूटतानों की क्रमसहित संख्या

षाडव कूटतानों की संख्या

४०. (अ०) निगयुक्ताः नि (और) ग से युक्त शुद्ध-आदिभेदेन शुद्ध आदि भेद से चतुर्विधाः उक्ताः (षाडव) चार प्रकार के कहे गये हैं। तयोः उन (नि-ग) में से एक-एकहीनाः तु एक-एक से रहित तो द्वेधा दो प्रकार के मूलक्रमाः मताः मूलक्रम माने गए हैं।

(सर०) यहाँ से षाडव से शुरू करके आर्चिक तक की कूटतानों में से प्रत्येक के मूल क्रमों की और उन्हें घटा कर कुल तानों की संख्या बताई जा रही है।

दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं में अन्तिम-अन्तिम स्वर को वर्जित करके षाडव क्रम बनाते समय नि और ग से समाप्त होने वाली ४ मूर्च्छनाओं को छोड़कर शेष १० मूर्च्छनाओं में से ४-४ प्रकार के षाडव क्रम बनते हैं—शुद्ध ग-नि युक्त, अन्तर-ग युक्त, काकली-नि युक्त और अन्तर-काकली युक्त। लेकिन ग और नि से समाप्त होने वाली मूर्च्छनाओं में ग और नि में से कोई एक ही स्वर रहने के कारण उसी के शुद्ध या विकृत रूप का प्रयोग होने से केवल दो-दो ही क्रम उसमें बन सकते हैं। शेष दसों मूर्च्छनाओं में ग और नि दोनों होने के कारण उक्त चारों प्रकार के षाडव क्रम बनते हैं। षड्जग्राम की निषाद से शुरू होने वाली रजनी मूर्च्छना में चारों क्रम बना कर यहाँ दिखाए जा रहे हैं। इसी प्रकार अन्य मूर्च्छनाओं में भी बनाए जा सकते हैं।

अन्तिम स्वर ध को वर्जित करके रजनी मूर्च्छना में बनने वाले चार षाडव भेद—

(१) नि स रि ग म प ×

(२) नि स रि (अंतर)ग म प ×

(३) (काकली)नि स रि ग म प ×

(४) (काकली)नि स रि (अंतर)ग म प ×

इस प्रकार १० × ४ = ४० षाडव क्रम बनेंगे जो निषाद और गान्धार दोनों से युक्त होंगे।

षड्जाद्यौ मध्यमाद्यौ च चत्वारः स्युर्द्विधा द्विधा।
चतुर्धाऽन्ये दशेत्यष्टाचत्वारिंशदमी क्रमाः॥ ४१॥

४१. (अ०) षड्ज-आद्यौ मध्यम-आद्यौ च षड्ज और मध्यम से आरम्भ होने वाले चत्वारः चार (क्रम) द्विधा द्विधा स्युः दो-दो प्रकार के (निषादरहित और गान्धाररहित) होते हैं। अन्ये दश अन्य दस (क्रम) चतुर्धा इति यों चार प्रकार के (होते हैं)। अमी क्रमाः ये (षाडव) क्रम अष्टाचत्वारिंशत् (कुल) ४८ (होते हैं)।

(सर०) चार मूर्च्छनाएँ षड्ज और मध्यम से आरंभ होकर क्रम से नि और ग से समाप्त होती हैं। अन्तिम स्वर यानी नि या ग वर्जित होने से इनमें दो-दो प्रकार के क्रम ही होते हैं। जैसे, षड्ज से शुरू होने वाली उत्तरमन्द्रा के दो क्रम—

(१) स रि ग म प ध ×

(२) स रि (अं०) ग म प धं ×

मध्यम से शुरू होने वाली मत्सरीकृता के दो क्रम—

(१) म प ध नि स रिं ×

(२) म प ध (का०) नि स रि ×

इस प्रकार नि अथवा ग से रहित ४ × २ = ८ और नि-ग युक्त ४०, कुल ४८ षाडव क्रम बनते हैं।

सविंशतिः सप्तशती प्रागुक्ता गुणिता क्रमैः।
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि षष्ट्या पञ्च शतानि च॥ ४२॥
इति षाडव सङ्ख्या स्याद्,

४२-४३ क. (अ०) प्राक्-उक्ता पहले कही गई सविंशतिः सप्तशती बीस सहित सात सौ (७२०) (कूटतानों को) क्रमैः गुणिताः (इन) क्रमों से गुणा करने पर चतुस्त्रिंशत्-सहस्राणि पञ्च शतानि षष्ट्या च चौंतीस हजार और साठ के साथ पाँच सौ (३४५६०) इति षाडवसङ्ख्या स्यात् यह षाडव (षाडव कूटतानों की कुल) संख्या होती है।

(सर०) ६ स्वरों की ७२० षाडव कूटतानें पहले कही जा चुकी हैं। उन्हें इन ४८ क्रमों से गुणा करने पर षाडव कूटतानों की कुल संख्या ७२० × ४८ = ३४५६० होती है।

औडुवकूटतानसङ्ख्या

अथ पञ्चस्वरान्ब्रुवे।
गाद्यौ धाद्यौ निषादाद्यौ चतुर्भेदाः षडौडुवाः॥ ४३॥
अष्टावन्ये द्विधेत्येवं चत्वारिंशदिमे क्रमाः।
सविंशतौ शते तैश्च गुणितेऽष्टौ शतानि तु॥ ४४॥
चत्वारि च सहस्राणि सङ्ख्या पञ्चस्वरेष्विति।

औडव कूटतानों की संख्या

४३ ख-४५ ख. (अ०) अथ अब पञ्चस्वरान् ब्रुवे पाँच स्वरों (वाले क्रमों) को कहता हूँ। ग-आद्यौ ध-आद्यौ निषाद-आद्यौ ग, ध और नि से आरंभ होने वाले (दोनों ग्रामों के) षट् औडुवाः ६ औडव (क्रम) चतुर्भेदाः चार भेद वाले (चार-चार प्रकार के-कुल २४ और) अन्ये अष्टौ अन्य आठ द्विधा दो-दो प्रकार के (कुल १६)—इति एवं यों इस प्रकार इमे ये चत्वारिंशत् क्रमाः ४० क्रम (होते हैं)। सविंशतौ शते बीस सहित सौ (१२०) (औडव कूटतान संख्या) में तैः च गुणिते तु उन (४० क्रमों) से गुणा करने पर तो पञ्चस्वरेषु पाँच स्वरों में चत्वारि सहस्राणि अष्टौ शतानि च इति सङ्ख्या चार हजार और आठ सौ (४८००) यह संख्या (होती है)।

(सर०) अब औडव क्रम बताए जा रहे हैं।

दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं में अन्तिम २-२ स्वरों को वर्जित करके औडव क्रम बनाते समय ग, ध और नि से शुरू होने वाली दोनों ग्रामों की ६ मूर्च्छनाएँ ऐसी हैं जिनमें ग और नि में से कोई वर्जित नहीं होता क्योंकि ग-नि अन्तिम स्वरों में नहीं होते। जैसे—

निषाद की मूर्च्छनाएँ—नि स रि ग म (प, ध वर्जित)

धैवत की मूर्च्छनाएँ—ध नि स रि ग (म, प वर्जित)

गांधार की मूर्च्छनाएँ—ग म प ध नि (स, रि वर्जित)

इन ६हों में क्रम से प-ध, म-प और स-रि औडुवकारी स्वर हैं और ग-नि इन मूर्च्छनाओं में रहते हैं।

षाडव क्रम बनाते समय जिस तरह ग-नि युक्त ४-४ भेद बनाए गए उसी तरह यहाँ भी बनाए जायँ तो इन ६हों मूर्च्छनाओं में से हरेक के ४-४ भेद बनते हैं। कुल २४ भेद होंगे। शेष ८ मूर्च्छनाओं में ग-नि में से कोई एक स्वर वर्जित होता है। जैसे—

स रि ग म प (ध, नि वर्जित)

रि ग म प ध (नि, स वर्जित)

म प ध नि स (रि, ग वर्जित)

प ध नि स रि (ग, म वर्जित)

इसलिये हरेक के २-२ ही क्रम बन सकते हैं। कुल १६ औडव क्रम बनते हैं। इस प्रकार कुल औडव क्रम ४० बने। पूर्वोक्त १२० औडव कूट तानों को इन क्रमों से गुणा करने पर कुल संख्या १२० × ४० = ४८०० होती है।

चतुःस्वरकूटतानसङ्ख्या

चतुःस्वरेषु न्याद्यौ द्वौ चतुर्धा द्वादशापरे॥ ४५॥
क्रमा द्विधेति द्वात्रिंशच्चतुर्विंशतिताडिताः।
शतानि सप्ताष्टषष्ट्या स्याच्चतुःस्वरसंमितिः॥ ४६॥

चार स्वरों की कूटतानों की संख्या

४५ ग-४६. (अ०) चतुःस्वरेषु चार स्वरों (के क्रमों) में नि-आद्यौ नि से आरंभ होने वाले (दोनों ग्रामों के) द्वौ दो (क्रम) चतुर्धा चार प्रकार के (कुल ८), अपरे द्वादश क्रमाः अन्य १२ क्रम द्विधा दो-दो प्रकार के (कुल २४) इति यों द्वात्रिंशत् चतुर्विंशतिताडिताः बत्तीस (और) चौबीस को ताडित (गुणित) करके चतुःस्वरसंमितिः चार स्वरों की (कूटतानों की) संख्या सप्तशतानि षष्ट्या अष्ट स्यात् साठ के साथ सात सौ (और) आठ (७६८) होती है।

(सर०) यहाँ चतुःस्वर क्रम कहे जा रहे हैं।

निषाद से शुरू होने वाली दोनों ग्रामों की दो मूर्च्छनाएँ ही ऐसी हैं जिनमें अन्तिम तीन स्वरों को वर्जित करके बनने वाले चतुःस्वर प्रकार में नि और ग दोनों ही रहते हैं, शेष सभी मूर्च्छनाओं में इनमें से कोई एक स्वर अवश्य वर्जित होता है।

जैसे—

नि-ग युक्त

नि स रि ग	(म प ध वर्जित)

नि अथवा ग रहित—

स रि ग म	(प ध नि वर्जित)
रि ग म प	(ध नि स वर्जित)
ग म प ध	(नि स रि वर्जित)
म प ध नि	(स रि ग वर्जित)
प ध नि स	(रि ग म वर्जित)
ध नि स रि	(ग म प वर्जित)

इसलिये नि की दोनों मूर्च्छनाओं में पूर्वोक्त रीति से ४-४ प्रकार बनते हैं। शेष १२ मूर्च्छनाओं में २-२ भेद ही बनते हैं। इस प्रकार २ × ४ = ८ और १२ × २ = २४, कुल ३२ चतुःस्वर क्रम बन सकते हैं। चतुःस्वर कूटतानों की पूर्वोक्त २४ संख्या को इन क्रमों से गुणा करने पर २४ × ३२ = ७६८ चतुःस्वर कूटतानें बनेंगी।

त्रिस्वरकूटतानसङ्ख्या

त्रिस्वरेषु तु माद्यौ द्वावभेदौ द्वादशापरे।
द्विधा षड्विंशतिरिति क्रमास्ते षड्भिराहताः॥ ४७॥

षट्पञ्चाशच्छतं च स्युः,

तीन स्वरों की कूटतानों की संख्या

४७-४८ क. (अ०) त्रिस्वरेषु तु त्रिस्वर (क्रमों) में तो म-आद्यौ म से आरंभ होने वाले द्वौ अभेदौ दो (क्रम) भेदरहित (होते हैं), अपरे द्वादश अन्य बारह द्विधा दो-दो प्रकार के इति षड्विंशतिः क्रमाः इस प्रकार २६ क्रम (हैं)। ते वे (२६ क्रम) षड्भिः आहताः (त्रिस्वरों की पूर्वोक्त कूटतान संख्या) ६ से गुणा किये जाने पर शतं षट्पञ्चाशत् च स्युः सौ और छप्पन (१५६) होते हैं।

(सर०) अब त्रिस्वर क्रम बताए जा रहे हैं।

म से शुरू होने वाले दोनों ग्रामों के त्रिस्वर क्रमों में म प ध—ये तीन ही स्वर रहते हैं। इनमें ग और नि दोनों ही न होने से कोई भेद नहीं बनते, शेष १२ में ग अथवा नि जरूर रहता है। जैसे—स रि ग, रि ग म, ग म प, प ध नि, ध नि स, नि स रि। इसलिये ग-नि के दोनों रूपों के प्रयोग से हरेक के २-२, कुल २४ भेद होते हैं। इस प्रकार कुल २+२४=२६ त्रिस्वर क्रम बनते हैं। त्रिस्वर कूटतानों की संख्या ६ से इन्हें गुणा करने पर कुल २६ × ६ = १५६ त्रिस्वर कूटतानें बनती हैं।

द्विस्वरकूटतानसङ्ख्या

द्विस्वरेषु पुनर्द्विधा।
रिगधन्यादयोऽष्टौ स्युः शुद्धास्तदितरे क्रमाः॥ ४८॥
द्वाविंशतिस्ते तु चतुश्चत्वारिंशद् द्वितांडिताः।

द्विस्वर कूटतानों की संख्या

४८ ख-४९ ख. (अ०) पुनः द्विस्वरेषु फिर द्विस्वर (क्रमों) में रि-ग-ध-नि-आदयः रि, ग, ध और नि से आरंभ होने वाले अष्टौ ८ (क्रम) द्विधा स्युः दो-दो प्रकार के (कुल १६) होते हैं। तत्-इतरे उनसे अन्य (६) शुद्धाः क्रमाः शुद्ध क्रम हैं। ते द्वाविंशतिः तु वे २२ तो द्वितांडिताः दो से गुणा करने पर चतुःचत्वारिंशत् ४४ (होते हैं)।

(सर०) अब द्विस्वर क्रम कहे जा रहे हैं।

रि-ग-ध-नि से शुरू करने पर दो-दो स्वरों के रिग, गम, धनि, निस क्रम बनते हैं जिनमें ग या नि अवश्य है। इनके दोनों रूपों का प्रयोग करने पर दोनों ग्रामों के रि-ग-ध-नि से शुरू होने वाले ८ क्रमों के १६ भेद हो जायँगे। शेष ६ क्रमों यानी सरि, मप, पध में ग-नि नहीं होते इसलिये इनके कोई भेद नहीं बनते। इस प्रकार १६ + ६ = २२ द्विस्वर क्रमों से द्विस्वर २ कूटतानों को गुणा करने से कुल द्विस्वर कूटतानें ४४ होती हैं।

एकस्वरकूटतानसंङ्ख्या

एकस्वरास्त्वभेदत्वान्मौला एव चतुर्दश॥ ४९॥

एक स्वर की कूटतान संख्या

४९ ग-घ. (अ०) एकस्वराः तु एक स्वर वाले तो अभेदत्वात् भेद रहित होने से मौलाः एव मूल ही चतुर्दश चौदह (हैं)।

(सर०) कल्लि० के आधार पर आशय यह है कि दोनों ग्रामों के ७-७ स्वरों के कुल १४ ही एक स्वर वालें क्रम होते हैं। यद्यपि अन्तर-काकली के प्रयोग से मूर्च्छना भेद बनते हैं लेकिन वहाँ ग्राम के ग-नि के साथ अन्य स्वर रहने के कारण उनका अन्तरत्व और काकलीत्व स्फुट होता है। यहाँ अकेले स्वर के क्रम में अन्य स्वर के बिना वे स्फुट नहीं हो सकते, इसलिये एक-एक स्वर के क्रमों में केवल शुद्ध स्वरों से ही क्रम बनाए गए हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण से एक स्वर तक की कूटतानों की संख्याओं को जोड़ने से निम्न संख्या प्राप्त होती है—

७ स्वरों की (श्लो० ३४-३५ के अनुसार)	२८२२४०
६ स्वरों की (श्लो० ४२ के अनुसार)	३४५६०
५ स्वरों की (श्लो० ४५-४५ के अनुसार)	४८००
४ स्वरों की (श्लो० ४६ के अनुसार)	७६८
३ स्वरों की (श्लो० ४७-४८ के अनुसार)	१५६
२ स्वरों की (श्लो० ४९ के अनुसार)	४४
१ स्वरों की (श्लो० ४९ के अनुसार)	१४
कुल	३२२५८२

पुनरुक्तकूटतानाः

षड्जादेः शुद्धमध्याया भेदकं पञ्चमं विना।
चतुःस्वरे क्रमद्वन्द्वेऽष्टाचत्वारिंशदीरिताः ॥ ५० ॥
तानास्त्रिस्वरयोस्त्वेते द्वादशद्विस्वरे द्वयम्।
एक एकस्वरस्ते त्रिषष्टिरौत्तरमन्द्रकैः ॥ ५१ ॥
पुनरुक्ता मतास्तानैः,

पुनरुक्त कूटतान

५०-५२ क. (अ०) भेदकं पञ्चम विना भेदक पंचम के बिना षड्जादेः शुद्धमध्यायाः (मध्यमग्राम की) षड्जादि शुद्धमध्या (मूर्च्छना) के चतुःस्वरे क्रमद्वन्द्वे चतुःस्वर (वाले) दो क्रमों में (गांधार के दो भेदों से) अष्टाचत्वारिंशत् ४८ (पुनरुक्त क्रम) ईरिताः कहे गए हैं। त्रिस्वरयोः तु तीन स्वर की (गांधार के दो भेदों से) तो एते द्वादश तानाः ये (पुनरुक्त) १२ तानें (हैं), द्विस्वरे द्वयं दो स्वर (वाले क्रमों) में दो, एकस्वरः एकः एक स्वर का एक—ते वे (शुद्धमध्या के) त्रिषष्टिः (४८ + १२ +२ + १ =) ६३ (क्रम) औत्तरमन्द्रकैः तानैः उत्तरमन्द्रा की तानों से (की तुलना में) पुनरुक्ताः मताः पुनरुक्त माने गए हैं।

(सर०) श्लो० ३२ से ४९ तक ग्रंथकार ने कूटतानों की निर्माण विधि और उनकी संख्या का निरूपण किया। इस संख्या में व्युत्क्रम से बनने वाली तानों के अलावा वे तानें भी शामिल हैं जिनमें व्युत्क्रम नहीं होता सीधा क्रम होता है और वे भी जिनकी दोनों ग्रामों की विशेष मूर्च्छनाओं में पुनरावृत्ति होती है।

यहाँ से ग्रंथकार ने उन कूटतानों की संख्या का निरूपण आरंभ किया है जो पुनरुक्त हैं यानी जो किसी ग्राम की किसी विशेष स्वर से शुरू होने वाली विशेष मूर्च्छना में भी हैं और दूसरे ग्राम की उसी स्वर से शुरू होने वाली मूर्च्छना में भी फिर से आ जाती हैं। इस संदर्भ में मूर्च्छना स्थापना की दो विधियों की याद दिलाते हुए कल्लि० ने यह स्पष्ट किया है कि इनमें से दूसरी विधि में एक दृष्टि से तानों की पुनरुक्ति नहीं होती लेकिन पहली विधि में पुनरुक्त होती हैं। दूसरी विधि में मध्यस्थानस्थ षड्ज पर ही षड्जग्राम की निषादादि और मध्यस्थानस्थ मध्यमग्रामिक मध्यम पर ही गांधारादि मूर्च्छनाएँ स्थापित करने की क्रिया में षड्जग्राम और मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं में मन्द्र-तार आदि स्थानभेद हो जाने से ग्रामभेदक पंचम न होने पर भी ग्राम का अन्तर बना रहता है इसलिये वहाँ पुनरुक्ति नहीं होती यह कहा जा सकता है।

प्रथम विधि में मध्यस्थानस्थ षड्जग्रामिक षड्ज पर पहली मूर्च्छना स्थापित करके फिर उससे नीचे-नीचे के क्रमशः निषाद आदि स्वरों से अन्य मूर्च्छनाएँ स्थापित की जाती हैं और मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ मध्यस्थान के मध्यम से शुरू करके क्रमशः उससे नीचे-नीचे के स्वरों से स्थापित की जाती हैं। इस विधि में षड्जग्राम की उत्तरमन्द्रा, रजनी और उत्तरायता के साथ मध्यमग्राम की क्रमशः शुद्धमध्या, मार्गी और पौरवी के स्वर एकरूप हो जाते हैं क्योंकि जिन तारों पर पहली तीन स्थापित होती हैं उन्हीं पर क्रम से दूसरी तीन। कूटतानों में जब मध्यमग्राम के पंचम का अभाव हो तो दोनों ग्रामों की पंचमरहित तानों में कोई भेद नहीं रहता। इसलिये एक ग्राम की मूर्च्छना की कूटतानें दूसरे ग्राम में पुनरुक्त होती हैं।

नीचे दी गई मध्यमग्राम की शुद्धमध्या, मार्गी और पौरवी मूर्च्छनाओं की स्वरावलियों से यह स्पष्ट होगा कि इनमें अन्तिम ३, ४, ५ और ६ स्वर वर्जित करके क्रमशः चतुःस्वर, त्रिस्वर, द्विस्वर और एकस्वर वाले क्रम बनाते समय पंचम वर्जित हो जाता है।

शुद्धमध्या	स रि ग म प ध नि
मार्गी	नि स रि ग म प ध
पौरवी	ध नि स रि ग म प

ऐसा होने पर दोनों ग्रामों के भेदक त्रिश्रुति पंचम के अभाव में इन मूर्च्छनाओं के जो १, २, ३ और ४ स्वरों के क्रम बनते हैं उनमें और षड्जग्राम की स, नि और ध से शुरू होने वाली उत्तरमन्द्रा, रजनी और उत्तरायता के उन्हीं क्रमों में कोई अन्तर नहीं रहता। इस प्रकार षड्जग्राम की दृष्टि से मध्यम-ग्राम के ये क्रम पुनरुक्त कहे गए हैं। प्रस्तुत श्लोकों में शुद्धमध्या के पुनरुक्त क्रम गिनाए गए हैं।

शुद्धमध्या का चतुःस्वर क्रम सरिगम है। इसमें ग के दोनों रूपों का प्रयोग करने से दो क्रम होते हैं। ४ स्वरों की २४ कूटतानों को इन दो क्रमों से गुणा करने पर ४८ चतुःस्वर कूटतानें पुनरुक्त होती हैं। इसी प्रकार त्रिस्वर वाले २ क्रमों से ३ स्वर की ६ कूटतानों को गुणा करने पर १२, द्विस्वर २ क्रमों की २ और एक स्वर की १, कुल ६३ कूटतानें शुद्धमध्या में पुनरुक्त होती हैं।

न्यादिमार्गीक्रमाः पुनः।
पञ्चस्वरा ये चत्वारस्तत्तानानां चतुःशती॥ ५२॥
अशीत्यभ्यधिका चातुःस्वरी षणवतिर्भवेत्।
द्वादश त्रिस्वरद्वन्द्वे चत्वारो द्विस्वरद्वये॥ ५३॥

एक एकस्वरस्तानस्तेषां पञ्चशती त्वियम्।
त्रिनवत्या युता तानैरभिन्ना रजनीगतैः॥ ५४॥

५२ ख-५४. (अ०) पुनः नि-आदि-मार्गी फिर निषादादि मार्गी के ये चत्वारः जो चार पञ्चस्वराः क्रमाः पंचस्वर क्रम (हैं) तत् तानानां उसकी तानों के चतुःशती अशीति-अभ्यधिकाः अस्सी अधिक चार सौ (४८० भेद), चातुःस्वरी चतुःस्वर क्रम षणवतिः भवेत् ९६ (भेद) होता है, त्रिस्वरद्वन्द्वे त्रिस्वर की जोड़ी (दो क्रमों) में द्वादश १२ (भेद), द्विस्वरद्वये द्विस्वर वाले दो (क्रमों) में चत्वारः ४ (भेद) (और) एकस्वरः एकः तानः एक स्वर वाली १ तान तेषां तु उनकी तो इयं ये त्रिनवत्या युता पञ्चशती तिरानवे से युक्त पाँच सौ (४८० + ९६ + १२ + ४ + १ = ५९३) (तानें) रजनीगतैः तानैः अभिन्नाः रजनीगत तानों से अभिन्न हैं।

(सर०) मध्यमग्राम की मार्गी मूर्च्छना निषाद से शुरू होती है। उसमें अन्तिम २, ३, ४, ५ और ६ स्वरों के वर्जन से बनने वाली औडव, चतुःस्वर, त्रिस्वर, द्विस्वर और एकस्वर कूटतानों में भेदक पंचम न रहने के कारण षड्जग्राम की रजनी मूर्च्छना की वे कूटतानें इसमें पुनरुक्त होती हैं। शुद्ध ग-नि, अंतर, काकली और एक साथ अन्तर-काकली का प्रयोग करके औडव (नि स रि ग म) के ४ प्रकार के क्रमों से ५ स्वरों की १२० कूटतानों को गुणा करने पर पुनरुक्त औडव तानें ४८० होती हैं।

इसी तरह चतुःस्वर क्रम (नि स रि ग) में भी ग-नि के चतुर्विध प्रयोग से बनने वाले ४ क्रमों से चतुःस्वर वाली २४ कूटतानों को गुणा करने पर ९६ कूटतानें पुनरुक्त होती हैं। त्रिस्वर क्रम (नि स रि) में द्विविध नि के प्रयोग से २ क्रम बनते हैं। इनसे त्रिस्वर ६ कूटतानों को गुणा करने पर १२ पुनरुक्त कूटतानें होती हैं। द्विस्वर क्रम (नि स) में भी द्विविध नि के २ क्रमों से द्विस्वर २ कूटतानों को गुणा करने पर ४ पुनरुक्त कूटतानें बनती हैं। एक स्वर (नि) अकेला होने के कारण पूर्वोक्त (श्लो० ४९ ग-घ की व्याख्या में बताए गए) कारण से काकली निषाद का प्रयोग नहीं होता इसलिये १ ही पुनरुक्त होता है।

इस प्रकार ४८० + ९६ + १२ + ४ + १ = ५९३ मार्गी की कूटतानें षड्जग्रामिक रजनी की कूटतानों से अभिन्न होने के कारण पुनरुक्त होती हैं।

धैवतादेस्तु पौरव्याश्चत्वारः षट्स्वराः क्रमात्।
तत्तानानां तु साशीतिः शताष्टाविंशतिर्मता॥ ५५॥

औडुवानां चतुर्णां प्रागुक्ता सङ्ख्या चतुःस्वरौ।
त्रिस्वरौ द्विस्वरावेकस्वरः प्रागुक्तसङ्ख्यकाः॥ ५६॥

पञ्चविंशतिसंयुक्ता चतुस्त्रिंशच्छती त्वियम्।
तानानां सदृशाकारा स्यात्तानैरौत्तरायतैः॥ ५७॥

५५-५७. (अ०) धैवतादेः पौरव्याः तु (मध्यमग्राम की) धैवतादि पौरवी के तो षट्स्वराः षाडव चत्वारः क्रमात् चार क्रम से तत् तानानां तु उसकी तानों के तो स-अशीतिः शत-अष्टाविंशतिः अस्सी सहित अट्ठाईस सौ (२८८०) (पुनरुक्त भेद) मताः माने गए हैं। चतुर्णां चार (प्रकार के) औडुवानां सङ्ख्या औडवों की संख्या प्राक् उक्ता पहले (मार्गी के पुनरुक्त क्रमों में = ४८०) कही गई है। चतुःस्वरौ दो चतुःस्वर (क्रम शुद्धमध्या में = ४८), त्रिस्वरौ दो त्रिस्वर (क्रम मार्गी में = १२), द्विस्वरौ दो द्विस्वर (क्रम मार्गी में = ४) एकस्वरः (और) एक एकस्वर प्राक् उक्तसङ्ख्यकाः पूर्वोक्त संख्या (हैं)। इयं इन पञ्चविंशतिसंयुक्ताः चतुस्त्रिंशच्छती तानानां तु पच्चीस से युक्त चौंतीस सौ (२८८० + ४८० + ४८ + १२ + ४ + १ = ३४२५) तानों का तो औत्तरायतैः तानैः उत्तरायता की तानों से सदृशाकाराः स्यात् समान रूप होता है।

(सर०) पौरवी मूर्च्छना का अन्तिम स्वर पंचम है जो संपूर्ण के अलावा किसी क्रम में नहीं रहता इसलिये षड्जग्राम की धैवतादि उत्तरायता मूर्च्छना के षाडव-औडवादि क्रमों के साथ पौरवी के उन क्रमों की एकरूपता होती है। पौरवी का षाडव क्रम ध नि स रि ग म है जिसमें नि-ग का चतुर्विध प्रयोग होने पर षाडव की ७२० कूटतानों से गुणा होकर २८८० पुनरुक्त क्रम बनते हैं। औडव क्रम ध नि स रि ग में भी चतुर्विध ग-नि से १२० × ४ = ४८० पुनरुक्त प्रकार बनते हैं इसलिये २४ × २ = ४८ पुनरुक्त प्रकार होते हैं। इसी तरह त्रिस्वर (धनिस) और द्विस्वर (धनि) में द्विविध क्रमों से क्रमशः ६ × २ = १२ और २ × २ = ४ तथा एकस्वर का १ पुनरुक्त क्रम होते हैं। कुल मिला कर ३४२५ क्रम ऐसे हैं जो षड्जग्राम की उत्तरायता से भिन्न न होने के कारण पुनरुक्त होते हैं।

इस तरह कुल पुनरुक्त क्रम ६३ + ५९३ + ३४२५ = ४०८१ होते हैं।

पुनरुक्तकूटतानान्विहायसङ्ख्या

इत्येकाशीतिसंयुक्तं सहस्राणां चतुष्टयम्।
तानानां पुनरुक्तानां पूर्णापूर्णैः सह क्रमैः॥ ५८॥

अपनीयेत चेदेषा कूटतानमितिर्भवेत्।
लक्षत्रयं सप्तदश सहस्राणि शतानि च॥ ५९॥

नवत्रिंशद्युतानीति,

पुनरुक्त कूटतानों को छोड़कर संख्या

५८-६० क. (अ०) इति इस प्रकार एकाशीतिसंयुक्तं सहस्राणां चतुष्टयं इक्कासी युक्त चार हज़ार (४०८१) पुनरुक्तानां तानानां पुनरुक्त तानों को पूर्ण-अपूर्णैः क्रमैः सह पूर्ण और अपूर्ण (५७१) (मूल) क्रमों के साथ (मिलाकर) अपनीयेत चेत् घटाने पर लक्षत्रयं सप्तदश सहस्राणि नवशतानि त्रिंशत्-युतानि च इति तीन लाख सत्रह हज़ार तीस सहित नौ सौ (३१७९३०) इस प्रकार एषा यह कूटतानमितिः भवेत् कूटतानों की मिति (संख्या) होती है।

(सर०) ४०८१ पुनरुक्त तानों के अलावा पूर्वोक्त मूलक्रमों की संख्या ५७१ भी यहाँ घटाई गई है जो इस प्रकार है—

संपूर्ण	३९२
षाडव	४८
औडव	४०
चतुःस्वर	३२
त्रिस्वर	२६
द्विस्वर	२२
एकस्वर	११
	५७१

एकस्वर १४ होते हुए भी उपर्युक्त षड्ज, निषाद और धैवत की मूर्च्छनाओं में से स-नि-ध—ये ३ स्वर पुनरुक्त कहकर पहले ही निकाल दिये जाने के कारण यहाँ एकस्वर क्रमों की संख्या ११ ही ली गई है। इस प्रकार ४०८१ पुनरुक्त क्रम और ५७१ पूर्ण-अपूर्ण मूलक्रम, कुल ४६५२ को कूटतानों की कुल संख्या ३२२५८२ में से कम करने पर ३१७९३० पूर्ण-अपूर्ण कूटतानें सम्पन्न होती हैं।

कूटतानसङ्ख्यापरिज्ञानोपायः

ज्ञानोपायोऽत्र कथ्यते।
अङ्कानेकादिसप्तान्तानूर्ध्वमूर्ध्वं लिखेत्क्रमात्॥ ६०॥

हते पूर्वेण पूर्वेण तेषु चाङ्के परे परे।
एकस्वरादिसङ्ख्या स्यात्क्रमेण प्रतिमूर्च्छनम्॥ ६१॥

कूटतानों की संख्या के ज्ञान का उपाय

६० ख-६१. (अ०) अत्र अब ज्ञान-उपायः (इन कूटतानों के) ज्ञान का उपाय कथ्यते कहा जाता है। एक-आदि-सप्त-अन्तान् अङ्कान् एक से आरंभ करके सात तक समाप्त करके अंकों को क्रमात् क्रम से ऊर्ध्वम्-ऊर्ध्वं ऊपर-ऊपर लिखेत् लिखना चाहिये। तेषु च और उनमें पूर्वेण पूर्वेण पूर्व-पूर्व (अंकों) से परे परे अङ्के हते पर-पर (बाद-बाद वाले) अंकों को गुणा करने पर क्रमेण क्रम से प्रतिमूर्च्छनं प्रत्येक मूर्च्छना (में बनने वाली कूटतानों) की एकस्वरादिसङ्ख्या स्यात् एक आदि स्वर की संख्या होती है।

(सर०) कूटतानों की संख्या विशाल है इसलिये कितने स्वरों की कितनी कूटतानें होंगी, किसी कूटतान की निश्चित संख्या

क्या (कौन-सी) होगी और किसी संख्या की कूटतान का स्वरूप क्या होगा यह जानना कठिन है। ग्रंथकार यहाँ से इन तीनों को जानने के लिये गणित पर आधारित सरल उपाय बता रहे हैं।

एक से शुरू करके ७ स्वरों तक हरेक क्रम में जितनी-जितनी कूटतानें बन सकती हैं उनकी कुल संख्या प्राप्त करने की विधि यहाँ बताई जा रही है। इसके लिये नीचे से ऊपर की ओर एक के ऊपर दूसरा—इस क्रम से अंक इस तरह लिखने चाहियें जिससे सबसे नीचे १ और सबसे ऊपर ७ अंक रहे। इसके बाद इनमें से हरेक अंक को पिछली-पिछली कूटतानों की संख्या से गुणा किया जायगा। १ से पहले कूटतान का सूचक कोई अंक न होने के कारण उसे गुणा नहीं किया जा सकता इसलिये उससे बनने वाली तान की संख्या १ ही रहेगी। अब अगले अंक २ को पिछली तान-संख्या यानी १ से गुणा करने पर २ स्वरों की तान संख्या २ होगी। इसी तरह अगले अंक ३ को पिछली तानसंख्या २ से गुणा करने पर ६, अगले अंक ४ को ६ से गुणा करने पर २४, फिर अगले अंक ५ को २४ से गुणा करने पर १२०, अगले अंक ६ को १२० से गुणा करने से ७२० और ७ को ७२० से गुणा करके ५०४०—इस प्रकार ७ स्वरों की कुल तानसंख्या निकल जाती है। इसकी सारिणी इस प्रकार बनेगी—

७ × ७२०	=	५०४०
६ × १२०	=	७२०
५ × २४	=	१२०
४ × ६	=	२४
३ × २	=	६
२ × १	=	२
१	=	१

प्रस्तारः

क्रमं न्यस्य स्वरः स्थाप्यः पूर्वः पूर्वः परादधः।
स चेदुपरि तत्पूर्वः पुरस्तूपरिवर्तिनः॥ ६२॥
मूलक्रमक्रमात्पृष्ठे शेषाः प्रस्तार ईदृशः।

प्रस्तार

६२-६३ ख. (अ०) क्रमं न्यस्य (मूल) क्रम स्थापित करके पूर्वः पूर्वः स्वरः पूर्व-पूर्व स्वर परात् अधः पर (बाद वाले) के नीचे स्थाप्यः स्थापित करना चाहिये। (हर नया प्रस्तार बनाते समय) सः वह (पूर्वरूप से स्थापित किया गया स्वर) उपरि ऊपर (मूलक्रम में पूर्व रूप में) चेत् हो तो (मूलक्रम में) तत् उससे पूर्वः पूर्व (स्वर को स्थापित करना चाहिये)। पुरः तु आगे (दाहिनी ओर) तो उपरिवर्तिनः (जिस क्रम में) ऊपर स्थित (हैं उसी क्रम से तथा) पृष्ठे पीछे की ओर (बाईं ओर) शेषाः शेष (स्वर) मूलक्रम-क्रमात् मूलक्रम के क्रम से (रखने चाहियें)। ईदृशः इस प्रकार प्रस्तारः प्रस्तार (होता है)।

(सर०) इन श्लोकों में कूटतान अर्थात् प्रस्तार बनाने की विधि बताई गई है जिसे निम्न ४ चरणों में समझा जा सकता है।

(१) किसी मूर्च्छना के किन्हीं नियतसंख्यक स्वरों का यानी पहले कहे गए पूर्ण-अपूर्ण ५६० क्रमों में से कोई भी मूलक्रम लिख लेना चाहिये। फिर कूटतान बनाने के लिये मूलक्रम की अपेक्षा से यथासंभव निकटवर्ती पूर्व-पूर्व (बाईं ओर के) स्वर को पर-पर (दाहिनी ओर के) स्वर के नीचे लिखना चाहिये।

(२) एक बार पूर्व स्वर को पर स्वर के नीचे रखने के बाद पूर्व रूप में स्थापित किए गए स्वर के 'पुरः' यानी दाहिनी ओर स्वरों को उसी क्रम में रख देना चाहिए जिस क्रम में वे 'उपरि' (ऊपर) यानी मूलक्रम में हैं।

(३) इसके बाद 'पृष्ठे' अर्थात् पूर्व स्वर के रूप में जो स्वर स्थापित किया गया उससे पहले यानी बाईं ओर 'शेषाः' अर्थात् जो स्वर बचे उन्हें 'मूलक्रमक्रमात्' यानी मूलक्रम में जिस क्रम में हों उसी रूप में रख देना चाहिये।

उदाहरण के लिये उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना का चतुःस्वर पहला क्रम स रि ग म ले लें। इसमें स पूर्व स्वर है जिसे अब पर स्वर रि के नीचे स्थापित कर दें। इसके बाद स के दाहिनी ओर मूलक्रम के स्वर ग म को ज्यों का त्यों रख दें। अन्त में बचे हुए स्वर रि को स के बाईं तरफ़ रख दें। इस प्रकार पहली कूटतान (अथवा दूसरा प्रस्तार) रि स ग म इस क्रम से बनी—

१. स रि ग म
ο स ο ο
ο स ग म
२. रि स ग म

(४) इस तान रि स ग म में यद्यपि रि की अपेक्षा स पूर्ववर्ती है लेकिन ('सः') वह पूर्व स्वर स ('उपरि चेत्' अर्थात्) इस तान से ऊपर की पंक्ति में यानी स रि ग म में पहले ही पूर्व स्वर है। इस स्थिति में ('तत्' अर्थात्) ऊपर वर्तमान मूलक्रम के स्वरों के आधार पर ('पूर्वः' अर्थात्) पूर्व स्वर समझ कर स्थापित करना चाहिये। ऊपर के क्रम में यानी स रि ग म में स पहले है ही इसलिये अब उसका पूर्वत्व संभव नहीं हैं। इस कारण अब नया प्रस्तार बनाते समय मूलक्रम यानी स रि ग म के ग के आधार पर पूर्वत्व देखना होगा।

मूलक्रम में ग की अपेक्षा रि पूर्ववर्ती है इसलिये अगले प्रस्तार में मूलक्रम के ग के नीचे रि स्थापित करके फिर उसके दाहिनी और बाईं तरफ़ मूलक्रम के अनुसार स्वर रखने पर तीसरा प्रस्तार स ग रि म इस प्रकार बनेगा—

स रि ग म
ο ο रि ο
ο ο रि म
३. स ग रि म

इस प्रस्तार में स का ग की अपेक्षा पूर्वत्व है इसलिये अगले प्रस्तार में ग के नीचे स रखने से पुनरावृत्ति नहीं होगी। तदनुसार ग के नीचे स और शेष स्वर ऊपर के क्रम से रख कर चौथा प्रस्तार ग स रि म यों बनेगा—

स ग रि म
ο स ο ο
ο स रि म
४. ग स रि म

अब तक मूलक्रम के रि की अपेक्षा स का और ग की अपेक्षा रि का पूर्वत्व रखकर प्रस्तार बने। लेकिन अभी मूलक्रम के स रि ग—इन तीन स्वरों में ग से स का पूर्वत्व संभव है इसलिये अब इस आधार पर प्रस्तार बनेंगे। इसके लिये मूलक्रम स रि ग म के ग के नीचे स रख कर उसके दाहिनी ओर म और बाईं ओर रि ग रख कर पाँचवाँ प्रस्तार बनेगा रि ग स म—

स रि ग म

० ० स ०

० ० स म

५. रि ग स म

इसके शुरू के रि ग में ग की अपेक्षा रि का पूर्वत्व रखने पर नया प्रस्तार बनेगा ग रि स म। मूलक्रम और ५ नई कूटतानें कुल ६ प्रस्तार हुए जिनमें शुरू के तीन स्वरों स रि ग में पूर्वत्व-परत्व रखने से सभी के अन्त में म स्थिर रहा।

इन प्रस्तारों में स और रि का क्रम से रि और ग से पूर्वत्व रखा गया। इन तीन स्वरों में पूर्वत्व-परत्व अब संभव नहीं है इसलिये अब मूलक्रम स रि ग म में म की अपेक्षा ग का पूर्वत्व रख कर अगले प्रस्तार बनाए जायँगे। इसके लिये छठे प्रस्तार ग रि स म के म के नीचे ग रख कर शेष स्वर मूलक्रम स रि ग म के अनुसार रहेंगे। इस प्रकार स रि म ग प्रस्तार बना। अब इसी को अगले प्रस्तारों के लिये आधारक्रम बनाया जायगा क्योंकि मूलक्रम स रि ग म का भंग होकर ग अन्त में आ गया है। शेष प्रस्तार उसी तरह बनेंगे जिस तरह पहले बनाए गए। प्रस्तार नीचे दिखाए जा रहे हैं—

स रि म ग

रि स म ग

स म रि ग

म स रि ग

रि म स ग

म रि स ग

इस प्रकार अन्तिम स्वर में परिवर्तन किए बिना ६-६ के वर्ग बनते जायँगे। अगले दो वर्ग मूलक्रम स रि ग म में म की अपेक्षा रि और फिर स के पूर्वत्व से बनेंगे तथा उनके पहले-पहले प्रस्तारों के रूप क्रम से स ग म रि और रि ग म स होंगे। इन्हें आधार मान कर शेष ५-५ प्रस्तार पूर्व विधि से बन जायँगे। मूलक्रम स रि ग म का अवरोह रूप अन्तिम प्रस्तार में है इसलिये इस चतुःस्वर क्रम में और प्रस्तार संभव नहीं हैं।

चार स्वरों के मूलक्रम स रि ग म के आधार पर इस विधि से बनने वाले २४ प्रस्तार नीचे दिए जा रहे हैं—

१. स रि ग म	७. स रि म ग	१३. स ग म रि	१९. रि ग म स
२. रि स ग म	८. रि स म ग	१४. ग स म रि	२०. ग रि म स
३. स ग रि म	९. स म रि ग	१५. स म ग रि	२१. रि म ग स
४. ग स रि म	१०. म स रि ग	१६. म स ग रि	२२. म रि ग स
५. रि ग स म	११. रि म स ग	१७. ग म स रि	२३. ग म रि स
६. ग रि स म	१२. म रि स ग	१८. म ग स रि	२४. म ग रि स

इन प्रस्तारों में पूर्वत्व रूप में सबसे पहले स्थापित स्वर को रेखांकित किया है।

ग्रन्थोक्त विधि और उससे बने उपर्युक्त प्रस्तारों के आधार पर इस विधि को समझने के लिये यहाँ कुछ सामान्य नियम दिए जा रहे हैं।

(१) पूर्वत्व का निर्धारण बाईं से दाहिनी ओर क्रमशः किया जाता है। जैसे रि की अपेक्षा स का, ग की अपेक्षा रि का आदि।

(२) जब क्रमशः संभव न हो तो एकान्तरित (एक छोड़ कर), द्व्यन्तरित (दो छोड़ कर) और इसी तरह अन्य स्वर छोड़ कर आधारक्रम बनाया जाता है। जैसे ७वें से १२वें प्रस्तारों में अन्तिम स्वर के रूप में म से ग का पूर्वत्व पूरा हो जाने के बाद १३वें से १८वें प्रस्तारों में मूलक्रम स रि ग म में से एकान्तरित रि का और १९वें से २४वें प्रस्तारों में द्व्यन्तरित स का पूर्वत्व रखा गया।

(३) विषम संख्या के (३, ५, ७ आदि) प्रस्तार बनाते समय पूर्वत्व का निर्धारण अपने-अपने वर्ग के आधार-क्रम के आधार पर किया जाता है; जैसे २१वें प्रस्तार में ग इस वर्ग के आधार क्रम रि ग म स के आधार पर आया। लेकिन समसंख्या वाले (२, ४, ६ आदि) प्रस्तारों में उनके ठीक पूर्ववर्ती प्रस्तारों के आधार पर; जैसे—चौथे प्रस्तार में पूर्व स्वर के रूप में स तीसरे प्रस्तार के आधार पर आया।

(४) किसी भी मूलक्रम के कुल प्रस्तारों में उसका अन्तिम प्रस्तार मूल क्रम का ठीक उल्टा होता है; जैसे—ऊपर चतुःस्वर स रि ग म का उल्टा रूप म ग रि सा अन्तिम २४ वें प्रस्तार में है।

इन नियमों के आधार पर ५, ६ और ७ स्वरों के प्रस्तार भी सरलता से बनाए जा सकते हैं।

इस प्रकार प्रस्तार बनाने के निम्नलिखित परिणाम हुए—

(१) ६-६ प्रस्तारों के ४ वर्ग बने जिनमें बाईं ओर से शुरू करने पर अन्तिम स्वर के रूप में क्रम से म, ग, रि और स स्थिर रहे।

(२) इसके बाद इन वर्गों के अन्तर्गत अपने-अपने आधारक्रम के अनुसार दाहिनी ओर से दूसरा, तीसरा और चौथा स्वर दो-दो बार स्थिर रहा।

(३) मूलक्रम या आधारक्रम के दाहिनी ओर से पहले-पहले स्वर को स्थिर रखते हुए शेष तीन स्वर उस वर्ग के अन्तिम प्रस्तार में अवरोह क्रम में आ गए।

(४) अन्तिम प्रस्तार में स्वर मूलक्रम के अवरोह क्रम में आ गए।

खण्डमेरुः

सप्ताद्येकान्तकोष्ठानामधोऽधः सप्त पङ्क्तयः॥ ६३॥

तास्वाद्यायामाद्यकोष्ठे लिखेदेकं परेषु खम्।
वेद्यतानस्वरमितान्यस्येत्तेष्वेव लोष्टकान्॥ ६४॥

खण्डमेरु

६३ ग-६४. (अ०) सप्तादि सात से आरंभ होने वाली (और) एकान्त एक से अन्त होने वाली अधः अधः एक के नीचे एक (क्रमशः आरंभ का एक-एक कोष्ठक छोड़ कर) कोष्ठानां कोष्ठों की सप्त पङ्क्तयः सात पंक्तियाँ (लिखनी चाहियें)। तासु उन (पंक्तियों) में से आद्यायां पहली (पंक्ति) में आद्यकोष्ठे पहले कोष्ठ में एकं लिखेत् १ (का अंक) लिखना चाहिये। परेषु बाद वालों (बाद वाले ख़ानों) में खं शून्य (लिखना चाहिये)। तेषु एव उन्हीं (अर्थात् पहली पंक्ति के

बाईं से दाहिनी ओर के कोष्ठों) में वेद्यतान- (ज्ञात की जाने वाली तान के स्वरूप अथवा संख्या) की तान के स्वरमितान् स्वरों से नापे गए (अर्थात् स्वरों की संख्या जितने) लोष्टकान् कंकड़ों को न्यस्येत् डालना चाहिए।

(सर०) 'नष्ट' यानी कूटतान का स्वरूप और 'उद्दिष्ट' यानी कूटतान की संख्या जानने के लिये उसके उपायस्वरूप 'खण्डमेरु' बनाने की विधि यहाँ बताई जा रही है जो इस प्रकार है।

पहली पंक्ति में बाएँ से दाएँ ७ ख़ाने बनाने चाहिएँ। फिर उस पंक्ति से नीचे-नीचे दूसरी, तीसरी आदि पंक्तियों में बाईं ओर से एक-एक ख़ाना छोड़ कर क्रमशः ६, ५, ४, ३, २ और १ ख़ाने बना लेने चाहिएँ। पहली पंक्ति के ७ ख़ानों में से पहले ख़ाने में १ और शेष ख़ानों में शून्य (०) लिखना चाहिए। ज्ञातव्य तान अथवा स्वरूप में जितने स्वर हों बाईं से दाहिनी ओर पहली पंक्ति में उतने ही ख़ानों में कंकड़ (लोष्ट-लो) डाल लेने चाहिएँ। ख़ाने इस प्रकार बनेंगे—

पहली पंक्ति	१ लो	० लो	० लो	० लो	० लो	० लो	० लो
दूसरी पंक्ति							
तीसरी पंक्ति							
चौथी पंक्ति							
पाँचवीं पंक्ति							
छठी पंक्ति							
सातवीं पंक्ति							

प्राक्पङ्क्त्यन्त्याङ्कसंयोगमूर्ध्वाधःस्थितपङ्क्तिषु।
शून्यादधो लिखेदेकं तं चाधोऽधः स्वकोष्ठकान्॥ ६५॥
कोष्ठसङ्ख्यागुणं न्यस्येत्खण्डमेरुरयं मतः।

स	रि	ग	म	प	ध	नि
१	०	०	०	०	०	०
	१	२	६	२४	१२०	७२०
		४	१२	४८	२४०	१४४०
			१८	७२	३६०	२१६०
				९६	४८०	२८८०
					६००	३६००
						४३२०

इति खण्डमेरुः

६५-६६ ख. (अ०) ऊर्ध्व-अधःस्थित षड्क्तिषु ऊपर से नीचे (की ओर) स्थित (कोष्ठकों से बनने वाली) पंक्तियों में **प्राक्पङ्क्ति-अन्त्य-अङ्कसंयोगं** पिछली (-पिछली) पंक्तियों के अन्तिम अंकों के योग को **शून्यात् अधः** शून्य के नीचे **लिखेत्** लिखना चाहिये। (इसके अनुसार पहले शून्य के नीचे पिछली पंक्ति का अंक) **एकं** एक (१) (लिखना चाहिये)। **तं च** और उस (पिछली पंक्तियों के अन्तिम अंकों के योग) को **स्व अधः अधः कोष्ठकात्** अपने नीचे-नीचे के कोष्ठ से (आरंभ करते हुए) **कोष्ठसङ्ख्यागुणं** कोष्ठ की संख्या के गुणन (गुणनफल) को **न्यस्येत्** स्थापित करना चाहिये। **अयं** यह **खण्डमेरुः मतः** खण्डमेरु माना गया है।

(सर०) अब तक पहली, दूसरी आदि पंक्तियों का अर्थ आड़ी पंक्तियाँ था। अब अंक भरते समय खड़ी पंक्तियों के लिये पहली, दूसरी आदि का प्रयोग किया जायगा क्योंकि अंक ऊपर से नीचे की ओर भरे जायँगे। तदनुसार पहली पंक्ति में केवल एक, दूसरी में २, तीसरी में ३ और इसी तरह शेष चार पंक्तियों में क्रम से ४, ५, ६ और ७ कोष्ठ हैं। अंक भरने के लिये शून्य के नीचे के ख़ानों को पहला मान कर नीचे के शेष ख़ानों की गिनाई की जाती है। जो ख़ाना जितनवाँ हो वह उतनवीं संख्या का सूचक होता है। इसे स्पष्ट करने के लिये नीचे की सारिणी में शून्य के नीचे के ख़ानों को क्रम से (१), (२), (३), (४), (५), (६) अंकों से दिखाया गया है।

हर शून्य से नीचे वाले अर्थात् (१) वाले ख़ानों में ऊपर से नीचे की ओर की पंक्तियों के अन्तिम-अन्तिम ख़ानों का जोड़ लिखा जाता है। फिर इस अंक को इसके नीचे-नीचे के यानी (२), (३), (४) आदि संख्या वाले ख़ानों में से जितनवाँ ख़ाना हो उससे गुणा करके गुणनफल लिखा जाता है। इसे नीचे की सारिणी से समझा जा सकता है।

पंक्तिसंख्या	पहली	दूसरी	तीसरी	चौथी	पाँचवीं	छठी	सातवीं	
	१	०	०	०	०	०	०	
		(१)	(१)	(१)	(१)	(१)	(१)	को
			(२)	(२)	(२)	(२)	(२)	ष्ठ
				(३)	(३)	(३)	(३)	कों
					(४)	(४)	(४)	की
						(५)	(५)	सं
							(६)	ख्या

अंक भरने की विधि को इस प्रकार समझना चाहिये। दूसरी पंक्ति में शून्य के नीचे वाले पहले ख़ाने में पिछली पंक्ति के अंतिम कोष्ठ का अंक १ लिखा जायगा। फिर तीसरी पंक्ति में शून्य के नीचे पहले ख़ाने में पिछली दोनों पंक्तियों के अन्तिम ख़ानों के अंकों का जोड़ (१+१=) २ लिखा जायगा। इसके नीचे वाला ख़ाना दूसरा है इसलिये उसके सूचक अंक २ से ऊपर वाले अंक २ को गुणा करके (२×२=) ४ लिखा जायगा। चौथी पंक्ति में शून्य के नीचे पहले ख़ाने में पिछली तीनों पंक्तियों के अन्तिम ख़ानों का जोड़ (१+१+४=) ६ लिख कर फिर इस अंक को नीचे के दूसरे ख़ाने के सूचक अंक २ से गुणा करके (६×२=) १२ और तीसरे ख़ाने के सूचक अंक ३ से गुणा करके (६×३=) १८ लिखा जायगा। अब पाँचवीं पंक्ति में शून्य के नीचे पहले कोष्ठक में पिछली चारों पंक्तियों के अन्तिम ख़ानों के अंकों का जोड़ (१+१+४+१८=) २४ लिख कर इसे उसके नीचे के क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे कोष्ठों के सूचक अंकों २, ३ और ४ से गुणा करके (२४×२=) ४८, (२४×३=) ७२ और (२४×४=) ९६ अंक क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे ख़ानों में लिखे जायँगे। इसी तरह छठी पंक्ति में शून्य के नीचे पहले ख़ाने में (१+१+४+१८+९६=) १२० और उससे नीचे के चार ख़ानों में (१२०×२=) २४०, (१२०×३=) ३६०,

(१२०×४=) ४८० और (१२०×५=) ६०० अंक लिखे जायँगे। अब सातवीं पंक्ति में शून्य के नीचे के पहले ख़ाने में (१+१+४+१८+९६+१२०+६००) ७२० लिखा जायगा और उससे नीचे पाँच ख़ानों में (७२०×२=) १४४०, (७२०×३=) २१६०, (७२०×४=) २८८०, (७२०×५=) ३६०० और (७२०×६=) ४३२० लिखे जायँगे। इस प्रकार बना खण्डमेरु नीचे दृष्टव्य है।

स	रि	ग	म	प	ध	नि
१	०	०	०	०	०	०
	१	२	६	२४	१२०	७२०
		४	१२	४८	२४०	१४४०
			१८	७२	३६०	२१६०
				९६	४८०	२८८०
					६००	३६००
						४३२०
					कुल	५०४०

सभी खड़ी पंक्तियों के अन्तिम-अन्तिम ख़ानों के अंकों को जोड़ने से ७ स्वरों के प्रस्तारों की कुल संख्या ५०४० होती है जो सातवीं पंक्ति के अन्तिम ख़ाने के नीचे दी गई है।

उद्दिष्टपरिज्ञानोपायः

स्वरात्मूलक्रमस्यान्त्यात्पूर्वं यावतिथः स्वरः॥ ६६॥

उद्दिष्टान्त्यस्तावतिथे कोष्ठेऽधो लोष्टकं क्षिपेत्।
लोष्टचालनमन्त्यात्स्यात्त्यक्त्वा लब्धं क्रमो भवेत्॥ ६७॥

लोष्टाक्रान्ताङ्कसंयोगादुद्दिष्टस्य मितिर्भवेत्।

उद्दिष्ट के ज्ञान का उपाय

६६ ग-६८ ख. (अ०) उद्दिष्ट-अन्त्यः स्वरः उद्दिष्ट (तान) का अन्तिम स्वर मूलक्रमस्य-अन्त्यात् स्वरात् पूर्वं मूलक्रम के अन्तिम स्वर से पूर्व (की ओर) यावतिथः जितनवाँ (हो) तावतिथे अधः कोष्ठे उतनवें नीचे के कोष्ठ में लोष्टकं क्षिपेत् कंकड़ डालना चाहिये। लोष्टचालनं कंकड़ सरकाना अन्त्यात् स्यात् अन्तिम (की ओर) से होता है (और) लब्धं व्यक्त्वा (जो) प्राप्त (हो चुका उस) को छोड़कर क्रमः भवेत् क्रम होता है। लोष्ट-आक्रान्त कंकड़ से आक्रान्त (जिन ख़ानों में कंकड़ पड़े हों उन ख़ानों के) अङ्कसंयोगात् अंकों को जोड़ने से उद्दिष्टस्य उद्दिष्ट (तान) की मितिः भवेत् संख्या होनी चाहिये (अर्थात् होती है)।

(सर०) किसी तान के स्वरूप की कितनवीं संख्या है यह ज्ञात करने की विधि यहाँ बताई जा रही है। 'उद्दिष्ट' का यहाँ अर्थ है 'वह तान जिसका स्वरूप ज्ञात है या बताया गया है'। 'लोष्टचालन' यानी कंकड़ सरकाना, 'अन्त्य' अर्थात् बाईं ओर से गिनने पर जो अन्तिम हो वह। खण्डमेरु में अंक भरते समय शून्य के नीचे के कोष्ठक को पहला और तदनुसार उसके

नीचे-नीचे दूसरे तीसरे ख़ाने कहे गये थे। लेकिन लोष्टचालन में शून्य वाली पंक्ति का कोष्ठक पहला और उसके नीचे दूसरा, तीसरा आदि माना जाता है।

जितने स्वरों की तान हो, पहली आड़ी पंक्ति में बाईं से दाहिनी ओर उतने ही ख़ानों में कंकड़ डाल दें। इसके बाद इन कंकड़ों में से अन्तिम की ओर से यानी बाईं ओर से शुरू करके जो अन्तिम हो उससे लोष्टचालन किया जाता है। उद्दिष्ट तान का अन्तिम स्वर मूल क्रम में दाहिनी ओर से जितनवीं संख्या पर हो नीचे के उतनवें कोष्ठक में कंकड़ को सरकाया जाता है और फिर उद्दिष्ट तान तथा मूलक्रम में से उस स्वर को छोड़ दिया जाता है। फिर जो स्वर और कंकड़ बचे उनके आधार पर इसी तरह लोष्टचालन किया जाता है। फिर जिन ख़ानों में कंकड़ पहुँचे उनके अंकों को जोड़ने से उद्दिष्ट तान की संख्या निकल आती है।

उदाहरण के लिये म प ग रि स तान की संख्या ज्ञात करनी है। इसके लिये मूलक्रम स रि ग म प लिख कर उसके नीचे म प ग रि स लिख लें। तान का अन्तिम स्वर स मूल क्रम में दाहिनी ओर से पाँचवाँ है इसलिये अन्तिम कंकड़ को

५	४	३	२	१
~~स~~	रि	ग	म	प
म	प	ग	रि	~~स~~

नीचे की ओर पाँचवें ख़ाने में सरका दें जिसमें ९६ का अंक है। स को दोनों जगह से काट देने पर अब मूलक्रम में रि ग म प और तान में म प ग रि बचे। अब तान का अन्तिम स्वर रि मूल क्रम में दाहिनी ओर से

४	३	२	१
~~रि~~	ग	म	प
म	प	ग	~~रि~~

चौथा है इसलिये अन्तिम कंकड़ को नीचे की ओर चौथे (१८ अंक वाले) ख़ाने में सरका दें और मूलक्रम व तान में से रि को काट दें। अब मूलक्रम में ग म प और तान में म प ग स्वर बचे। तान का अन्तिम स्वर

३	२	१
~~ग~~	म	प
म	प	~~ग~~

ग मूलक्रम में तीसरा है इसलिये अन्तिम कंकड़ को नीचे की ओर तीसरे (४ अंक वाले) ख़ाने में सरका दें और दोनों जगह से ग को काट दें। अब मूलक्रम और तान दोनों में स्वर बचे म प। तान का अन्तिम स्वर प मूलक्रम में भी पहला है इसलिये अन्तिम कंकड़

२	१
म	~~प~~
म	~~प~~

को पहले (० वाले) ख़ाने में ही रहने दें। क्रम और तान दोनों में से प काट दें। दोनों में शेष बचा म। यह मूलक्रम में पहला है इसलिये पहले कंकड़ को पहले (१ वाले) ख़ाने में ही रहने दें। दोनों जगह से म को काट दें। अब कंकड़ जिन ख़ानों में पड़े हैं उनके अंकों को जोड़ने पर (९६+१८+४+०+१ =) ११९ उद्दिष्ट तान की संख्या ज्ञात हुई। इसे नीचे खण्डमेरु में देखा जा सकता है।

स	रि	ग	म	प		
१ लो	० लो	०	०	०	१	ख़ा
	१	२	६	२४	२	नों
		४ लो	१२	४८	३	की
			१८ लो	७२	४	सं
				९६ लो	५	ख्या

नष्टपरिज्ञानोपायः

यैरङ्कैर्नष्टसङ्ख्या स्यान्मौलैकाङ्कसमन्वितैः॥ ६८॥

तेषु लोष्टं क्षिपेन्मूले लोष्टस्थानमितं भवेत्।
नष्टतानस्वरस्थानं ततो यावतिथे पदे॥ ६९॥

अधःक्रमादस्ति लोष्टः स्वरस्तावतिथो भवेत्।
क्रमान्तिमस्वरात्पूर्वो लब्धत्यागादि पूर्ववत्॥ ७०॥

नष्ट के ज्ञान का उपाय

६८ ग-७०. (अ०) मौल-एक-अङ्कसमन्वितैः मूल १ अंक को समन्वित करके (लेकर) **यैः अङ्कैः** जिन अंकों से **नष्टसङ्ख्या स्यात्** नष्ट (अज्ञात स्वरूप वाली तान) की संख्या होती है **तेषु** उन (अंकों के कोष्ठों) में **लोष्टं क्षिपेत्** कंकड़ डालना चाहिये। **मूले** मूल (क्रम) में **लोष्टस्थानमितं** कंकड़ के स्थान से नापा गया (स्थान) **नष्टतान-स्वरस्थानं भवेत्** नष्ट तान के स्वर का स्थान होना चाहिये (होता है)। **ततः** तब **अधःक्रमात्** क्रम से नीचे (की ओर) **यावतिथे पदे** जितनवें स्थान में **लोष्टः अस्ति** कंकड़ है **अन्तिमस्वरात् पूर्वः** अन्तिम स्वर से पूर्व की ओर (के स्वर) **क्रमात्** के क्रम से **तावतिथः स्वरः** उतनवाँ स्वर **भवेत्** होना चाहिये (होता है)। **लब्धत्याग-आदि** प्राप्त का त्याग आदि **पूर्ववत्** पहले की तरह (ही होता है)।

(सर०) यहाँ 'नष्ट' का अर्थ है अज्ञात। इसलिये किसी संख्या के आधार पर उसके अज्ञात स्वरूप को ज्ञात करने की विधि 'नष्ट' कहलाती है। ग्रंथकार ने वही यहाँ बताई है। स्वरूप मालूम करने के लिये स्वरों की संख्या और तान की संख्या मालूम होनी चाहिये। उदाहरण के लिये ७ स्वरों की ५०३९ वीं तान का स्वरूप ज्ञात करना है तो विधि यह होगी।

इसके लिये खण्डमेरु में सबसे ऊपर की आड़ी पंक्ति में बाईं से दाहिनी ओर ७ ख़ानों में कंकड़ डाल दें। इसके बाद अन्तिम कंकड़ को नीचे की ओर उस ख़ाने में सरकाना चाहिये जिसका अंक तान की संख्या के निकटतम लेकिन उससे कम हो। अब तान की संख्या में से उस ख़ाने के अंक को घटा दें। फिर बची हुई संख्या के आधार पर पहले की ही तरह अन्तिम कंकड़ को उस कोष्ठ में सरका दें जिसका अंक बची हुई संख्या के निकटतम लेकिन कम हो। इसी तरह शेष कंकड़ों का चालन किया जाय।

इसके अनुसार अन्तिम कंकड़ को नीचे की ओर ५०३९ के निकटतम कम अंक ४३२० के ख़ाने में सरका दें। ५०३९ में से ४३२० घटाने पर शेष बचा ७१९। अब अगले अंतिम कंकड़ को नीचे की ओर ७१९ के निकटतम कम अंक ६०० के ख़ाने में सरका दें। ७१९ में से ६०० घटाने पर बचा ११९। अब फिर अन्तिम कंकड़ को ९६ अंक वाले ख़ाने में सरका दें। ११९ में से ९६ घटाने पर २३ बचा। फिर अंतिम कंकड़ को नीचे की ओर १८ के ख़ाने में सरका दें। २३ में से १८ घटाने पर शेष रहा ५। फिर अन्तिम कंकड़ को नीचे की ओर ४ के ख़ाने में सरका दें। शेष बचा १। अब अन्तिम ख़ाने के कंकड़ को १ के निकटतम कम अंक ० वाले ख़ाने में ही रहने दें। १ में से ० घटाने पर बचा १। अन्तिम कंकड़ को १ के ही ख़ाने में रहने दें क्योंकि उसका निकटतम कम अंक नहीं है। खण्डमेरु में लोष्टचालन इस प्रकार हुआ—

							कोष्ठसंख्या
१ लो	० लो	०	०	०	०	०	१
	१	२	६	२४	१२०	७२०	२
		४ लो	१२	४८	२४०	१४४०	३
			१८ लो	७२	३६०	२१६०	४
				९६ लो	४८०	२८८०	५
					६०० लो	३६००	६
						४३२० लो	७

अब ७ स्वरों का मूलक्रम स रि ग म प ध नि लिख लें। उद्दिष्ट की तरह ही यहाँ भी मूलक्रम, तान के स्वरूप और कंकड़ों की गिनाई दाहिनी ओर से ही की आयगी। इसलिये अब मूलक्रम के नि की ओर से पढ़ा जायगा। पहला कंकड़ ऊपर से नीचे की ओर जितनवें ख़ाने में पड़ा हो मूलक्रम का दाहिनी ओर से उतनवाँ स्वर दाहिनी ओर पहले स्वर के रूप में लिख लें। पहला कंकड़ नीचे की ओर ७ वें ख़ाने में हैं इसलिये मूलक्रम का ७वाँ स्वर स दाहिनी ओर यानी मूलक्रम के नि के नीचे लिख दें और मूलक्रम में से

७ ६ ५ ४ ३ २ १
~~स~~ रि ग म प ध नि
स

काट दें। अब स्वर बचे रि ग म प ध नि। जिस कंकड़ की क्रिया पूरी हो जाय उसे खण्डमेरु से निकाल दें। अब पहला कंकड़ नीचे की ओर छठे ख़ाने में है इसलिये मूलक्रम का छठा स्वर रि पहले लिखे गए स के बाईं ओर लिख लें। अब मूलक्रम में से रि को काट दें और कंकड़

६ ५ ४ ३ २ १
~~रि~~ ग म प ध नि
रि स

निकाल दें। स्वर बचे ग म प ध नि। अब पहला कंकड़ नीचे ५ वें ख़ाने में है इसलिये मूलक्रम का पाँचवाँ स्वर ग पहले लिखे गए स्वरों के बाईं ओर लिख लें। मूलक्रम में शेष रहे म प ध नि। कंकड़ निकाल दें। अब पहला

५ ४ ३ २ १
~~ग~~ म प ध नि
ग रि स

कंकड़ नीचे के चौथे ख़ाने में है इसलिये मूलक्रम के चौथे स्वर म को पहले लिखे गए स्वरों के बाईं ओर लिख लें। मूलक्रम

४ ३ २ १
म प ध नि
म ग रि स

में से उसे काट देने पर स्वर बचे प ध नि। अब पहला कंकड़ नीचे के तीसरे ख़ाने में है इसलिये मूलक्रम का तीसरा स्वर

३ २ १
प ध नि
प म ग रि स

प पहले लिखे गए स्वरों के बाईं ओर लिख लें। मूलक्रम में से प को काट दें। शेष स्वर रहे ध नि। कंकड़ निकाल दें। अब कंकड़ पहले ख़ाने में पड़ा है। मूलक्रम में पहला स्वर नि है इसलिये उसे पहले लिखे गए स्वरों के बाईं ओर

२ १
ध नि
नि प म ग रि स

लिख लें और मूलक्रम में से उसे काट दें। शेष स्वर है ध। कंकड़ निकाल दें। अब एक ही कंकड़ है और वह पहले ख़ाने में है। मूलक्रम में भी एक ही स्वर शेष है इसलिये उसे पहले लिखे गए स्वरों के बाईं ओर लिख लें।

१
ध
ध नि प म ग रि स

इस प्रकार ५०३९ वीं तान का स्वरूप ध नि प म ग रि स ज्ञात हुआ।

खण्डमेरौ तानसंङ्ख्याज्ञानोपायः

तानस्वरमितोर्ध्वाधःपङ्क्तिगान्त्याङ्कमिश्रणात्।
एकस्वरादितानानां सङ्ख्या सञ्जायते क्रमात्॥ ७१॥

खण्डमेरु में तानसंख्या के ज्ञान का उपाय

७१. (अ०) तानस्वरमिता तान के स्वर से नापी गई ऊर्ध्व-अधः पङ्क्तिगा ऊपर से नीचे की पंक्तियों के अन्त्य-अङ्कमिश्रणात् अन्तिम अंकों को जोड़ने से क्रमात् क्रम से एकस्वरादितानानां सङ्ख्या एकस्वर आदि तानों की संख्या सञ्जायते उत्पन्न होती है।

(सर०) किसी निश्चित स्वरसंख्या में बनने वाली कुल तानों की संख्या खण्डमेरु के आधार पर मालूम करने की विधि यहाँ बताई गई है। जितने स्वरों की तानों की कुल संख्या मालूम करनी हो उतनी ही खड़ी पंक्तियों के अन्तिम ख़ानों के अंकों को जोड़ना चाहिये। जैसे, ४ स्वरों की तानों की कुल संख्या जानने के लिये बाईं तरफ़ से ४ खड़ी पंक्तियों के अन्तिम-अन्तिम ख़ानों के अंकों १+१+४+१८ को जोड़कर २४ संख्या प्राप्त होती है। इससे यह ज्ञात हुआ कि ४ स्वरों की कुल २४ तानें होती हैं। नीचे दिए गए खण्डमेरु के ४ स्वरों के खण्ड को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा—

१	२	३	४	
१				
	१			
		४		
			१८	= २४

कुल तानसंख्या जानने का एक तरीक़ा और है। जितने स्वरों की तानसंख्या मालूम करनी हो उतनी खड़ी पंक्तियाँ गिन लें। बाईं से दाहिनी ओर की अन्तिम पंक्ति में ऊपर से नीचे की ओर दूसरे और अन्तिम ख़ानों के अंकों को जोड़ लें। प्राप्त संख्या उतने स्वरों की कुल तानों की संख्या होगी। हर खड़ी पंक्ति में शून्य के नीचे के यानी दूसरे ख़ाने में पिछली पिछली पंक्तियों के अन्तिम कोष्ठों के अंकों का जोड़ रखा जाता है यह श्लोक ६५ में ग्रंथकार कह चुके हैं। इसलिये सभी पिछली पंक्तियों के अंकों का योग किया जाय अथवा संबद्ध पंक्ति के दूसरे और अन्तिम ख़ानों के अंकों को जोड़ें परिणाम एक ही आएगा। जैसे, ५ स्वरों की कुल तान संख्या जानने के लिये ५वीं पंक्ति के दूसरे ख़ाने के अंक २४ और अन्तिम ख़ाने के अंक ९६ को जोड़ने से १२० संख्या प्राप्त होगी जो ५ स्वरों की कुल तानसंख्या है। खण्डमेरु के नीचे दिए गए ५ स्वरों के खण्ड में इसे देखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	
				०	
				२४	
				९६	= १२०

खण्डमेरु से दो बातें और भी प्रकट होती हैं—

(१) बाईं से दाहिनी ओर की दूसरी आड़ी पंक्ति के ६ ख़ानों के अंक यह सूचित करते हैं कि उनमें से जो कोष्ठक जितने स्वरों की सूचक खड़ी पंक्ति में आता है उतने स्वरों के प्रस्तारों में अन्तिम स्वर को उतनी बार स्थिर रखा जाता है यानी अन्त में रखा जाता है। जैसे, दूसरी आड़ी पंक्ति का दूसरा कोष्ठक तीन स्वरों की सूचक तीसरी खड़ी पंक्ति में है। इस कोष्ठक में २ अंक है। इसलिये ३ स्वरों से बनने वाले प्रस्तारों में अन्तिम स्वर २-२ बार स्थिर रहेगा। इस आड़ी पंक्ति के तीसरे कोष्ठक का ६ अंक ४ स्वरों के प्रस्तारों में अन्तिम स्वर ६ बार स्थिर रहने का सूचक है। इसी तरह २४, १२० और ७२० अंक इसके सूचक हैं कि ५, ६ और ७ स्वरों के प्रस्तारों में अन्तिम स्वर क्रम से २४, १२० और ७२० बार अन्त में रहेगा। खण्डमेरु का निम्न अंश इसे प्रदर्शित करता है—

१	०	०	०	०	०	०
	१	२	६	२४	१२०	७२०

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये नीचे ३ स्वरों के प्रस्तार दिखाए जा रहे हैं—

(१) स रि ग॒
(२) रि स ग॒] २

(३) स ग रि॒
(४) ग स रि॒] २

(५) रि ग स॒
(६) ग रि स॒] २

इनमें अन्तिम स्वर २-२ बार स्थिर है। श्लोक ६२-६३ ख की व्याख्या में ४ स्वरों की २४ कूटतानें बना कर दिखाई जा चुकी है, उनमें भी इसे देखा जा सकता है।

(२) खण्डमेरु में किसी खड़ी पंक्ति में ऊपर से नीचे की ओर जितने ख़ाने हों उतने ही वर्ग उन स्वरों के प्रस्तारों में बनते हैं जितने स्वरों की सूचक वह पंक्ति हो। खण्डमेरु के निम्न खण्ड से ४ स्वरों की तानों के वर्गों को समझा जा सकता है—

			०
			६
			१२
			१८

यहाँ ४ स्वरों की सूचक चौथी खड़ी पंक्ति में ४ कोष्ठ होने के कारण ४ स्वरों की कूटतानों में ४ वर्ग बनेंगे और दूसरे ख़ाने के अंक ६ के आधार पर अन्तिम स्वर ६-६ बार अन्त में रहेगा। ६, १२ और १८ अंक यह सूचित करते हैं कि पहला वर्ग छठे प्रस्तार पर दूसरा वर्ग १२वें प्रस्तार पर, तीसरा वर्ग १८वें प्रस्तार पर और तदनुसार चौथा वर्ग २४वें प्रस्तार पर समाप्त होगा। ये सभी तथ्य ४ स्वरों के २४ प्रस्तारों को देख कर स्पष्ट रूप से समझे जा सकते हैं।

कूटतानों का निरूपण ग्रंथकार ने बड़े विस्तार से किया है। ध्यान देने योग्य है कि चौथे प्रकरण के कुल ९१ श्लोकों में से ४० (३२ से ७१) में केवल कूटतान से संबंधित विषय है। इतने विस्तार का कारण यह है कि कूटतानों के रूप में किसी निश्चित संख्या के स्वरों में स्वरसंचारों की गणिताधारित सारी संभावनाएँ मिल जाती हैं। देशी संगीत में स्वरवैचित्र्य और यथेच्छ प्रयोग की छूट होने के कारण कूटतानों का यह विस्तार बड़ा उपयोगी होता है। इस संदर्भ में नाट्यशास्त्र के ३३वें अध्याय की अभिनवभारती टीका में 'गान्धर्व' और 'गान' के अन्तर के स्पष्टीकरण में अभिनव का कथन है—

'गाने तु द्विस्वरात् प्रभृति पूर्णस्वरपर्यन्तं द्विधा षोढा चतुर्विंशतिधा (विंशशतधा) विंशसप्तशतधा चत्वारिंशत्पञ्चसहस्रधेति कथितनीत्या यः कूटनभेदस्तत्कृतं स्वरवैचित्र्यं वर्णावृत्तीनामेव च ह्येतत्।' (ना० शा०, अ० ३३, अभि०, पृ० ३९५, पं० ५-७)

यहाँ २ स्वर से लेकर सम्पूर्ण अर्थात् सप्तस्वर तक के क्रमशः २, ६, २४, १२०, ७२० और ५०४० कूटभेदों के द्वारा उत्पन्न होने वाले स्वरवैचित्र्य के प्रयोग की छूट 'गान' के लिये दी गई है। आगे चल कर यह स्पष्ट किया जाने वाला है कि शार्ङ्गदेव ने 'मार्ग' को 'गान्धर्व' के और 'देशी' को 'गान' के समकक्ष रखा है। अतः गान में कूटतानों के प्रयोग की परंपरा देशी संगीत में भी आई। शार्ङ्गदेव ने सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से भरत-परम्परा से प्राप्त विषयों का निरूपण करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से अवधान देशी संगीत पर रखा है इसीलिये कूटतानों का, जो देशी संगीत से संबद्ध हैं, इतना विस्तृत निरूपण किया है।

शुद्धतानानां यज्ञनामानि, तत्र षड्जग्रामिक-षाडवतानाः

अथात्र शुद्धतानानां नामानि व्याहरामहे।
अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोमो वाजपेयश्च षोडशी॥ ७२॥

पुण्डरीकोऽश्वमेधश्च राजसूयस्ततः परः।
इति स्युः षड्जहीनानां सप्त नामान्यनुक्रमात्॥ ७३॥

शुद्धतानों के यज्ञनाम—षड्जग्रामिक षाडव तानें

७२-७३. (अ०) अथ अत्र अब यहाँ शुद्धतानानां नामानि शुद्धतानों के नामों को व्याहरामहे कहते हैं। अग्निष्टोमः अत्यग्निष्टोमः वाजपेयः षोडशी च अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और षोडशी, पुण्डरीकः अश्वमेधः च पुण्डरीक और

अश्वमेध ततः परः राजसूयः उसके बाद राजसूय इति अनुक्रमात् इस क्रम से षड्जहीनानां (षड्जग्राम की) षड्जरहित सप्त नामानि सात (तानों के) नाम स्युः होते हैं।

(सर०) यहाँ षड्जग्राम की षाडव शुद्धतानों के नाम दिये जा रहे हैं।

स्विष्टकृद्बहुसौवर्णो गोसवश्च महाव्रतः।
विश्वजिद्ब्रह्मयज्ञश्च प्राजापत्यस्तु सप्तमः॥ ७४॥

क्रमादृषभहीनानां तानानामभिधाः इमाः।

७४-७५ ख. (अ०) स्विष्टकृत्-बहुसौवर्ण गोसवः महाव्रतः च स्विष्टकृत्, बहुसौवर्ण, गोसव और महाव्रत विश्वजित् ब्रह्मयज्ञः च विश्वजित् और ब्रह्मयज्ञ प्राजापत्यः तु सप्तमः प्राजापत्य तो सातवाँ क्रमात् क्रम से इमाः ये ऋषभहीनानां तानानां ऋषभरहित तानों के अभिधाः नाम (हैं)।

अश्वक्रान्तो रथक्रान्तो विष्णुक्रान्तस्ततः परः॥ ७५॥

सूर्यक्रान्तो गजक्रान्तो वलभिन्नागपक्षकः।
इति पञ्चमहीनानां संज्ञाः सप्त क्रमान्मताः॥ ७६॥

७५ ग-७६. (अ०) अश्वक्रान्तः रथक्रान्तः विष्णुक्रान्तः अश्वक्रान्त, रथक्रान्त, विष्णुक्रान्त ततः परः उसके बाद सूर्यक्रान्तः गजक्रान्तः सूर्यक्रान्त, गजक्रान्त, वलभिन् नागपक्षकः वलभिन्, नागपक्षक इति क्रमात् ये क्रम से पञ्चमहीनानां पंचमरहित सप्त संज्ञाः मताः सात (तानों) की संज्ञा मानी जाती हैं।

चातुर्मास्योऽथ संस्थाऽऽख्यः शस्त्रश्चोक्थश्चतुर्थकः।
सौत्रामणी तथा चित्रा सप्तमस्तूद्भिदाह्वयः॥ ७७॥

संज्ञा निषादहीनानां षाडवानामिमाः क्रमात्।

इति षाड्जग्रामिकाष्टाविंशतितानानामानि

७७-७८ ख. (अ०) चातुर्मास्यः अथ संस्था आख्यः चातुर्मास्य, तब संस्था नामक, शस्त्रः चतुर्थकः उक्थः च शस्त्र और चौथा उक्थ, सौत्रामणी चित्रा सौत्रामणी, चित्रा तथा सप्तमः तु उद्भिद् और सातवीं तो उद्भिद् निषादहीनानां षाडवानां निषादरहित षाडव (तानों) की क्रमात् क्रम से इमाः संज्ञाः आह्वयः ये संज्ञाएँ कही जाती हैं।

षड्जग्रामिक अट्ठाईस ताननाम समाप्त

मध्यमग्रामिकषाडवतानाः

सावित्री चार्धसावित्री सर्वतोभद्रसंज्ञकः॥ ७८॥

आदित्यानामयनश्च गवामयननामकः।
सर्पाणामयनः षष्ठः सप्तमः कौणपायनः॥ ७९॥

नामानि षड्जहीनानां तानानामिति मेनिरे।

मध्यमग्रामिक षाडवतानें

७८ ग-८० ख. (अ०) सावित्री अर्धसावित्री च सावित्री और अर्धसावित्री, सर्वतोभद्रसंज्ञकः सर्वतोभद्र नामक, आदित्यानामयनः च और आदित्यानामयन, गवामयननामकः गवामयन नामक, षष्ठः सर्पाणामयन छठा सर्पाणामयन, सप्तमः कौणपायनः सातवाँ कौणपायन इति ये षड्जहीनानां तानानां (मध्यम ग्राम की) षड्जरहित तानों के नामानि मेनिरे नाम कहे गये हैं।

(सर०) यहाँ से मध्यमग्राम की षाडव शुद्धतानों के नाम कहे जा रहे हैं।

अग्निचिद् द्वादशाहश्चोपांशुः सोमाभिधस्ततः॥ ८०॥

अश्वप्रतिग्रहो बर्हिरथाभ्युदयसंज्ञकः।
ऋषभेण विहीनानामिति नामानि मन्वते॥ ८१॥

८० ग-८१ (अ०) अग्निचिद् द्वादश उपांशुः च आहः अग्निचिद्, द्वादश और उपांशु कहे गये हैं। ततः तब सोम-अभिध सोम नामक, अश्वप्रतिग्रहः बर्हिः अश्वप्रतिग्रह (और) बर्हि अथ अब अभ्युदय-संज्ञकः अभ्युदय संज्ञा वाला इति ये ऋषभेण विहीनानां ऋषभ-रहित (तानों) के नामानि मन्वते नाम माने जाते हैं।

सर्वस्वदक्षिणो दीक्षा सोमाख्यः समिदाह्वयः।
स्वाहाकारस्तनूनपात्ततो गोदोहनो मतः॥ ८२॥

इति गान्धारहीनानां क्रमात्संज्ञाः प्रचक्षते।

इति माध्यमग्रामिकैकविंशतिषाडवताननामानि

८२-८३ ख. (अ०) सर्वस्वदक्षिणः दीक्षा सोम-आख्यः सर्वस्वदक्षिण, दीक्षा, सोम नामक, समित् स्वाहाकारः तनूनपात् आह्वयः समित्, स्वाहाकार, तनूनपात् कहे गए हैं। ततः गोदोहनः मतः तब गोदोहन माना गया है। इति क्रमात् इस क्रम से (ये) गान्धारहीनानां गांधारहित (तानों की) संज्ञाः प्रचक्षते संज्ञा कही जाती हैं।

मध्यमग्राम की इक्कीस षाडव तानों के नाम समाप्त

षड्जग्रामिकौडुवतानाः

इडा पुरुषमेधश्च श्येनो वज्र इषुस्ततः॥ ८३॥

अङ्गिराः कङ्क इत्येताः सपहीनाभिधाः क्रमात्।

षड्जग्रामिक औडव तानें

८३ ग-८४ ख. (अ०) इडा पुरुषमेधः च इडा और पुरुषमेध ततः श्येनः वज्रः इषुः तब श्येन, वज्र, इषु, अङ्गिराः कङ्कः अंगिरा (और) कङ्क इति एताः इस प्रकार ये क्रमात् क्रम से सपहीना-अभिधाः स-प रहित (तानों के) नाम (हैं)।

(सर०) यहाँ से षड्जग्राम की औडव तानों के नाम बताए गए हैं।

ज्योतिष्टोमस्ततो दर्शो नान्द्याख्यः पौर्णमासकः॥ ८४॥

अश्वप्रतिग्रहो रात्रिः सौभरः सप्तमः स्मृतः।
एता निषादगान्धारहीनानामभिधाः क्रमात्॥ ८५॥

८४ ग-८५. (अ०) ज्योतिष्टोमः ततः दर्शः ज्योतिष्टोम तब दर्श, नान्दी-आख्यः नान्दी नामक, पौर्णमासकः पौर्णमास, अश्वप्रतिग्रहः अश्वप्रतिग्रह रात्रिः सप्तमः सौभरः स्मृतः रात्रि (और) सातवाँ सौभर जाना गया है। एता ये क्रमात् क्रम से निषादगान्धारहीनानां निषाद गान्धार रहित (तानों) के अभिधाः नाम (हैं)।

सौभाग्यकृच्च कारीरी शान्तिकृत्पुष्टिकृत्तथा।
वैनतेयोच्चाटनौ च वशीकरणसंज्ञकः॥ ८६॥

पञ्चमर्षभहीनानां तानानामभिधा इमाः।

इति षाड्जग्रामिकैकविंशत्यौडुवताननामानि

८६-८७ ख. (अ०) सौभाग्यकृत् कारीरी च सौभाग्यकृत् और कारीरी शान्तिकृत् पुष्टिकृत् तथा शान्तिकृत् और पुष्टिकृत् वैनतेय-उच्चाटनौ च वैनतेय और उच्चाटन वशीकरणसंज्ञकः वशीकरण नामक इमाः ये पञ्चम-ऋषभहीनानां तानानां पंचम-ऋषभ हीन तानों के अभिधाः नाम (हैं)।

षड्जग्रामिक इक्कीस औडव तानों के नाम समाप्त

मध्यमग्रामिकौडुवतानाः

त्रैलोक्यमोहनो वीरः कन्दर्पबलशातनः॥ ८७॥

शङ्खचूडो गजच्छायो रौद्राख्यो विष्णुविक्रमः।
तानानां रिधहीनानां नामान्येतान्यनुक्रमात्॥ ८८॥

मध्यमग्रामिक औडव तानें

८७ ग-८८ (अ०) त्रैलोक्यमोहनः वीरः कन्दर्पबलशातनः त्रैलोक्यमाहन, वीर, कंदर्पबलशातन, शङ्खचूडः गजच्छायः रौद्र-आख्यः शंखचूड, गजच्छाय, रौद्र नामक, विष्णुविक्रमः विष्णुविक्रम अनुक्रमात् (के) अनुक्रम से रि-धहीनानां तानानां रि-ध हीन तानों के एतानि नामानि ये नाम हैं।

(सर०) यहाँ से मध्यमग्राम की औडव तानों के नाम दिये गये हैं।

भैरवः कामदाख्यश्चावभृथोऽष्टकपालकः।
स्विष्टकृच्च वषट्कारो मोक्षदः सप्तमो मतः॥ ८९॥

संज्ञाः निषादगान्धारहीनानामिति संमताः।

इति माध्यमग्रामिकचतुर्दशौडुवताननामानि

८९-९० ख. (अ०) भैरवः कामद-आख्यः च भैरव और कामद नामक, अवभृथः अष्टकपालकः अवभृथ (और) अष्टकपाल, स्विष्टकृत् वषट्कारः च स्विष्टकृत् और वषट्कार सप्तमः मोक्षदः सातवाँ मोक्षद मतः माना गया है। इति ये निषाद-गान्धारहीनानां निषाद-गांधार हीन (तानों की) संज्ञाः संमताः संज्ञाएँ सम्मत हैं।

मध्यमग्रामिक चौदह औडव तानों के नाम समाप्त

यज्ञनामानुसारेण तानफलम्

यद्यज्ञनामा यस्तानस्तस्य तत्फलमिष्यते॥ ९०॥

यज्ञनाम के अनुसार तानफल

९० ग-घ. (अ०) यः तानः जो तान **यत् यज्ञनामा** जिस यज्ञनाम की (है) **तस्य** उस (तान) का **तत् फलं** वही (यज्ञ) फल **इष्यते** होता है।

(सर०) शुद्ध तानों को यज्ञ नाम देना स्पष्टतः वैदिक परम्परा का प्रभाव है जहाँ विशिष्ट यज्ञों के विशेष फल माने गये हैं। यहाँ तानों को यज्ञनाम देने का प्रयोजन यह है कि यदि तान का सही ढंग से प्रयोग हो तो उसका वही फल होता है जो उस तान को दिये गये नाम के यज्ञ का होता है।

शुद्धतानानां गान्धर्वे कूटानां च गान उपयोगः

गान्धर्वे मूर्च्छनास्तानाः श्रेयसे श्रुतिचोदिताः।
गाने स्थानस्य लाभेन ते कूटाश्चोपयोगिनः॥ ९१॥

इति प्रथमे स्वरगताध्याये चतुर्थं ग्राम-मूर्च्छना-क्रम-तानप्रकरणम्॥ ४॥

शुद्धतानों का गान्धर्व में तथा कूटतानों का गान में उपयोग

९१. (अ०) गान्धर्वे गान्धर्व में **मूर्च्छनाः तानाः** मूर्च्छना (और शुद्ध) तान **श्रेयसे** निःश्रेयस् के लिये **श्रुति-चोदिताः** श्रुति द्वारा निर्दिष्ट (हैं) **गाने** गान में **स्थानस्य लाभेन** स्थान का लाभ होने के कारण **ते** वे (मूर्च्छना और शुद्धतान) **कूटाः च** और कूट (तान) **उपयोगिनः** उपयोगी हैं।

(सर०) कल्लि० के अनुसार मूर्च्छना और तान का अर्थ शुद्धमूर्च्छना और शुद्धतान ही है क्योंकि दोनों का साहचर्य है अर्थात् शुद्ध मूर्च्छनाओं की ही शुद्धतानें बनती हैं, अन्यों की नहीं। गान्धर्व में अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिये इन मूर्च्छनाओं और तानों का प्रयोग होता है तथा गान में दृष्ट फल की दृष्टि से विशेष रूप से कूटतानों का प्रयोग होता है। यहाँ विशेष अभिप्राय यह है कि गान्धर्व में केवल शुद्धतानों का प्रयोग ही विहित है लेकिन गान में शुद्ध और कूट सभी तानों का।

गान के प्रसंग में ग्रंथकार द्वारा कहे गए 'स्थानलाभ' का कल्लि० ने यह अर्थ किया है कि विशेष मूर्च्छना की स्थापना करते समय मूर्च्छना के अनुसार स्वरों को सरकाने पर स्वरों की आधार श्रुति प्राप्त होने से स्थान का ज्ञान होता है। सिंह० ने 'स्थानलाभ' का अर्थ रंजक स्थायविशेष का लाभ अथवा मन्द्र, मध्य, तार-रूप त्रिस्थान लाभ कहा है। कल्लि० ने केवल मूर्च्छना के द्वारा स्थान लाभ दिखाया है और सिंह० ने रंजक स्थाय के द्वारा कूटतान और मन्द्रादि के द्वारा मूर्च्छना—इस प्रकार 'ते' को शुद्ध मूर्च्छना और कूटतान दोनों के साथ अन्वित किया है।

प्रथम स्वरगताध्याय का ग्राम-मूर्च्छना-क्रम-तान नामक चौथा प्रकरण समाप्त॥ ४॥

अथ पञ्चमं साधारणप्रकरणम्

पाँचवाँ साधारण-प्रकरण

द्विविधं साधारणं, तत्र स्वरसाधारणं तस्य भेदाश्च

साधारणं भवेद् द्वेधा स्वरजातिविशेषणात्।
स्वरसाधारणं तत्र चतुर्धा परिकीर्तितम्॥ १॥

काकल्यन्तरषड्जैश्च मध्यमेन विशेषणात्।

द्विविध साधारण, उनमें से 'स्वरसाधारण' और उसके भेद

१-२ ख. (अ०) स्वर-जाति विशेषणात् स्वर (और) जाति के विशेषण से साधारणं साधारण द्वेधा भवेत् दो प्रकार का होता है। तत्र उनमें से स्वरसाधारणं स्वरसाधारण काकली-अन्तर-षड्जैः च मध्यमेन विशेषणात् काकली, अन्तर, षड्ज और मध्यम विशेषण से चतुर्धा चार प्रकार का परिकीर्तितं प्रसिद्ध है।

(सर०) 'साधारण' का अर्थ है सामान्य यानी किन्हीं दो भिन्न वस्तुओं में रहने वाला सामान्य धर्म। 'साधारण' दो प्रकार का माना गया है—स्वरसाधारण और जातिसाधारण। स्वरसाधारण से प्राप्त होने वाले स्वर में अपनी पूर्व अवस्था और बाद वाले स्वर के धर्म रहते हैं। जातिसाधारण में उन दोनों जातियों के धर्म रहते हैं जिनके मिश्रण से वह जाति बनती है।

भरत ने इस साधारणता को शिशिर और वसन्त ऋतुओं की काल-साधारणता के उदाहरण के द्वारा समझाया है। जब छाया में रहने से ठंड का अनुभव होता है और धूप में जाने से पसीना आने लगता है तो न तो यह कह सकते हैं कि शिशिर समाप्त हो गया और न यही कहा जा सकता है कि वसन्त नहीं आया, क्योंकि शिशिर का लक्षण ठंड का अनुभव होना और वसन्त का लक्षण पसीना आना—ये दोनों रहते हैं। यह काल-साधारणता है। इसी तरह जब किसी स्वर में दो स्वरों के धर्म रहते हैं तो उसमें स्वरसाधारण कहा जाता है (ना० शा०, २८/३४ व गद्य खण्ड)।

ग्रंथकार ने यहाँ स्वरसाधारण चार प्रकार का कहा है—काकली-साधारण, अन्तर-साधारण, षड्ज-साधारण और मध्यम-साधारण। भरत ने स्वरसाधारण दो प्रकार का बताया है। एक के द्वारा अन्तर और काकली प्राप्त होते हैं और दूसरे के द्वारा साधारण गान्धार और कैशिक निषाद। दूसरे को उसने 'कैशिक साधारण' भी कहा है। भरतोक्त पहले यानी अन्तर-साधारण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ग्रंथकार के अन्तर और काकली साधारण आते हैं जिनके द्वारा क्रम से अन्तर गान्धार और काकली निषाद प्राप्त होते हैं तथा कैशिक साधारण की प्रक्रिया में षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण जिनसे क्रंमशः कैशिक निषाद और साधारण गांधार की प्राप्ति होती है। 'अन्तर साधारण', 'कैशिक साधारण', 'कैशिक' निषाद और 'साधारण' गान्धार शब्दों पर अगले श्लोकों की व्याख्या में प्रकाश डाला जायगा।

काकलिसाधारणम्

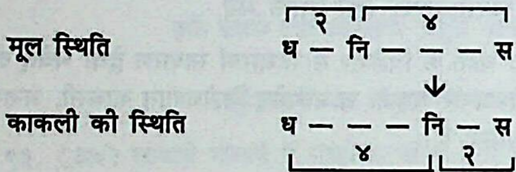
साधारणः काकली हि भवेत्षड्जनिषादयोः॥ २॥

साधारण्यमतस्तस्य यत्तत्साधारणं विदुः।

काकली साधारण

२ ग-३ ख. (अ०) हि क्योंकि षड्जनिषादयोः षड्ज और निषाद में काकली साधारणः भवेत् काकली साधारण होता है अतः इसलिये तस्य उस (काकली) का यत् जो साधारण्यं साधारण्य (होता है) तत् वह साधारणं साधारण (पद अर्थात् शब्द से) विदुः जाना जाता है।

(सर०) कल्लि० ने यह स्पष्ट किया है कि काकली ही विकृत हुआ चतुःश्रुतिक निषाद होता है इसलिये साधारण्य काकली का ही होता है। आशय यह है कि निषाद ही अपने स्थान से आगे बढ़ कर विकृत होता है इसलिये काकली संज्ञा निषाद की होती है, षड्ज की नहीं। हालाँकि इस नए स्वर में मूल निषाद और षड्ज दोनों की श्रुतियों का साधारण्य होता है लेकिन निषाद ही अपना स्थान छोड़ता है, षड्ज अपने स्थान पर ही बना रहता है। वास्तव में निषाद न तो अपने स्थान पर रहता है और न षड्ज के स्थान पर पहुँचता है बल्कि दोनों के 'अन्तर' में रहता है इसलिये काकली ही इन दोनों में साधारण होता है। इसकी स्थिति इस प्रकार होती है—



कल्लि० के अनुसार श्लोक में प्रयुक्त 'साधारणं' का अर्थ है साधारण का भाव।

भरत ने 'कलत्व' के कारण 'काकली' संज्ञा की सार्थकता दिखाई है—*'कलत्वाच्च काकलीसंज्ञो भवति'* (ना० शा०, २८, पृ० ३२)। अभिनवगुप्त ने 'कलत्व' का अर्थ 'तीव्रभाव' किया है (वही, अभि०, पृ० ३५) और 'काकलीत्व' का अर्थ 'तीव्रतरत्व' (वही, पृ० ३२)। इसलिये जिस निषाद में तीव्रता है वह काकली संज्ञा प्राप्त करता है।

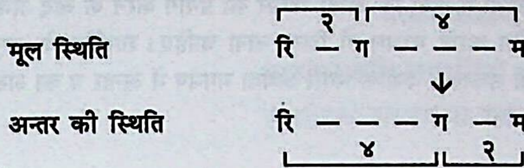
अन्तरसाधारणम्

अन्तरस्यापि गमयोरेवं साधारणं मतम्॥ ३॥

अन्तर साधारण

३ ग-घ. (अ०) अन्तरस्य-अपि अन्तर (गान्धार) का भी ग-मयोः ग और म में एवं इसी प्रकार साधारणं मतं साधारण माना गया है।

(सर०) काकली की ही तरह अन्तर गान्धार भी दो स्वरों—गान्धार और मध्यम—में साधारण होता है क्योंकि यह भी गान्धार की दो श्रुतियाँ रखते हुए मध्यम की दो श्रुतियाँ भी ले लेता है। अन्तर गांधार की स्थिति इस प्रकार होती है—



काकल्यन्तरप्रयोगविधिः

प्रयोज्यौ षड्जमुच्चार्य काकलीधैवतौ क्रमात्।
एवं मध्यममुच्चार्य प्रयुञ्जीतान्तरर्षभौ॥ ४॥

षड्जकाकलिनौ यद्वोच्चार्य षड्जं पुनर्व्रजेत्।
तत्परान्यतमं चैव मध्यमं चान्तरस्वरम्॥ ५॥

प्रयुज्य मध्यमो ग्राह्यस्तत्परान्यतमोऽथ वा।
अल्पप्रयोगः सर्वत्र काकली चान्तरः स्वरः॥ ६॥

काकली-अन्तर के प्रयोग की विधि

४-६. (अ०) षड्जम् उच्चार्य षड्ज का उच्चारण करके क्रमात् क्रम से काकलीधैवतौ काकली (निषाद) और धैवत का प्रयोज्यौ प्रयोग करना चाहिये। एवं इसी प्रकार मध्यमम् उच्चार्य मध्यम का उच्चारण करके अन्तर-ऋषभौ प्रयुञ्जीत अन्तर (गान्धार) और ऋषभ का प्रयोग करना चाहिये। यद्-वा अथवा षड्जकाकलिनौ उच्चार्य षड्ज और काकली को उच्चार कर पुनः फिर से षड्जं षड्ज को (पर) व्रजेत् जाना चाहिये। तत् उस (षड्ज) से पर पर (निकटतम स्थित) अन्यतमं में से किसी एक (स्वर) का (उच्चारण करना चाहिए)। एवं च और इसी प्रकार मध्यमं च मध्यम (के बाद) भी अन्तरस्वरं प्रयुज्य अन्तर स्वर का प्रयोग करके मध्यमं ग्राह्यः मध्यम का ग्रहण करना चाहिए। अथ वा अथवा तत् पर-अन्यतमः उसके बाद का कोई स्वर (प्रयुक्त करना चाहिए)। काकली अन्तरः च स्वरः काकली और अन्तर स्वर सर्वत्रः सर्वत्र अल्पप्रयोगः अल्प प्रयोग (वाले होते हैं)।

(सर०) यद्यपि काकली और अन्तर साधारण के बाद षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण क्रम प्राप्त हैं इसलिये काकली और अन्तर के लक्षण के बाद इनका निरूपण किया जाना चाहिए। लेकिन ग्रंथकार ने क्रम का उल्लंघन करके काकली और अन्तर स्वरों के प्रयोग की विधि का निरूपण किया है, यह कल्लि० ने कहा है।

इन स्वरों का हमेशा अल्प प्रयोग कहा गया है। यह अल्पत्व किस तरह रखा जाय इसी को ग्रंथकार ने यहाँ बताया है। इस विधि के अनुसार काकली के प्रयोग में या तो सनिध या सनिस—इस प्रकार संचार किया जाना चाहिए।

सिंह० ने 'तत्परान्यतमं' में 'पर' को बहुवचन प्रयोग मान कर यह अर्थ किया है कि षड्ज से परे जो रिगमपध हैं और मध्यम से परे जो पधनिसरिग हैं उनमें से किसी एक का प्रयोग करना चाहिए। कल्लि० ने 'पर' का यह अर्थ किया है कि अगर स के बाद का स्वर लुप्त हो तो लुप्त स्वर के बाद वाले स्वर का प्रयोग होना चाहिए। यानी अगर स के बाद वाला रि लुप्त हो और इसी तरह म के बाद वाला प लुप्त हो तो सनिस के बाद ग (सनिसग) और मगम के बाद ध (मगमध)—इस तरह प्रयोग होगा।

यह उल्लेखनीय है कि भरत ने अन्तर स्वरों का अल्पत्व और केवल आरोह में उनका प्रयोग कहा है, अवरोह में स्पष्टतः

निषेध किया है (ना० शा०, २८/३५-३६)। अभिनव ने इस पर टीका में कहा कि अन्तर गांधार का प्रयोग करने के बाद अवरोही ऋषभ का प्रयोग न किया जाय। मध्यम के बाद अन्तर का प्रयोग करके मध्यम ही लिया जाना चाहिए। शार्ङ्गदेव के अनुसार मगरि—इस प्रकार अवरोह क्रम में भी गान्धार का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि मगरि अथवा मगमप में अन्तर ग का अल्पत्व बना रहेगा।

षड्जसाधारणम्

निषग्दो यदि षड्जस्य श्रुतिमाद्यां समाश्रयेत्।
ऋषभस्त्वन्तिमां प्रोक्तं षड्जसाधारणं तदा॥ ७॥

षड्जसाधारण

७. (अ०) निषादः निषाद **यदि** यदि **षड्जस्य** षड्ज की **आद्यां श्रुतिं** पहली श्रुति को (और) **ऋषभः तु** ऋषभ तो (षड्ज की) **अन्तिमां** अन्तिम (श्रुति) को **समाश्रयेत्** समाश्रित करता है **तदा** तब **षड्जसाधारणं प्रोक्तं** षड्जसाधारण कहा गया है।

(सर०) काकली और अन्तर साधारण में क्रम से नि और ग षड्ज और मध्यम की दो-दो श्रुति लेकर अपने-अपने स्थान से आगे बढ़ कर विकृत होते हैं इसलिये वहाँ निषाद-गांधार का साधारणत्व माना गया। षड्जसाधारण में षड्ज अपने मूल स्थान से एक श्रुति नीचे उतर कर विकृत होता है और निषाद षड्ज की एक श्रुति लेकर आगे बढ़ कर विकृत होता है। इस प्रकार विकार दोनों में आता है फिर भी साधारण्य निषाद का नहीं षड्ज का माना गया है। कारण यह है कि काकलीसाधारण में साधारण्य निषाद का ही होता है क्योंकि जब वह अपना स्थान छोड़ता है तो उसी में निषाद और षड्ज की श्रुतियों का साधारण्य होता है। षड्ज-साधारण की प्रक्रिया में साधारण्य कुछ भिन्न रूप में देखा गया है। यहाँ षड्ज की श्रुतियों का ही साधारण्य होता है क्योंकि षड्ज की ही एक श्रुति निषाद के आश्रित होती है और एक श्रुति ऋषभ के। अभिनव ने इसे यह कह कर स्पष्ट किया है कि षड्ज ही निषाद और ऋषभ के 'उपजीवित' होकर सम्पन्न होता है इसीलिये 'षड्जसाधारण' कहा गया है। (ना० शा०, २८, अभि०, पृ० ३३-३४)।

अन्तर गान्धार और काकली निषाद में साधारणत्व की प्रक्रिया और परिणाम एक जैसे हैं तथा दोनों ही दो-दो स्वरों के 'अन्तर' में होते हैं इसलिये भरत ने इन दोनों को 'अन्तर स्वर' कहा है (ना० शा०, २८/३५)। अभिनव ने टीका में कहा कि 'अन्तरस्वर' शब्द में काकली का भी ग्रहण है (वही, २८/२६, अभि०, पृ० ३५)। इसी आधार पर हमने श्लोक १-२ ख की व्याख्या में अन्तर और काकली साधारणों के लिये अन्तरसाधारण संज्ञा का प्रयोग किया है।

षड्जसाधारण में स्वरों की स्थिति इस प्रकार होती है—

२ ४ ३
मूल स्थिति ध — नि — — — स — — रि
↓ ↓
षड्जसाधारण में षड्ज की स्थिति ध — — नि — स — — — रि
३ २ ४

काकली साधारण में केवल निषाद और षड्ज ही प्रभावित होते हैं लेकिन षड्जसाधारण में इनके अलावा ऋषभ भी प्रभावित होता है, यह ऊपर इन स्वरों की स्थिति देखने से प्रकट होता है।

मध्यमसाधारणं ग्रामनियमश्च

मध्यमस्यापि गपयोरेवं साधारणं मतम्।
साधारणं मध्यमस्य मध्यमग्रामगं ध्रुवम्॥ ८॥

मध्यमसाधारण और ग्रामनियम

८. (अ०) एवं इसी प्रकार मध्यमस्य-अपि मध्यम का भी ग-पयोः ग और प में साधारणं मतं साधारण माना गया है। मध्यमस्य साधारणं मध्यम का साधारण मध्यमग्रामगं ध्रुवं मध्यमग्राम में ध्रुव (अर्थात् मध्यमग्राम में ही होता है)।

(सर०) षड्जसाधारण में जो स्थिति षड्ज की होती है ठीक वही स्थिति मध्यमसाधारण में मध्यम की होती है। जैसे—

	२	४	३
मूल स्थिति	रि — ग	— — — म	— — प
		↓ ↓	
मध्यमसाधारण में मध्यम की स्थिति	रि — — ग	— म	— — — प
	३	२	४

मध्यमसाधारण मध्यमग्राम में ही होने का कारण यह है कि इसमें जब मध्यम एक श्रुति नीचे उतरता है तो मध्यमग्रामिक त्रिश्रुति पंचम मध्यम की एक श्रुति प्राप्त करके चतुःश्रुतिक बन जाता है। लेकिन षड्जग्राम में पंचम चार श्रुति का होने से अगर वहाँ मध्यमसाधारण किया जाय तो पंचम ५ श्रुति का हो जायगा। भरत की गान्धर्व परंपरा में किसी भी स्वर का अपना मूल अन्तराल चतुःश्रुति से ज्यादा नहीं होता।

अभिनव ने यह वताया कि मध्यम ही गान्धार और पंचम का उपजीव्य होता है इसीलिये मध्यम का ही साधारण होता है (ना० शा०, २८, अभि०, पृ. ३४)।

भरत ने षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण को किसी विशेष ग्राम से संबद्ध किया हो ऐसा ना० शा० के बड़ौदा संस्क० से प्रतीत नहीं होता लेकिन मध्यमसाधारण-संबंधी अभिनव की टीका से यह स्पष्ट है कि इससे प्राप्त अन्तरालों का प्रयोग मध्यमग्राम में ही संभव है। ना०शा० के भारतीय विद्या प्रकाशन संस्क० में (पृ० ४१७, १९८३ संस्क०) और चौखम्बा संस्क० में (पृ० ३२१, द्वितीय संस्क०) ऐसा पाठ है जिसमें षड्जग्राम में षड्जसाधारण और मध्यमग्राम में मध्यमसाधारण का विधान है। पाठ यों है—*'षड्जग्रामे षड्जसाधारणं मध्यमग्रामे मध्यमसाधारणं'*। यही अंश कल्लि० ने चतुर्विध मूर्च्छना की व्याख्या में भरत ने नाम से उद्धृत किया है (सं० र०, १/४/१५-१६, पृ० १०८, पं० १३-१४)।

ग्रंथकार के मध्यमग्राम में ही मध्यमसाधारण के प्रयोग संबंधी कथन पर सिंह० ने कहा कि इससे यह समझना चाहिए कि षड्जसाधारण का प्रयोग षड्जग्राम में ही होना चाहिए।

शार्ङ्गदेव ने कैशिकसाधारण से प्राप्त गांधार के लिए 'साधारण' और निषाद के लिये 'कैशिक' संज्ञा का प्रयोग किया है। जैसे अन्तर और काकली दोनों ही अन्तर स्वर हैं लेकिन व्यवहार की सुविधा के लिये दोनों को दो भिन्न नाम दिए गए उसी आधार पर शार्ङ्गदेव ने कैशिक साधारण से प्राप्त दोनों स्वरों को भी दो भिन्न नाम दिए।

साधारणयोः संज्ञान्तरम्

साधारणे कैशिके ते केशाग्रवदणुत्वतः।
ते एव कैश्चिदुच्येते ग्रामसाधारणे बुधैः॥ ९॥

षड्ज-मध्यमसाधारण की अन्य संज्ञा

९. (अ०) ते वे साधारणे दोनों (षड्ज और मध्यम) साधारण केशाग्रवत् केशाग्र (बाल की नोक) के समान अणुत्वतः अणुत्व (सूक्ष्म) होने के कारण कैशिके कैशिक (कहलाते हैं)। ते एव वे ही कैश्चित् बुधैः कुछ बुद्धिमानों के द्वारा ग्रामसाधारणे दो ग्रामसाधारण उच्येते कहे जाते हैं।

(सर०) भरत ने इन दोनों साधारणों में सूक्ष्म प्रयोग होने के कारण इन्हीं का दूसरा नाम कैशिक साधारण भी कहा है— *'अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात्कैशिकमिति द्वितीयं नाम निष्पद्यते'* (ना० शा०, २८, पृ० ३२)।

षड्ज और मध्यम साधारणों में क्रमशः निषाद एक श्रुति चढ़ता और षड्ज एक श्रुति उतरता है तथा गान्धार एक श्रुति चढ़ता और मध्यम एक श्रुति उतरता है। यह चढ़ना-उतरना चतुःश्रुति अन्तरालों में होता है। चतुःसारणा के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि चतुःश्रुति स्वरों की पहली और अन्तिम श्रुति का नाप केशाग्रवत् (प्रमाणश्रुति अथवा ५ सेवर्ट) होता है। उपर्युक्त दोनों साधारणों में भी स्वर इसी प्रमाण से चढ़ते-उतरते हैं। इसीलिये ग्रंथकार ने इस साधारण को 'कैशिकसाधारण' कहा है।

शार्ङ्गदेव ने अन्य मत में षड्ज और मध्यमसाधारण को ही ग्रामसाधारण कहने का उल्लेख किया है। अभिनव ने इस संदर्भ में मतंग आदि आचार्यों का उल्लेख किया है— *'एतदेव मतंगाचार्यादिभिर्ग्रामसाधारणमित्युक्तम्'* (वही, पृ० ३५, पृ० १०)। लेकिन बृह० के त्रिवेन्द्रम् संस्क० अथवा अन्य आचार्यों और टीकाकारों द्वारा बृह० के उद्धृत अंशों में इस आशय का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

कैशिकसाधारण से प्राप्त स्वरों को भरत परंपरा में स्थिर स्वरों के रूप में मान्यता नहीं है, यह विकृत स्वरों के प्रसंग में कहा जा चुका है। इनका प्रयोग विशेष संचारों में स्वाभाविक रूप से हो जाता था। वर्तमान लक्ष्य में भी इस तरह के प्रयोग होते हैं। भीमपलासी में म प नि् नि् (सा सा) संचार में जब कोमल नि को बार-बार सा का स्पर्श करते हुए लिया जाता है तो नि थोड़ा चढ़ जाता है और सा उतरा हुआ लगता है। स्थूल मान से यह चढ़ना-उतरना कैशिक जैसा ही होता है। लेकिन ये स्वर विशेष संचारों में ही प्रयुक्त होते हैं, सर्वत्र या स्थिर स्वर के रूप में नहीं।

जातिसाधारणम्

एकग्रामोद्भवास्वेकांशासु जातिषु यद्भवेत्।
समानं गानमार्यास्तज्जातिसाधारणं जगुः॥ १०॥
जातिसाधारणं केचिद्रागानेव प्रचक्षते।

इति प्रथमे स्वरगताध्याये पञ्चमं साधारणप्रकरणम्॥ ५॥

जातिसाधारण

१०-११ ख. (अ०) एकग्राम-उद्भवासु एक ग्राम से उत्पन्न होने वाली एक-अंशासु जातिषु एक (से यानी समान) अंश वाली जातियों में यत् जो समानं गानं समान गान भवेत् होता है तत् उसे आर्याः आर्य लोग जातिसाधारणं जातिसाधारण जगुः कहते हैं। केचित् कुछ लोग रागान् एव रागों को ही जातिसाधारणं प्रचक्षते जातिसाधारण कहते हैं।

(सर०) एक ही ग्राम से उत्पन्न समान अंश वाली जातियों में कुछ समानता होती है जिसे ग्रंथकार ने जातिसाधारण कहा है। कल्लि० ने इसे 'वर्णसाम्य' कह कर समझाया है। 'वर्ण' यानी स्थायी, आरोही आदि, इसलिये उसका अभिप्राय स्वरसंचारों या स्वर-सन्निवेशों की समानता से है। आज की भाषा में यह कह सकते हैं कि अनेक रागों में कुछ 'टुकड़े' या स्वरसंचार एक से होते हैं; जैसे, कानड़ा अंग के सभी रागों में ग़्मरेसा अथवा तोड़ी अंग के रागों में रे॒ ग॒ रे॒ सा। जातियों में इसी तरह का प्रयोग जातिसाधारण समझा जा सकता है।

जातियों से उत्पन्न रागों के मिश्रण से बनने वाले रागों को अन्य मत से जातिसाधारण कहा गया है क्योंकि उनमें जातियों की समानता रहती है। सिंह० ने उदाहरणस्वरूप शुद्धकैशिकमध्यम आदि को जातिसाधारण कहा है।

प्रथम स्वरगताध्याय में साधारण नामक पाँचवाँ प्रकरण समाप्त॥ ५॥

अथ षष्ठं वर्णालङ्कारप्रकरणम्

छठा वर्ण-अलंकार प्रकरण

वर्णस्य लक्षणं भेदाश्च

गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः।
स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारीत्यथ लक्षणम्॥ १॥

वर्ण का लक्षण और भेद

१. (अ०) गानक्रिया गानक्रिया वर्णः उच्यते वर्ण कही जाती है। सः वह (वर्ण) चतुर्धा चार प्रकार का निरूपितः निरूपित है। स्थायी-आरोही-अवरोही-संचारी च इति स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी ये (चार वर्ण हैं)। अथ अब लक्षणं (इनके) लक्षण (कहेंगे)।

(सर०) रँगना, वर्णन करना अर्थ वाली 'वर्ण' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'वर्णः' शब्द बनता है। तदनुरूप संगीत में वर्ण के रूप में होने वाली स्वर की क्रिया चित्त को रँगती भी है और वर्णन यानी विस्तार भी करती है।

वर्ण के संदर्भ में भरत का वर्णलक्षण इस प्रकार है—

पदं लक्षणसंयुक्तं यदा वर्णोऽनुकर्षति।
तदा वर्णस्य निष्पत्तिर्ज्ञेया वर्णसमुद्भवा॥ (ना०शा०, २९/१८)

लक्षणयुक्त (अर्थात् सुप्-तिङ् प्रत्यय से युक्त) पद (यानी शब्द) को जब वर्ण (स्थायी आदि) कर्षित करता है (खींचता है) तब उस वर्ण की स्वर से उद्भूत निष्पत्ति होती है। यहाँ वर्ण की सिद्धि के लिये पद यानी शब्द का ग्रहण किया गया है। गानक्रिया में स्वरों की आवृत्ति, चढ़ना, उतरना आदि निरन्तर चलता रहता है। लेकिन कितनी अवधि तक इनमें से कौन-सी क्रिया समझी जाय अर्थात् कहाँ से कहाँ तक कौन-सा वर्ण है इसका बोध भरत की दृष्टि में पद ही कराता है। किसी एक पद में स्वरों का जिस तरह का प्रयोग हो उसके आधार पर वर्ण का निश्चय होता है। इन क्रियाओं में स्वरों के द्वारा पद ही खींचा जाता है। इसलिये पद को वर्ण का आधार मान कर 'पदं वर्णोऽनुकर्षति' कहा गया है।

'वर्ण' की व्याख्या करते हुए अभिनव ने कहा—'*क्रियाविस्तारवाची वर्णशब्दः*' (वही, पृ० ७९, पं० २५) अर्थात् वर्ण शब्द क्रिया के विस्तार का वाचक है। यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्वर तो ७ ही हैं और उन्हीं के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों के द्वारा संगीत का समूचा विस्तार बनता है। लेकिन नाट्य से संबद्ध गीतक और ध्रुवा दोनों में पद अनिवार्य होने के कारण अभिनव ने पद से संयुक्त गीति (गानक्रिया) को ही वर्ण कहा—'*पदाश्रया गीतिर्वर्ण इत्युक्तम्*' (वही, पृ० ९२, पं० १६-१७)। इस प्रकार पद को ही स्पष्ट रूप से वर्णबोध की इकाई माना गया।

वर्तमान भाषा में गीति को 'धुन' समझ सकते हैं। स्वरों के स्थिर अथवा आवृत्तिरूप, आरोही, अवरोही या मिश्र प्रयोग यानी विभिन्न वर्णों के द्वारा ही धुन बनती है और वर्णों के बिना स्वरों का विस्तार संभव ही नहीं है। इसीलिये अभिनव ने गीति और वर्ण को पर्याय कहा है—'*गी(ति)वर्ण इति च पर्यायौ*' (वही, पृ० ८५, पं० १६-१७)।

शार्ङ्गदेव ने वर्णलक्षण में केवल गानक्रिया को वर्ण कहा है, उसे पद से नहीं जोड़ा क्योंकि नाट्य से स्वतंत्र संगीत में पद का वैसा स्थान नहीं है जैसा नाट्य से संबद्ध संगीत में। स्वरोत्पत्ति मूलतः कंठ से होती है इसलिये 'गानक्रिया' कहा गया है। गान का मुख्य तत्त्व स्वर है इसलिये गानक्रिया व्यापक रूप से स्वर पक्ष की सूचक है। स्वरोत्पत्ति का माध्यम कंठ के अलावा वाद्य भी है इसलिये वर्ण के द्वारा केवल गान में होने वाली स्वरक्रिया का ही नहीं बल्कि वाद्य के स्वरप्रयोग का भी ग्रहण किया जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वर्णलक्षण में गानक्रिया का अर्थ गान और वादन दोनों की स्वर की क्रिया समझना चाहिए।

वर्णबोध की इकाई भरत की दृष्टि में स्पष्टतः पद है लेकिन शार्ङ्गदेव के वर्णलक्षण में पद का उल्लेख न होने से यह प्रश्न उठता है कि अगर पद न हो तो वर्ण का बोध कैसे हो? जैसे, आलाप, 'सरगम' अथवा वाद्य में? कल्लि० ने यह कहा है कि जिस गानक्रिया में जिस वर्ण का बाहुल्य दिखाई दे उसके अनुसार वर्ण समझना चाहिए। लेकिन धुन अथवा राग में, जहाँ स्वरप्रयोग लगातार आगे बढ़ता जाता है वहाँ, कितने अंश को एक इकाई मान कर वर्ण का निर्धारण किया जाय, यह प्रश्न बना ही रहता है। उदाहरण के लिये—नि नि नि रे ग म् रे-ग रे नि ग-रे नि रे सा-—इस पूरे सन्निवेश को एक इकाई मान कर संचारी वर्ण कहा जाय या छोटे खण्ड बना कर उन्हें अलग-अलग इकाई मान कर वर्ण का निर्धारण किया जाय? अगर छोटे खण्ड बनाए जायँ तो कहाँ से कहाँ तक बनाए जायँ और उनके लिये तर्कसम्मत आधार क्या हो? शार्ङ्गदेव के वर्ण निरूपण और उस पर टीकाकारों की व्याख्याओं में ये प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं।

स्थित्वा स्थित्वा प्रयोगः स्यादेकस्यैव स्वरस्य यः।
स्थायी वर्णः स विज्ञेयः परावन्वर्थनामकौ॥ २॥

२. (अ०) **यः** जो **एकस्य-एव स्वरस्य** एक ही स्वर का **स्थित्वा स्थित्वा** स्थित हो-होकर **प्रयोगः स्यात्** प्रयोग होता है **सः** वह **स्थायी वर्णः विज्ञेयः** स्थायी वर्ण जाना जाता है। **परौ** अन्य दो (अर्थात् आरोही और अवरोही) **अन्वर्थनामकौ** अन्वर्थ नाम वाले हैं।

(सर०) सामान्य रूप से एक ही स्वर का बार-बार प्रयोग हो तो स्थायी वर्ण होता है, जैसे—स स स। स्वरों का आरोह हो यानी नीचे से ऊपर की ओर स्वरों की गति हो तो आरोही वर्ण होता है, जैसे—रि ग प ध नि। इसके विपरीत स्वरों का अवरोह हो यानी स्वर ऊपर से नीचे की ओर प्रयुक्त हों तो अवरोही वर्ण होता है, जैसे—ध प ग रि स।

भरत ने स्थायी वर्ण के लिये कहा 'स्थिराः स्वराः समाः यत्र' (ना० शा०, २९/१६) अर्थात् जहाँ स्थिर और सम स्वर हों। अभिनव ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि सम का अर्थ 'तुल्यजातीय' है अर्थात् 'मन्द्र-मध्य-तार रूप से उसी स्वर का प्रयोग' (वही)। इसमें स्वरों को तोड़-तोड़ कर यानी उसी स्वर का बार-बार प्रयोग करना अपेक्षित है, बिना तोड़े लम्बा-लम्बा नहीं जैसे घण्टे का अनुरणन (वही, पृ० ८०; पं १५-१७)। साथ ही अभिनव ने 'एकस्वरमात्रावस्थानेन' भी कहा (वही, पृ० ७९, पं० २६) यानी एक ही स्वर पर अवस्थित होने से स्थायी वर्ण होता है।

अलंकारों के संदर्भ में 'प्रसन्न' संज्ञा पर अभिनव ने यह कहा कि आरंभ और अन्त एक ही स्वर से होने और बीच में अन्य स्वरों का प्रवेश होने पर भी बुद्धि से स्थायी वर्ण का बाध नहीं होता, बोध बना रहता है (वही, पृ० ८२, पं० २२-२३)। इस दृष्टि से स प ध नि स जैसा अलंकार भी स्थायी वर्ण का माना जायगा।

मतंग ने स्थायी का लक्षण 'स्थायित्व' ही किया है (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० ६७)। उसने अलंकारों का वर्णों में विभाजन

नहीं किया लेकिन प्रसन्नादि अलंकार, जो भरत, शार्ङ्गदेव के अनुसार स्थायी वर्ण में है, का यह प्रस्तार दिया है—सा री गा मा पा धा नी सा और मन्द्र (नीचे) से शुरू करके क्रम से तार (ऊपर की ओर) गति होना उसका लक्षण दिया है। यहाँ आरंभ और अंत सा से होने के कारण ही इसे स्थायी वर्ण के अन्तर्गत रखा गया है।

इस प्रकार स्थित होकर प्रयोग करने का अर्थ है कि या तो किसी एक स्वर की अपने ही स्थान पर बार-बार आवृत्ति हो, जैसे—स स स अथवा उसी स्वर का भिन्न स्थानों में प्रयोग हो, जैसे—स स सं, सं सं स अथवा अलंकार के शुरू और अन्त में वही स्वर हो और बीच में अन्य स्वर रहें, जैसे—स ग म म स।

शार्ङ्गदेव के स्थायी वर्ण के अलंकारों के प्रस्तारों को देखने से यह प्रकट होता है कि उसके ये अलंकार अन्तिम दो दृष्टियों से स्थायी वर्ण में आते हैं।

एतत्सम्मिश्रणाद्वर्णः संचारी परिकीर्तितः।

३ क-ख. (अ०) एतत् संमिश्रणात् इनके संमिश्रण से **संचारी वर्णः परिकीर्तितः** संचारी वर्ण कहा गया है।

(सर०) स्थायी, आरोही, अवरोही वर्णों का मिश्रण होने पर संचारी होता है। मिश्रण का अर्थ है कि कहीं स्वरों का स्थिर प्रयोग हो, कहीं आरोह और कहीं अवरोह हो और उस सारी क्रिया का एक मिश्रक्रिया के रूप में बोध हो। जैसे—नि ध प प प म म प ध म ग रि स। इस प्रकार के प्रयोग में जितने अंश में स्वरों का स्थिर, आरोह या अवरोह रूप दिखाई दे उतने-उतने अंश में उस-उस वर्ण का मिश्रण समझना चाहिए।

हालाँकि यह कहा नहीं गया है कि दो वर्णों के मिश्रण से भी संचारी वर्ण होता है लेकिन संचारी वर्ण के अलंकारों के प्रस्तारों से यह समझा जा सकता है कि केवल दो वर्णों के मिश्रण से भी संचारी वर्ण ही माना जाता है।

संचारी वर्ण पर मतंग के कथन से प्रतीत होता है कि किसी स्वरसंचार के अन्तिम एक या दो स्वरों को फिर से लेते हुए संचरण हो तो भी संचारी वर्ण होता है (बृह०, श्लो० ११९)। थोड़े से परिवर्तन से सिंह० ने संबद्ध श्लोक उद्धृत किया है।

भरत ने वर्ण अथवा अलंकारों के प्रस्तार नहीं दिए हैं। अभिनव ने अलंकारों में कहीं-कहीं प्रस्तार दिए हैं। मतंग ने वर्णों के उदाहरणस्वरूप कुछ स्वर प्रस्तार दिए हैं।

गान-वादन में स्वरों की सारी क्रियाएँ चार वर्णों में समाविष्ट हो जाती हैं, इनसे बाहर कोई स्वरक्रिया संभव नहीं है। इसीलिये वर्ण चार ही कहे गए। वर्ण का यह सिद्धान्त या धारणा किसी भी देश और किसी भी काल के संगीत के लिये प्रासंगिक है।

अलङ्काररलक्षणम्

विशिष्टं वर्णसंदर्भमलङ्कारं प्रचक्षते॥ ३॥

अलंकार लक्षण

३ ग-घ. (अ०) विशिष्टं वर्णसंदर्भं विशिष्ट वर्ण संदर्भ को **अलङ्कारं प्रचक्षते** अलंकार कहा जाता है।

(सर०) 'करना' अर्थ वाली 'कृ' धातु से 'अलम्' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'अलङ्कारः' शब्द बनता है जिसका संदर्भ प्राप्त अर्थ है 'आभूषित करने वाला'। 'अलङ्करोतीति अलङ्कारः' के अनुसार भी अलंकरण करता है इसलिये अलंकार कहा जाता है।

शार्ङ्गदेव ने अलंकारों का निरूपण वर्णों पर आधारित केवल विशिष्ट स्वरसंदर्भों यानी स्वरक्रमों के रूप में किया है। अलंकार-लक्षणों और प्रस्तारों में कहीं भी तीव्रता आदि के संकेत नहीं हैं। स्वराश्रित गीति में रंजकता का विशेष रूप से आधान

करने वाले तत्त्व गमक, स्थाय आदि हैं जो तारता के साथ-साथ तीव्रता, काकु, काल, विशेष गुण और समग्र प्रभाव आदि से भी संबंधित हैं जिनका निरूपण शार्ङ्गदेव ने अलग से तीसरे अध्याय में किया है।

भरत ने अलंकारों को वर्णों के आश्रित कहा है क्योंकि अलंकार वर्ण यानी गीति को अलंकृत करते हैं। यद्यपि ना० शा० में अलंकार का लक्षण नहीं है लेकिन ध्रुवाओं (सार्थक पदयुक्त छन्दोबद्ध गीत जो नाट्य की विभिन्न-विशिष्ट स्थितियों में गाए जाते थे) में उन अलंकारों के प्रयोग का निषेध किया है जिनमें ज्यादा कर्षण होने के कारण अर्थबोध बाधित होता है क्योंकि ध्रुवा का प्रयोग अर्थबोध और भावसम्प्रेषण के लिये किया जाता है। लेकिन जिन अलंकारों का ध्रुवा में निषेध है उनका प्रयोग गीतकों (नाट्य शुरू होने से पहले देवस्तुति के प्रयोजन से किए जाने वाले 'पूर्वरंग' में गाए जाने वाले गीत) में करने की छूट है क्योंकि उनमें सार्थक पद होते हुए भी अर्थसम्प्रेषण मुख्य प्रयोजन नहीं है। इससे यह कहा जा सकता है कि हालाँकि भरत या अभिनव ने स्पष्ट रूप से पद को अलंकार्य (जिसका अलंकरण किया जाय) नहीं कहा फिर भी ध्रुवा के अन्तर्गत अलंकार जिस गीति को अलंकृत करने के लिये प्रयुक्त होते हैं वह गीति पद के अर्थ-भाव के संप्रेषण और रसानुभूति के लिये है इसलिये पद को अलंकार्य कहा जा सकता है। अभिनव द्वारा पदाश्रित गीति को वर्ण कहने में यह संकेत प्रतीत होता है (अभि०, २८, पृ० ९२, पं० १६-१७)।

भरत के अलंकार-निरूपण से यह भी प्रतीत होता है कि उसके अलंकार केवल वर्णसंदर्भ नहीं हैं बल्कि स्वर के उन प्रयोगों को भी समेटते हैं जो गीति को पूर्ण बनाते हैं, लक्षण की तरह गीति के सहजात होकर या अलग से पहनाए गए आभूषणों की तरह। दोनों ही रूपों में वे गीति में परिपूर्णता लाते हैं। अभिनव के अनुसार 'अलङ्कार' शब्द में 'अलं' पर्याप्ति का सूचक है इसलिये गीति में जो परिपूर्णता लाते हैं वे अलंकार हैं। (द्रष्टव्य परिशिष्ट-ङ)

संगीतरत्नाकर नाट्य से स्वतंत्र संगीत का ग्रन्थ है इसलिये वर्ण और उसके आश्रित अलंकारों को इसमें संगीत के प्रमुख तत्त्व स्वर के रूप में ही निरूपित किया गया है, सार्थक पद से संयुक्त करना आवश्यक नहीं समझा गया क्योंकि सार्थक या निरर्थक पद से रहित प्रयोग यानी विशुद्ध वाद्य (वादन) को भी संगीत अन्तर्भूत करता है।

अलङ्कारभेदाः, तत्र स्थायिवर्णगतालङ्काराः

तस्य भेदास्तु बहवस्तत्र स्थायिगतान्ब्रुवे।
येषामाद्यन्तयोरेकः स्वरस्ते स्थायिवर्णगाः॥ ४॥

अलंकार के भेद
स्थायी वर्ण के अलंकार

४. (अ०) तस्य उस (अलंकार) के भेदाः-तु भेद तो बहवः बहुत (होते हैं)। तत्र उनमें से स्थायिगतान् स्थायी (वर्ण) गत (अलंकारों) को ब्रुवे कहता हूँ। येषां जिनके आदि-अन्तयोः आदि (शुरू) और अन्त के (ये दो) स्वरः स्वर एकः एक (हों) ते वे स्थायिवर्णगाः स्थायी वर्ण में रहने वाले (अलंकार कहलाते हैं)।

(सर०) स्थायी वर्ण के अलंकारों में प्रथम और अन्तिम स्वर एक ही होना—यह लक्षण स्थायी वर्ण के तीन अलंकारों—क्रमरेचित, प्रस्तार और प्रसाद—में है, यह इन अलंकारों के प्रस्तारों को देखने से स्पष्ट होगा। शेष चार में एक ही स्वर का भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रयोग है।

प्रसन्नादिः प्रसन्नान्तः प्रसन्नाद्यन्तसंज्ञकः।
ततः प्रसन्नमध्यः स्यात्पञ्चमः क्रमरेचितः॥ ५॥

प्रस्तारोऽथ प्रसादः स्यात्सप्तैते स्थायिनि स्थिताः।

५-६ ख. (अ०) प्रसन्नादिः (१) प्रसन्नादि, प्रसन्नान्तः (२) प्रसन्नान्त, प्रसन्न-आदि-अन्तसंज्ञकः (३) प्रसन्न-आदि-अन्त (प्रसन्नाद्यन्त) संज्ञा वाला, ततः उसके बाद प्रसन्नमध्यः (४) प्रसन्नमध्य स्यात् होता है। पञ्चमः पाँचवाँ क्रमरेचितः (५) क्रमरेचित, प्रस्तारः (६) प्रस्तार अथ इसके बाद प्रसादः (७) प्रसाद स्यात् होता है। एते ये सप्त सात स्थायिनि स्थायी (वर्ण) में स्थिताः स्थित हैं।

मन्द्रतारलक्षणम्

मन्द्रः प्रकरणेऽत्र स्यान्मूर्च्छनाप्रथमः स्वरः॥ ६॥
स एव द्विगुणस्तारः पूर्वः पूर्वोऽथ वा भवेत्।
मन्द्रः परस्ततस्तारः,

मन्द्रतार लक्षण

६ ग-७ ग. (अ०) अत्र प्रकरणे इस (अलंकार) प्रकरण में मूर्च्छनाप्रथमः स्वरः मूर्च्छना का प्रथम स्वर मन्द्रः स्यात् मन्द्र होता है। स एव वही द्विगुणः दुगना (होने पर) तारः तार (कहलाता है)। अथ वा अथवा पूर्वः पूर्वः पूर्व-पूर्व (अर्थात् पहले-पहले का) मन्द्रः भवेत् मन्द्र होता है। ततः परः उससे बाद (का) तारः तार (स्वर कहलाता है)।

(सर०) अलंकारों के लक्षण निरूपण में 'मन्द्र' और 'तार' संज्ञाओं का प्रयोग किया जाने वाला है। इसलिये यहाँ अलंकार के संदर्भ में दोनों की परिभाषा दी है। यों तो मन्द्र और तार पारिभाषिक शब्द हैं। मन्द्र-मध्य-तार स्थानों की चर्चा तीसरे प्रकरण के ७वें श्लोक में की जा चुकी है जिसके अनुसार इन स्थानों के स्वर क्रमशः दुगने-दुगने ऊँचे होते हैं। इस क्रम में तार स्वर मन्द्र की अपेक्षा चौगुने ऊँचे होते हैं। यहाँ मन्द्र और तार—इन दो संज्ञाओं का ही प्रयोग है और ये क्रमशः एक से दूसरा दुगने ऊँचे का सूचक है अथवा जैसा सिंह० ने स्पष्ट किया प्रथम स्वर मन्द्र कहलाता है वह चाहे मन्द्रस्थान में हो अथवा मध्यस्थान में। बाद वाला स्वर तार कहलाता है। इस प्रकार मध्य की अपेक्षा के बिना ही मन्द्र और तार परस्पर संबद्ध हैं। शास्त्रग्रंथों में एक ही पारिभाषिक शब्द कभी व्यापक अर्थ में और कभी सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है। अलंकार के संदर्भ में मन्द्र-तार शब्द मन्द्र-मध्य-तार के त्रिक के मन्द्र-तार की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं।

प्रसन्नो मृदुरित्यपि॥ ७॥
मन्द्रस्तारस्तु दीप्तः स्यात्,

७ घ-८ क. (अ०) प्रसन्नः मृदुः अपि इति प्रसन्न (और) मृदु इस प्रकार (अर्थात् इन संज्ञाओं के द्वारा) भी मन्द्रः मन्द्र (कहा जाता है)। तारः तु तार तो दीप्तः दीप्त (संज्ञा वाला) स्यात् होता है।

(सर०) 'मन्द्र' के दो पर्याय हैं—प्रसन्न और मृदु। 'तार' का पर्याय 'दीप्त' है।

मन्द्रो बिन्दुशिरा भवेत्।
ऊर्ध्वरेखाशिरास्तारो लिपौ त्रिर्वचनात्प्लुतः॥ ८॥

८ ख-घ. (अ०) लिपौ लिपि में मन्द्रः मन्द्र बिन्दुशिरा सिर पर बिन्दु (के चिह्न) वाला भवेत् होता है (तथा) तारः तार ऊर्ध्वरेखाशिरा सिर पर ऊर्ध्व (खड़ी) रेखा वाला (होता है)। त्रिर्वचनात् (स्वर) तीन बार कहने से (अर्थात् स्वर के बाद ३ का अंक लिखने) से प्लुतः प्लुत (होता है)।

(सर०) अलंकारों के प्रस्तारों की दृष्टि से मन्द्र-तार के लिये लिपि में प्रयुक्त होने वाले चिन्हों का यहाँ परिचय दिया

है। सं—इस प्रकार स्वर के ऊपर बिन्दु होने पर मन्द्र और सं—इस प्रकार ऊपर खड़ी रेखा होने से तार का सूचन होता है। प्लुत का ग्रहण वैदिक छंद-शास्त्र से किया गया है जहाँ ह्रस्व अक्षर के उच्चारण काल से तीन गुना काल अक्षर के उच्चारण में लगने पर उसे प्लुत कहा जाता है। लेकिन उतने काल में एक ही क्रिया होती है। प्लुत का चिह्न ३ का अंक है जो स्वर के बाद लिखा जाता है।

सिंह० ने 'त्रिर्वचनात्' का अर्थ 'त्रिरुच्चारणीयः' किया है जिसका अर्थ है 'तीन बार उच्चारण करने योग्य'। यह अर्थ सही नहीं है क्योंकि छन्द और ताल दोनों में प्लुत मूल इकाई लघु के काल की अपेक्षा तीनगुने काल की एक इकाई का ही सूचक माना गया है।

इस बारे में आगे 'बिन्दु' अलंकार (श्लो० १८ ग-१९ ख) में भी कहा जाने वाला है जहाँ इस अलंकार में प्लुत का प्रयोग है और उसके चिन्ह ३ के अंक के द्वारा प्रस्तार दिया गया है। यह जानने योग्य है कि ताल में प्लुत का चिन्ह ऽ́ होता है जबकि अलंकार में उसका चिन्ह ३ का अंक है।

स्थायिवर्णगतालङ्कारनिरूपणम्

१. प्रसन्नादिः

मन्द्रद्वयात्परे तारे प्रसन्नादिरुदीरितः।
सं सं सं।(१)

स्थायी वर्ण के अलंकारों का निरूपण

१. प्रसन्नादि

९ क-ख. (अ०) मन्द्र-द्वयात् परे दो मन्द्र (स्वरों) से परे (बाद में) तारे (एक) तार (स्वर) होने पर प्रसन्नादिः प्रसन्नादि (नामक अलंकार) उदीरितः कहा गया है।

सं सं सं। (१)

(सर०) शुरू में दो मन्द्र और बाद में एक तार स्वर होने पर प्रसन्नादि अलंकार कहलाता है। 'प्रसन्नादि' शब्द का अर्थ है प्रसन्न, यानी मन्द्रस्वर जिसके शुरू में है।

२. प्रसन्नान्त

तद्वैलोम्ये प्रसन्नान्तः
सं सं सं।(२)

२. प्रसन्नान्त

९ ग. (अ०) तत् उससे वैलोम्ये विलोम (उल्टा) होने पर प्रसन्नान्तः प्रसन्नान्त (नामक अलंकार होता है)।

सं सं सं। (२)

(सर०) 'प्रसन्नान्त' का अर्थ है मन्द्र स्वर जिसके अन्त में है।

३. प्रसन्नाद्यन्तः

प्रसन्नद्वयमध्यगे॥ ९॥
दीप्ते प्रसन्नाद्यन्तः स्यात्,
सं सं सं। (३)

३. प्रसन्नाद्यन्त

९ घ-१० क. (अ०) प्रसन्नद्वयमध्यगे दो मन्द्र (स्वरों) के बीच में दीप्ते एक तार (स्वर) होने पर प्रसन्नाद्यन्तः प्रसन्नाद्यन्त (नामक अलंकार) स्यात् होता है।

सं सं सं। (३)

(सर०) 'प्रसन्नाद्यन्त' का अर्थ है जिसके शुरू और अन्त में प्रसन्न (मन्द्र) है। स्पष्ट है कि बीच में तार स्वर है।

४. प्रसन्नमध्यः

तारयोर्मध्यगे पुनः।
मन्द्रे प्रसन्नमध्याख्यमलङ्कारं विदो विदुः॥ १०॥
सं सं सं। (४)

४. प्रसन्नमध्य

१० ख-घ. (अ०) पुनः फिर तारयोः दो तार (स्वरों) के मध्यगे मध्य में मन्द्रे (एक) मन्द्र (स्वर) होने पर विदः विद्वान् प्रसन्नमध्य-आख्यं प्रसन्नमध्य नामक अलङ्कारं विदुः अलंकार जानते हैं।

सं सं सं । (४)

(सर०) 'प्रसन्नमध्य' का अर्थ है जिसके मध्य में मन्द्र स्वर है अर्थात् दोनों ओर तार स्वर और बीच में मन्द्र स्वर है।

५. क्रमरेचितः

आद्यन्तयोर्मूर्च्छनाऽऽदिश्चेत्स्वरोऽन्तर्द्वितीयकः।
सैका कलाऽथ चेन्मध्ये स्तस्तृतीयचतुर्थकौ॥ ११॥
सा द्वितीया पञ्चमाद्यास्त्रयोऽन्तश्चेत्कला परा।
एवं कलात्रयेणोक्तोऽलङ्कारः क्रमरेचितः॥ १२॥

संरिसं संगमसं संपधनिसं। (५)

५. क्रमरेचित

११-१२. (अ०) आदि-अन्तयोः आदि और अन्त में मूर्च्छना(याः) मूर्च्छना का आदिः स्वरः प्रथम स्वर चेत् हो (तथा) अन्तः बीच में (मूर्च्छना का) द्वितीयकः दूसरा (स्वर हो), सा वह (ऐसी) एका कला चेत् एक कला हो। अथ इसके बाद मध्ये बीच में (मूर्च्छना के) तृतीय-चतुर्थकौ तीसरे और चौथे (स्वर) स्तः होते हैं। सा वह द्वितीया दूसरी (कला हो)। परा

बाद वाली अन्तः कला अन्तिम कला पञ्चम-आद्या त्रयः पंचम से शुरू करके तीन (स्वरों—प ध नि वाली) चेत् हो। एवं इस प्रकार कलात्रयेण तीन कलाओं से क्रमरेचितः अलङ्कारः क्रमरेचित अलंकार उक्तः कहा गया है।

संरिसं संगमसं संपधनिसं। (५)

(सर०) 'कला' का संदर्भ प्राप्त अर्थ है स्वरसन्निवेश। इस अलंकार में तीन कलाएँ हैं। तीनों कलाओं में बीच में अन्य स्वर होते हुए भी आदि और अन्त में मन्द्र स ही है इसलिये यह स्थायी वर्ण का अलंकार है।

६. प्रस्तारः

दीप्तान्तश्चेत्प्रतिकलं प्रस्तारः सोऽभिधीयते।
संरिसं संगमसं संपधनिसं। (६)

६. प्रस्तार

१३ क-ख. (अ०) दीप्त-अन्तः तार से अन्त होने वाली प्रतिकलं प्रत्येक कला (वाला) चेत् हो (तो) सः वह प्रस्तारः प्रस्तार (अलंकार) अभिधीयते कहा जाता है।

संरिसं संगमसं संपधनिसं। (६)

(सर०) क्रमरेचित अलंकार में ही हर कला का अन्तिम स स्वर अगर तार में हो तो वही 'प्रस्तार' अलंकार कहलाता है।

७. प्रसादः

तारमन्द्रविपर्यासात्तं प्रसादं प्रचक्षते॥ १३॥
संरिसं संगमसं संपधनिसं। (७)

इति स्थायिगतालङ्काराः

७. प्रसाद

१३ ग-घ. (अ०) तारमन्द्रविपर्यासात् तार (और) मन्द्र (स्वरों) के विपर्यास (उलट देने) से तं उसे (प्रस्तार अलंकार को) प्रसादं प्रसाद प्रचक्षते कहा जाता है।

संरिसं संगमसं संपधनिसं। (७)

(सर०) प्रस्तार अलंकार की ही कलाओं में मन्द्र के स्थान पर तार और तार के स्थान पर मन्द्र का प्रयोग करने से प्रसाद अलंकार बन जाता है।

स्थायि (वर्ण) के अलंकार समाप्त

आरोहिवर्णगतालङ्काराः

स्यातां विस्तीर्णनिष्कर्षौ बिन्दुरभ्युच्चयः परः।
हसितप्रेङ्खिताक्षिप्तसन्धिप्रच्छादनास्तथा॥ १४॥

उद्गीतोद्वाहितौ तद्वत्त्रिवर्णो वेणिरित्यमी।
द्वादशारोहिवर्णस्थालङ्कारा: परिकीर्तिता:॥ १५॥

आरोही वर्ण के अलंकार

१४-१५. (अ०) विस्तीर्णनिष्कर्षौ विस्तीर्ण और निष्कर्ष परः इनके बाद बिन्दुः अभ्युच्चयः बिन्दु (और) अभ्युच्चय स्यातां होते हैं। हसित-प्रेङ्खित-आक्षिप्त-सन्धिप्रच्छादनाः तथा हसित, प्रेंखित, आक्षिप्त और सन्धिप्रच्छादन, उद्गीत-उद्वाहितौ उद्गीत और उद्वाहित, तद्वत् उसी प्रकार त्रिवर्णः त्रिवर्ण (और) वेणिः वेणि इति अमी इस प्रकार ये द्वादश बारह आरोहिवर्णस्थ-अलङ्काराः आरोही वर्ण में स्थित अलंकार परिकीर्तिताः कहे जाते हैं।

१. विस्तीर्णः

मूर्च्छनाऽऽदेः स्वराद्यत्र क्रमेणारोहणं भवेत्।
स्थित्वा स्थित्वा स्वरैर्दीर्घैः स विस्तीर्णोऽभिधीयते॥ १६॥
सा री गा मा पा धा नी। (१)

१. विस्तीर्ण

१६. (अ०) यत्र जहाँ मूर्च्छना-आदेः स्वरात् मूर्च्छना के प्रथम स्वर से दीर्घैः स्वरैः दीर्घ स्वरों के द्वारा स्थित्वा स्थित्वा स्थित हो-होकर क्रमेण क्रम से आरोहणं भवेत् आरोह होता है सः वह विस्तीर्णः विस्तीर्ण (अलंकार) अभिधीयते कहा जाता है।

सा री गा मा पा धा नी। (१)

(सर०) मूर्च्छना के पहले स्वर से शुरू करके सभी स्वरों पर रुक-रुक कर यानी लम्बा उच्चारण करते हुए क्रमशः नीचे से ऊपर के स्वरों पर जाने से विस्तीर्ण अलंकार स्फुट होता है।

२. निष्कर्षः

ह्रस्वैः स्वरैः स निष्कर्षो द्विर्द्विरुक्तैर्निरन्तरैः।
सस रिरि गग मम पप धध निनि। (२)

२. निष्कर्ष

१७ क-ख. (अ०) सः वह (विस्तीर्ण अलंकार) ह्रस्वैः ह्रस्व निरन्तरैः एक साथ द्विः द्विः उक्तैः दो-दो बार कहे हुए स्वरैः स्वरों से निष्कर्षः निष्कर्ष (अलंकार कहलाता है)।

सस रिरि गग मम पप धध निनि। (२)

(सर०) विस्तीर्ण में एक-एक स्वर का दीर्घ प्रयोग होता है और स्वराक्षर का एक बार ही उच्चारण होता है। निष्कर्ष में हर स्वराक्षर का उच्चारण दो-दो बार और प्रयोग ह्रस्व होता है।

त्रिश्चतुर्वा स्वरोच्चारे गात्रवर्णमिमं विदुः॥ १७॥
ससस रिरिरि गगग ममम पपप धधध निनिनि।
ससससस रिरिरिरि गगगग मममम पपपप धधधध निनिनिनि। (२)

निष्कर्षस्यैव भेदौ द्वौ केचिदेतौ बभाषिरे।

१७ ग-१८ ख. (अ०) त्रिः चतुः वा तीन या चार (बार) स्वर-उच्चारे स्वर का उच्चारण होने पर इमं इसे (निष्कर्ष को) गात्रवर्णं गात्रवर्ण (अलंकार) विदुः जानते हैं।

ससस रिरिरि गगग ममम पपप धधध निनिनि।

ससससस रिरिरिरि गगगग मममम पपपप धधधध निनिनिनि। (२)

एतौ इन दोनों (रूपों) को केचित् कुछ लोगों ने निष्कर्षस्य-एव निष्कर्ष (अलंकार) के ही द्वौ भेदौ दो भेद बभाषिरे कहा।

३. बिन्दुः

प्लुतं ह्रस्वं प्लुतं ह्रस्वं प्लुतं ह्रस्वं प्लुतं स्वरम्॥ १८॥

कुर्वन्क्रमाद्यदाऽऽरोहेत्तदा बिन्दुरयं मतः।

स३रि ग३म प३ध नि३। (३)

३. बिन्दु

१८ ग-१९ ख. (अ०) यदा जब प्लुतं ह्रस्वं प्लुत ह्रस्व, प्लुतं ह्रस्वं प्लुत ह्रस्वं, प्लुतं ह्रस्वं प्लुत ह्रस्व (और) प्लुतं स्वरं प्लुत स्वर को कुर्वन् (प्रयुक्त) करते हुए क्रमात् क्रम से आरोहेत् आरोह किया जाता है तदा तब अयं यह बिन्दुः बिन्दु (अलंकार) मतः माना गया है।

स३रि ग३म प३ध नि३। (३)

(सर०) प्लुत के लिये श्लोक ८ में कहा गया है 'त्रिर्वचनात्प्लुतः'। वहाँ यह कहा जा चुका है कि 'वचन' का अर्थ तीन बार उच्चारण नहीं बल्कि तीन बार उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय में एक ही स्वर का लम्बा उच्चारण करना है। तदनुसार यहाँ अलंकार के प्रस्तार में स्वर के बाद ३ का चिन्ह लगाया गया है। अगर लम्बाने के बजाय ३ बार उच्चारण अभिप्रेत होता तो यहाँ प्रस्तार में ३ का अंक लगाने के बजाय स्वराक्षर को तीन बार लिखा जाता और लक्षण में 'आवृत्ति' कहा जाता जैसा आगे हसित और अन्य अलंकारों में हुआ है।

४. अभ्युच्चयः

एकान्तरस्वरारोहमाहुरभ्युच्चयं बुधाः॥ १९॥

स ग प नि। (४)

४. अभ्युच्चय

१९ ग-घ. (अ०) एक-अन्तर एक-एक (स्वर) के अन्तर से (अर्थात् छोड़कर) स्वर-आरोहं स्वर के आरोह को बुधाः बुद्धिमान् (व्यक्ति) अभ्युच्चयं अभ्युच्चय (अलंकार) आहुः कहते हैं।

स ग प नि। (४)

५. हसितः

यत्रैकोत्तरवृद्धाभिरावृत्तिभिरुदीरिताः।
आरुह्यन्ते स्वराः प्राह हसितं तं शिवप्रियः॥ २०॥

स रिरि गगग मममम पपपपप धधधधधध निनिनिनिनिनिनि। (५)

५. हसित

२०. (अ०) यत्र जहाँ एक-उत्तर-वृद्धाभिः एक-एक स्वर की वृद्धि (तथा) आवृत्तिभिः आवृत्ति के द्वारा उदीरिताः कहे गए स्वराः स्वर आरुह्यन्ते आरोहित होते हैं तं उसे शिवप्रियः शिव को प्रिय (शार्ङ्गदेव) ने हसितं हसित (अलंकार) प्राह कहा है।

स रिरि गगग मममम पपपपप धधधधधध निनिनिनिनिनिनि। (५)

६. प्रेङ्खितः

स्वरद्वयं समुच्चार्य पूर्वं पूर्वयुतं परम्।
यदान्दोलितमारोहेत्प्रेङ्खितोऽसौ क्रमोऽथ वा॥ २१॥
सरि रिग गम मप पध धनि। (६)

६. प्रेंखित

२१. (अ०) पूर्वं पहले स्वरद्वयं दो स्वरों को समुच्चार्य उच्चार कर पूर्वयुतं पूर्व से युक्त (अर्थात् उच्चारित दो स्वरों में से बाद वाले को पूर्व यानी पहला बना कर) परं बाद वाला (अगला स्वर) यदा जब आन्दोलितं आन्दोलित होते हुए आरोहेत् आरोह होता है (तब) असौ यह प्रेङ्खितः अथ वा क्रमः प्रेंखित अथवा क्रम (कहलाता है)।

सरि रिग गम मप पध धनि। (६)

७. आक्षिप्तः

एकान्तरं स्वरयुगं तादृक्पूर्वयुतं परम्।
क्रमादारोहति यदा तदाऽऽक्षिप्तं प्रचक्षते॥ २२॥
सग गप पनि। (७)

७. आक्षिप्त

२२. (अ०) यदा जब एक-अन्तरं एक (-एक स्वर) छोड़कर स्वरयुगं स्वरों का जोड़ा तादृक् उसी प्रकार पूर्वयुतं परं पूर्व से युक्त पर (अर्थात् पिछले स्वर के साथ अगला एकान्तर स्वर जोड़कर) क्रमात् क्रम से आरोहति आरोह करता है तदा तब आक्षिप्तं आक्षिप्त (अलंकार) प्रचक्षते कहा जाता है।

सग गप पनि। (७)

८. सन्धिप्रच्छादनः

त्रिस्वराऽऽद्या कलाऽन्ये च पूर्वपूर्वान्तिमादिमे।
कले स्तस्त्रिस्वरे यत्र सन्धिप्रच्छादनस्तु सः॥ २३॥
सरिग गमप पधनि। (८)

८. सन्धिप्रच्छादन

२३. (अ०) यत्र जहाँ आद्या कला पहली कला त्रिस्वरा तीन स्वर वाली (हो) अन्ये च कले और अन्य दो कलाएँ पूर्व-पूर्व-अन्तिम पूर्व-पूर्व (कलाओं) का अन्तिम (स्वर) आदिमे आरंभ में होने पर त्रिस्वरे तीन-तीन स्वर वाली (कलाएँ) स्तः हों सः तु वह तो सन्धिप्रच्छादनः संधिप्रच्छादन (अलंकार है)।

सरिग गमप् पधनि। (८)

९. उद्गीतः

यदाऽऽद्याद्यस्त्रिरावृत्तः कलयोस्त्रिस्वरात्मनोः।
तदोद्गीतः,

सससरिग मममपध। (९)

९. उद्गीत

२४ क-ग. (अ०) यदा जब त्रिस्वरात्मनः तीन स्वर के स्वरूप वाली कलयोः दो कलाओं में आद्य-आद्यः पहला-पहला (स्वर) त्रि-आवृत्तः तीन बार आवृत्त (हो) तदा तब उद्गीतः उद्गीत (अलंकार होता है)।

सससरिग मममपध। (९)

१०. उद्वाहितः

मध्यमेन तादृशोद्वाहितो मतः॥ २४॥
सरिरिरिग मपपपध। (१०)

१०. उद्वाहित

२४ ग-घ. (अ०) तादृशः उसी प्रकार का मध्यमेन बीच के स्वर (की तीन बार आवृत्ति) से उद्वाहितः उद्वाहित (अलंकार) मतः माना गया है।

सरिरिरिग मपपपध। (१०)

११. त्रिवर्णः

अन्त्यस्य तु त्रिरावृत्तौ त्रिवर्णं वर्णयन्त्यमुम्।
सरिगगग मपधधध। (११)

११. त्रिवर्ण

२५ क-ख. (अ०) अन्त्यस्य तु अन्तिम (स्वर) की तो त्रिः आवृत्तौ तीन आवृत्ति होने पर अमुं इसे त्रिवर्णः त्रिवर्ण वर्णयन्ति वर्णित किया जाता है।

सरिगगग मपधधध। (११)

(सर०) पिछले तीन यानी उद्गीत, उद्वाहित और त्रिवर्ण अलंकार ध पर ही समाप्त हो जाते हैं और उनमें सप्तक के अन्तिम स्वर नि का प्रयोग नहीं होता, इस ओर सिंह० ने ध्यान दिलाया है।

१२. वेणिः

त्रयाणां तु त्रिरावृत्तौ पृथग्वेणिरुदीरितः॥ २५॥

ससस रिरिरि गगग, ममम पपप धधध। (१२)

इत्यारोह्यलङ्काराः

१२. वेणि

२५ ग-घ. (अ०) त्रयाणां तु तीनों (स्वरों) की तो पृथक् अलग-अलग त्रिः आवृत्तौ तीन आवृत्ति होने पर वेणिः वेणि (अलंकार) उदीरितः कहा गया है।

ससस रिरिरि गगग, ममम पपप धधध। (१२)

(सर०) इस अलंकार में भी नि का प्रयोग नहीं है।

आरोही वर्ण के अलंकार समाप्त

अवरोहिवर्णगतालङ्काराः

अवरोहक्रमादेते द्वादशाप्यवरोहिणि।

इत्यवरोह्यलङ्काराः

अवरोही वर्ण के अलंकार

२६ क-ख. (अ०) एते ये द्वादशौ बारहों (अलंकार) अवरोहक्रमात् अवरोह क्रम से अवरोहिणि अवरोही (वर्ण) में अपि भी (होते हैं)।

(सर०) अवरोही वर्ण के अलंकार अलग से नहीं कहे गये हैं बल्कि आरोही वर्ण के अलंकारों का ही अवरोह गति में प्रयोग होने पर वही अवरोही वर्ण के कहलाते हैं। तदनुसार हम हरेक के प्रस्तार बना कर उनका स्वरूप यहाँ दिखा रहे हैं।

यह स्मरणीय है कि भरत ने विधूत, त्रिवर्ण, उद्वाहित, उद्गीत और वेणि—ये अलग से अवरोही वर्ण के अलंकार कहे हैं। इनमें से अन्तिम चार शार्ङ्गदेव ने आरोही वर्ण में दिए हैं और उद्वाहित संचारी वर्ण में भी है।

अवरोही वर्ण के अलंकारों के प्रस्तार

१. विस्तीर्ण

नी धा पा मा गा री सा। (१)

२. निष्कर्ष

निनि धध पप मम गग रिरि सस। (२)

गात्रवर्ण् के रूप में दो भेद—

(१) निनिनि धधध पपप ममम गगग रिरिरि ससस

(२) निनिनिनि धधधध पपपप मममम गगगग रिरिरिरि सससस

३. बिन्दु

नि३ धप३ मग३ रिस३। (३)

४. अभ्युच्चय

नि प ग स। (४)

५. हसित

निनिनिनिनिनिनिनि धधधधधध पपपपप मममम गगग रिरि स। (५)

६. प्रेंखित

निध धप पम मग गरि रिस। (६)

७. आक्षिप्त

निप पग गस। (७)

८. संधिप्रच्छादन

निधप पमग गरिस। (८)

९. उद्गीत

धपममम गरिससस। (९)

१०. उद्वाहित

धपपपम गरिरिरिस। (१०)

११. त्रिवर्ण

धधधपम गगगरिस। (११)

१२. वेणि

धधध पपप ममम, गगग रिरिरि ससस। (१२)

सञ्चारिवर्णगतालङ्कारा:

मन्द्रादिर्मन्द्रमध्यश्च मन्द्रान्तः स्यादतः परम्॥ २६॥

प्रस्तारश्च प्रसादोऽथ व्यावृत्तस्खलितावपि।
परिवर्ताक्षेपबिन्दूद्वाहितोर्मिसमास्तथा॥ २७॥

प्रेङ्खनिष्कूजितश्येनक्रमोद्घट्टितरञ्जिताः।
संनिवृत्तप्रवृत्तोऽथ वेणुश्च ललितस्वरः॥ २८॥

हुङ्कारो ह्लादमानश्चः ततः स्यादवलोकितः।
स्युः संचारिण्यलङ्कराः पञ्चविंशतिरित्यमी॥ २९॥

संचारी वर्ण के अलंकार

२६ ग-२९. (अ०) मन्द्रादिः मन्द्रमध्यः च मन्द्रादि और मन्द्रमध्य अतः परं इसके बाद मन्द्रान्तः स्यात् मन्द्रान्त होता है। प्रस्तारः प्रसादः च प्रस्तार और प्रसाद अथ अब व्यावृत्त-स्खलितौ अपि व्यावृत्त और स्खलित भी परिवर्त-आक्षेप-बिन्दु-उद्वाहित-ऊर्मि-समाः परिवर्त, आक्षेप, बिन्दु, उद्वाहित, ऊर्मि, सम तथा और प्रेङ्ख-निष्कूजित-श्येन-क्रम-उद्घट्टित-रञ्जिताः प्रेंख, निष्कूजित, श्येन, क्रम, उद्घट्टित, रंजित, संनिवृत्तप्रवृत्तः संनिवृत्तप्रवृत्त अथ इसके बाद वेणुः ललितस्वरः च वेणु और ललितस्वर, हुङ्कारः ह्लादमानः च हुंकार और ह्लादमान ततः तब अवलोकितः स्यात् अवलोकित होता है। इति अमी इस प्रकार ये सञ्चारिणि संचारी (वर्ण) में पञ्चविंशतिः पच्चीस अलङ्काराः स्युः अलंकार होते हैं।

(सर०) संज्ञा की दृष्टि से संचारी वर्ण के मन्द्रादि, मन्द्रमध्य, मन्द्रान्त, प्रस्तार और प्रसाद का स्थायी वर्ण के प्रसन्नादि, प्रसन्नमध्य, प्रसन्नान्त, प्रस्तार और प्रसाद से आक्षेप, बिन्दु, उद्वाहित और प्रेंख का आरोही वर्ण के इन्हीं नाम वाले अलंकारों से साम्य है। प्रसन्न और मन्द्र समानार्थक हैं इसलिये प्रसन्न और मृदु संज्ञा से युक्त अलंकारों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। लेकिन स्थायी वर्ण के प्रसन्नादि आदि और संचारी वर्ण के मन्द्रादि आदि के प्रस्तार बिल्कुल भिन्न हैं।

भरत के अनुसार इन संज्ञाओं पर पहले जो विचार किया जा चुका है उसके आधार पर और अलंकार-लक्षण की व्याख्या के अनुसार यह समझा जा सकता है कि स्थायी वर्ण में संभवतः प्रसन्न संज्ञा मूलतः तारता की और ध्रुवाओं में तीव्रतादि की भी सूचक रही होगी लेकिन आगे चलकर अलंकार के साथ-साथ गमक, स्थाय की धारणा निश्चित होने पर प्रसन्न संज्ञा अलंकार में तारता के लिए सीमित हो गई।

संचारी अलंकारों के निरूपण के अन्त (श्लो० ५२-५३) में ग्रंथकार यह कहने वाले हैं कि संचारी अलंकारों के प्रस्तारों में केवल आरोह दिए हैं उनके अवरोह भी करने पर संचारी वर्ण के अलंकार बनेंगे। तदनुसार हम इन अलंकारों के अवरोह भी दे रहे हैं।

१. मन्द्रादिः

त्रिस्वराऽद्या कलैकैकमन्द्रत्यागेन चापराः।
त्रिस्वराश्चेत्कला मन्द्राद्या मन्द्रादिस्तदा भवेत्॥ ३०॥
सगरि रिमग गपम मधप पनिध। (१)

१. मन्द्रादि

३०. (अ०) आद्या कला पहली कला त्रिस्वरा तीन स्वर वाली (होती है)। अपरा च कलाः और अन्य कलाएँ एक-एक-मन्द्रत्यागेन (क्रमशः) एक-एक मन्द्र (स्वर) के त्याग से मन्द्र-आद्याः मन्द्र से आरंभ होने वाली त्रिस्वराः तीन (-तीन) स्वर वाली चेत् हों तदा तब मन्द्रादिः मन्द्रादि (अलंकार) भवेत् होता है।

सगरि रिमग गपम मधप पनिध

(धनिप पधम मपग गमरि रिगस)। (१)

२, ३. मन्द्रमध्यः मन्द्रान्तश्च

ताः कला मन्द्रमध्यान्ता क्रमाच्चेदपरौ तदा।
मन्द्रमध्यो यथा—
गसरि मरिग पगम धमप निपध। (२)
मन्द्रान्तो यथा—
रिगस गमरि मपग पधम धनिप। (३)

२, ३. मन्द्रमध्य और मन्द्रान्त

३१ क-ख. (अ०) ताः कलाः वे कलाएँ मन्द्रमध्य-अन्ताः मन्द्र (स्वर) मध्य (और) अन्त वाली चेत् हों तदा तब क्रमः क्रम से अपरौ अन्य दो (अलंकार होते हैं)। यथा जैसे मन्द्रमध्यः मन्द्रमध्य—

गसरि मरिग पगम धमप निपध

(धपनि पमध मगप गरिम रिसग)। (२)

यथा जैसे मन्द्रान्तः मन्द्रान्त—

रिगस गमरि मपग पधम धनिप

(पनिध मधप गपम रिमग सगरि)। (३)

(सर०) मन्द्रादि की कलाओं के स्वरों में मन्द्रस्वर अर्थात् पहले स्वर स को मध्य में रखने पर मन्द्रमध्य अलंकार होता है और अन्त में रखने पर मन्द्रान्त।

४. प्रस्तारः

त्यक्तान्तरं स्वरयुगं त्यक्तादारभ्यते पुनः॥ ३१॥
युगं तादृक्समारोहेत्तदा प्रस्तार उच्यते।
सग रिम गप मध पनि। (४)

४. प्रस्तार

३१ ग-३२ ख. (अ०) त्यक्त-अन्तरं बीच का (स्वर) छोड़कर स्वरयुगं (दो) स्वरों को जोड़ा (हो) पुनः फिर त्यक्तात्

आरभ्यते छोड़े हुए (स्वर) से आरंभ किया जाता है। तादृक् उसी प्रकार के युगं (स्वरों के) जोड़े (जोड़ों) का समम्-आरोहेत् उसी प्रकार (पहले की तरह) आरोह किया जाता है तदा तब प्रस्तारः प्रस्तार (अलंकार) उच्यते कहा जाता है।

सग रिम गप मध पनि

(निप धम पग मरि गस)। (४)

(सर०) स्थायी वर्ण के प्रस्तार अलंकार का स्वरूप तुलनीय है। वहाँ प्रस्तार यह है—संरिसं संगमसं संपधनिसं। ध्यान देने योग्य है कि नाम एक होते हुए भी वर्ण भेद से दोनों का स्वरूप बिल्कुल भिन्न हो गया है।

५. प्रसादः

पूर्वः पूर्वः परस्योर्ध्वाधोवर्ती क्रियते स्वरः॥ ३२॥

यदा तदा प्रसादं तमाह श्रीकरणेश्वरः।

सरिस रिगरि गमग मपम पधप धनिध। (५)

५. प्रसाद

३२ ग-३३ ख. (अ०) यदा जब पूर्वः पूर्वः स्वरः पहला-पहला स्वर परस्य दूसरे (स्वर) का ऊर्ध्व-अधःवर्ती आरंभ और अन्त में रहने वाला क्रियते किया (बनाया) जाता है तदा तं तब उसे श्रीकरणेश्वरः शार्ङ्गदेव ने प्रसादं प्रसाद (अलंकार) आह कहा है।

सरिस रिगरि गमग मपम पधप धनिध

(धनिध पधप मपम गमग रिगरि सरिस)। (५)

६. व्यावृत्तः

चतुःस्वरा कला तत्राद्यात्तृतीयं द्वितीयकात्॥ ३३॥

तुर्यं गत्वाऽऽदिमं गच्छेदेवमेकैकहानतः।

चतुःस्वराः परा यत्र स व्यावृत्तः स्मृतो बुधैः॥ ३४॥

सगरिमस रिमगपरि गपमधग मधपनिम। (६)

६. व्यावृत्त

३३ ग-३४. (अ०) कला कला चतुःस्वरा चार स्वर वाली (होती है) तत्र उस (कला) में आद्यात् पहले (स्वर) से तृतीयं तीसरे (स्वर) पर द्वितीयकात् दूसरे से तुर्यं गत्वा चौथे पर जाकर आदिमं गच्छेत् पहले स्वर पर जाना चाहिये। एवं इस प्रकार एक-एक-हानतः एक-एक (स्वर) छोड़ते हुए यत्र जहाँ पराः अन्य (कलाएँ भी) चतुःस्वराः चार (चार) स्वर वाली (हों) सः वह बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा व्यावृत्तः व्यावृत्त (अलंकार) स्मृतः जाना गया है।

सगरिमस रिमगपरि गपमधग मधपनिम

(मनिपधम गधमपग रिपगमरि समरिगस)। (६)

७. स्खलितः

कलां प्रयुज्य मन्द्रादेर्द्विरुक्तोर्ध्वस्वरान्विताम्।
अवरुह्येत चेदेष स्खलिताख्यस्तदा भवेत्॥ ३५॥
सगरिममरिगस रिमगपपगमरि गपमधधमपग मधपनिनिपधम। (७)

७. स्खलित

३५. (अ०) मन्द्रादेः मन्द्रादि (अलंकार) की कलां प्रयुज्य कला को प्रयुक्त करके द्विरुक्तः दो बार प्रयुक्त हुए ऊर्ध्व-स्वर-अन्वितां ऊपर के (अगले) स्वर से अन्वित करके अवरुह्येत चेत् अवरोह किया जाय तदा तो एष यह स्खलित-आख्यः स्खलित नामक (अलंकार) भवेत् होता है।

सगरिममरिगस रिमगपपगमरि गपमधधमपग मधपनिनिपधम
(मधपनिनिपधम गपमधधमपग रिमगपपगमरि सगरिममरिगस)। (७)

८. परिवर्तकः

स्वरं द्वितीयमुझित्वा त्रिस्वराऽऽद्या कला यदि।
त्यक्तादारभ्य तादृश्योऽन्यास्तदा परिवर्तकः॥ ३६॥
सगम रिमप गपध मधनि। (८)

८. परिवर्तकः

३६. (अ०) यदि अगर द्वितीयं स्वरम् उज्झित्वा दूसरे स्वर को छोड़ कर आद्या कला पहली कला त्रिस्वरा तीन स्वर वाली (हो), व्यक्तात् छोड़े हुए (स्वर) से आरभ्य आरंभ करके तादृश्यः उसी प्रकार की (त्रिस्वरा) अन्याः अन्य (कलाएँ हों) तदा तब परिवर्तकः परिवर्तक (अलंकार होता है)।

सगम रिमप गपध मधनि
(निधम धपग पमरि मगस)। (८)

९. आक्षेपः

त्रिस्वराश्चेत्कलाः पूर्वपूर्वत्यागोर्ध्वसंक्रमैः।
तदाऽऽक्षेपः,
सरिग रिगम गमप मपध पधनि। (९)

९. आक्षेप

३७ क-ग. (अ०) पूर्व-पूर्वत्याग-ऊर्ध्वसंक्रमैः पहला-पहला स्वर छोड़ कर अगले (स्वरों) पर संक्रम करके त्रिस्वराः तीन स्वर वाली कलाः कलाएँ चेत् (हों) तदा तब आक्षेपः आक्षेप (अलंकार होता है)।

सरिग रिगम गमप मपध पधनि
(निधप धपम पमग मगरि गरिस)। (९)

१०. बिन्दुः

अथ बिन्दुः स यत्र प्लुतमधःस्वरम्॥ ३७॥

कृत्वाऽग्निवत्परं स्पृष्ट्वाऽधः स्पर्शेनाखिलाः कलाः।
सइरिस रिइगरि गइमग मइपम पइधप धइनिध। (१०)

१०. बिन्दु

३७ ग-३८ ख. (अ०) अथ अब सः बिन्दुः वह बिन्दु (है) यत्र जहाँ अधः स्वरं नीचे के (अर्थात् पहले) स्वर को प्लुतं कृत्वा प्लुत करके परं अगले (स्वर) को अग्निवत् स्पृष्ट्वा आग की तरह छूकर अधः निचले (स्वर) के स्पर्शेन स्पर्श से अखिलाः कलाः सारी कलाएँ (हों)।

सइरिस रिइगरि गइमग मइपम पइधप धइनिध
(धनिधइ पधपइ मपमइ गमगइ रिगरिइ सरिसइ)।

(सर०) आरोही वर्ण का बिन्दु तुलनीय है जिसमें सइरि गइम पइध निइ—इस प्रकार केवल आरोह क्रम में स्वर प्रयुक्त होते हैं, यहाँ संचारी वर्ण होने के कारण हर कला में स्वरों के अवरोह क्रम का मिश्रण है।

११. उद्वाहितः

कलायां त्रीन्स्वरान्गीत्वाऽवरुह्यैकं पराः कलाः॥ ३८॥

यत्रैकैकोज्झिता गीतास्तद्वदुद्वाहितस्तु सः।
सरिगरि रिगमग गमपम मपधप पधनिध। (११)

११. उद्वाहित

३८ ग-३९ ख. (अ०) उद्वाहितः तु उद्वाहित तो सः वह (है) यत्र जहाँ कलायां कला में त्रीन् स्वरान् तीन स्वरों को गीत्वा गाकर एकं एक (स्वर) का अवरुह्य अवरोह करके एक-एक-उज्झिता एक-एक (स्वर) छोड़ी हुई तद्वत् पराः कलाः उसी प्रकार (की) अन्य कलाएँ गीताः गाई गई हों।

सरिगरि रिगमग गमपम मपधप पधनिध
(धनिधप पधपम मपमग गमगरि रिगरिस)। (११)

१२. ऊर्मिः

मूर्च्छनाऽऽदेः स्वरात्तुर्यं प्लुतीकृत्याद्यमेत्य च॥ ३९॥

तुर्यगाने कलैकैकहानाद्यत्रापरास्तथा।
स ऊर्मिः स्यात्,
समइसम रिपइरिप गधइगध मनिइमनि। (१२)

१२. ऊर्मि

३९ ग-४० ग. (अ०) यत्र जहाँ मूर्च्छना-आदेः स्वरात् मूर्च्छना के पहले स्वर से तुर्यं चौथे (स्वर) को प्लुतीकृत्य प्लुत बना कर आद्यम् एत्य च और पहले (स्वर) पर पहुँच कर तुर्यंगाने चौथे (स्वर) को गाने पर तथा तथा एक-एकहानात् एक-एक (स्वर) को छोड़ने से यत्र अपराः कला (:) जहाँ अन्य कलाएँ (हों) सः वह ऊर्मिः ऊर्मि (नामक अलंकार) स्यात् होता है।

समम३सम रिपप३रिप गधग३गध मनिम३मनि

(निमनि३म धगध३ग परिप३रि मसम३स)। (१२)

१३. समः

सःतु समः कला यत्र चतुःस्वराः ॥ ४० ॥

तुल्यारोहावरोहैकैकहानादपरास्तथा।

सरिगममगरिस रिगमपपमगरि गमपधधपमग मपधनिनिधपम। (१३)

१३. सम

४० ग-४१ ख. (अ०) तथा और सः तु समः वह तो सम (अलंकार है) यत्र जहाँ तुल्य-आरोह-अवरोह- समान (एक से) आरोह (और) अवरोह (और) एक-एक-हानात् (तथा) एक-एक स्वर छोड़ने से (अर्थात् छोड़कर) चतुःस्वराः चार स्वर वाली अपराः कलाः अन्य कलाएँ (होती हैं)।

सरिगममगरिस रिगमपपमगरि गमपधधपमग मपधनिनिधपम

(मपधनिनिधपम गमपधधपमग रिगमपपमगरि सरिगममगरिस)। (१३)

१४. प्रेङ्खः

कला गतागतवती द्विस्वरैकैकहानतः ॥ ४१ ॥

यत्रान्यास्तादृशः स स्यात्प्रेङ्खः,

सरिरिस रिगगरि गममग मपपम पधधप धनिनिध। (१४)

१४. प्रेंख

४१ ग-४२ ख. (अ०) यत्र जहाँ कला कला द्विस्वरैः दो स्वरों से गत-आगतवती जाने और आने (आरोह और अवरोह) वाली (हो) तादृशः उसी प्रकार एक-एकहानतः एक-एक (स्वर) छोड़ने से अन्याः अन्य (कलाएँ हों) सः वह प्रेङ्खः प्रेंख (अलंकार) स्यात् होता है।

सरिरिस रिगगरि गममग मपपम पधधप धनिनिध

(धनिनिध पधधप मपपम गममग रिगगरि सरिरिस)। (१४)

१५. निष्कूजितः

निष्कूजितः पुनः।
प्रसादस्य कलां गीत्वा तत्कलाऽऽदेस्तृतीयकम्॥ ४२॥

गत्वाऽऽद्यगानाद्भवति,
सरिसगस रिगरिमरि गमगपग मपमधम पधपनिप। (१५)

१५. निष्कूजित

४२ ख-४३ क. (अ०) पुनः फिर प्रसादस्य प्रसाद (अलंकार) की कलां गीत्वा कला को गाकर तत्-कला-आदेः उस कला के पहले (स्वर) से तृतीयकं गत्वा तीसरे (स्वर) पर जाकर आद्य-गानात् पहले (स्वर) के गान से निष्कूजितः निष्कूजित (अलंकार) भवति होता है।

सरिसगस रिगरिमरि गमगपग मपमधम पधपनिप
(पनिपधप मधमपम गपगमग रिमरिगरि सगसरिस।) (१५)

(सर०) प्रसाद अलंकार स्थायी और संचारी दोनों वर्णों में है। संचारी में (श्लो० ३२ ग-३३ ख) प्रसाद का यह रूप है—सरिस रिगरि गमग आदि। इसी की कला के अन्त में तीसरा और फिर पहला स्वर जोड़ने से निष्कूजित अलंकार बनता है।

१६. श्येनः

श्येनः संवादियुग्मकैः।

क्रमात्सरिगमाद्यैः स्यात्,
सप रिध गनि मस। (१६)

१६. श्येन

४३ ख-ग. (अ०) क्रमात् क्रम से स-रि-ग-म-आद्यैः स-रि-ग-म आदि से संवादियुग्मकैः संवादी (स्वरों की) जोड़ियों से श्येनः श्येन (नामक अलंकार) स्यात् होता है।

सप रिध गनि मस

(सम निग धरि पस)। (१६)

(सर०) यहाँ दो तथ्य ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि जोड़ियाँ षड्ज-पंचम संवाद वाली हैं, षड्ज-मध्यम संवाद वाली नहीं। दूसरे, भरत, मतंग, शार्ङ्गदेव आदि सभी ने षड्जग्राम की स-प भाव वाली संवादी जोड़ियों में स-प, रि-ध और ग-नि तो कहीं, म-स नहीं क्योंकि इस युग्म में स अगले स्थान (सप्तक) में चला जाता है। शार्ङ्गदेव ने स्थायी वर्ण के अलंकारों को छोड़कर, जिनमें मन्द्र-तार के रूप में दो-दो सप्तकों का विशेष संबंध है, अन्य अलंकारों में दूसरे स्थान के स को कहीं नहीं छुआ है। केवल श्येन ही ऐसा अलंकार है जिसमें अगले स्थान में जाकर म-स संवादी युग्म बनाया गया है हालाँकि स पर तार चिन्ह नहीं है।

१७. क्रमः

कला द्वित्रिचतुःस्वराः ॥ ४३ ॥

आद्यस्वराद्यास्तिस्त्रः स्युर्द्वितीयाद्यादयस्तथा।
यत्रासौ क्रम इत्युक्तः,
सरिसरिगसरिगम रिगरिगमरिगमप गमगमपगमपध मपमपधमपधनि। (१७)

१७. क्रम

४३ घ-४४ ग. (अ०) यत्र जहाँ आद्य-स्वर-आद्याः पहले स्वर से आरंभ होने वाली द्वित्रिचतुःस्वराः दो, तीन (और) चार स्वर वाली तिस्त्रः कलाः तीन कलाएँ स्युः होती हैं तथा और द्वितीय-आद्य-आदयः दूसरे आदि (स्वरों) से आरंभ होने वाली (अन्य कलाएँ होती हैं) असौ यह क्रमः इति क्रम यों (इस नाम से) उक्तः (अलंकार) कहा गया है।

सरिसरिगसरिगम रिगरिगमरिगमप गमगमपगमपध मपमपधमपधनि

(निधपमधपमपम धपमगपमगमग पमगरिमगरिगरि मगरिसगरिसरिस)। (१७)

१८. उद्घट्टितः

स तूद्घट्टित उच्यते॥ ४४॥

यत्र स्वरद्वयं गीत्वा पञ्चमाच्चतुरः स्वरान्।
अवरोहेत्कला गायेत्तथैकैकोज्झनात्पराः॥ ४५॥
सरिपमगरि रिगधपमग गमनिधपम। (१८)

१८. उद्घट्टित

४४ घ-४५. (अ०) सः तु वह तो उद्घट्टितः उद्घट्टित (अलंकार) उच्यते कहा जाता है यत्र जहाँ स्वरद्वयं गीत्वा दो स्वरों को गाकर पञ्चमात् चतुरः स्वरान् पाँचवें (स्वर) से चार स्वरों को (का) अवरोहेत् अवरोह किया जाता है तथा और एक-एक-उज्झनात् एक-एक (स्वर) को छोड़कर पराः अन्य कलाः कलाएँ गायेत् गाई जाती हैं।

सरिपमगरि रिगधपमग गमनिधपम

(मपधनिमग गमपधगरि रिगमपरिस)। (१८)

१९. रञ्जितः

द्विरुक्ता यदि मन्द्रान्ता मन्द्रादेः स्युः कलास्तदा।
रञ्जितः,
सगरिसगरिस रिमगरिमगरि गपमगपमग मधपमधपम पनिधपनिधप। (१९)

१९. रंजित

४६ क-ग. (अ०) यदि अगर मन्द्रादेः मन्द्रादि (अलंकार) की द्विरुक्ताः दो बार कही गई कलाः कलाएँ मन्द्रान्ताः मन्द्र (स्वर) से अन्त (होने) वाली स्युः हों तदा तब रञ्जितः रंजित (अलंकार होता है)।

सगरिसगरिस रिमगरिमगरि गपमगपमग मधपमधपम पनिधपनिधप

(पधनिपधनिप मपधमपधम गमपगमपग रिगमरिगमरि सरिगसरिगस)। (१९)

(सर०) संचारी वर्ण के पहले अलंकार मन्द्रादि का स्वरूप सगरि है। इसी का दो बार प्रयोग करके अन्त में पहला स्वर लगाने से रंजित अलंकार बनता है।

२०. संनिवृत्तप्रवृत्तः

अथ भवेदेष संनिवृत्तप्रवृत्तकः ॥ ४६ ॥

यत्राद्यपञ्चमौ गीत्वा तुर्यात्त्रीनवरोहति।
क्रमात्कला सा यत्रान्यास्तद्वदेकैकहानतः ॥ ४७ ॥
सपमगरि रिधपमग गनिधपम। (२०)

२०. संनिवृत्तप्रवृत्त

४६ ग-४७. (अ०) अथ अब एष यह संनिवृत्तप्रवृत्तकः संनिवृत्तप्रवृत्त (अलंकार) भवेत् होता है यत्र जहाँ आद्य-पञ्चमौ पहला (और) पाँचवाँ (स्वर) गीत्वा गाकर क्रमात् क्रम से तुर्यात् चौथे (स्वर) से त्रीन् तीन (स्वरों) का अवरोहति अवरोह होता है सा ऐसी (एक) कला कला (होती है) तद्वत् (और) उसी तरह एक-एकहानतः एक-एक (स्वर) छोड़ने से यत्र अन्याः जहाँ अन्य (कलाएँ हों)।

सपमगरि रिधपमग गनिधपम

(मपधनिग गमपधरि रिगमपस)। (२०)

२१. वेणुः

यत्राद्यः स्याद् द्विर्द्वितीयचतुर्थकतृतीयकाः।
सकृत्कलाऽन्याश्चैकैकहानाद्वेणुरसौ मतः ॥ ४८ ॥
ससरिमग रिरिगपम गगमधप ममपनिध। (२१)

२१. वणु

४८. (अ०) यत्र जहाँ आद्यः द्विः पहला (स्वर) दो बार स्यात् होता है द्वितीय-चतुर्थ-तृतीयकाः दूसरे, चौथे और तीसरे (स्वर) सकृत् एक (-एक) बार (हों वह) कला (एक) कला (है) अन्याः च और अन्य (कलाएँ) एक-एकहानात् एक-एक (स्वर) छोड़ कर (हों) असौ यह वेणुः वेणु (अलंकार) मतः माना गया है।

ससरिमग रिरिगपम गगमधप ममपनिध

(धनिपमम पधमगग मपगरिरि गमरिसस)। (२१)

२२. ललितस्वरः

गीत्वाऽऽद्यौ द्वौ चतुर्थं च यस्यां तावदवरोहति।
सा कलाऽन्याश्च तादृश्यो यत्रासौ ललितस्वरः ॥ ४९ ॥
सरिमरिस रिगपगरि गमधमग मपनिपम। (२२)

२२. ललितस्वर

४९. (अ०) यस्याम् आद्यौ द्वौ जिसमें पहले दो (स्वरों) को गीत्वा गाकर चतुर्थं चौथे को (गाया जाय) तौ च और उन (पहले वाले) दोनों का अवरोहति अवरोह होता है सा कला वह (एक) कला (होती है)। यत्र जहाँ अन्याः च अन्य कलाएँ भी तादृश्यः वैसी हों असौ यह ललितस्वरः ललितस्वर (अलंकार होता है)।

सरिमरिस रिगपगरि गमधमग मपनिपम

(मपनिपम गमधमग रिगपगरि सरिमरिस)। (२२)

२३. हुङ्कारः

आदिमेन कला यत्र द्विस्वराऽऽद्या गतागतैः।
स्वैरैरेकोत्तरं वृद्धैः स हुङ्कारो निगद्यते॥ ५०॥
सरिस सरिगरिस सरिगमगरिस सरिगमपमगरिस
सरिगमपधपमगरिस सरिगमपधनिधपमगरिस। (२३)

२३. हुंकार

५०. (अ०) यत्र जहाँ आदिमेन पहले स्वर से गतागतैः जाने और आने वाले (अर्थात् आरोह-अवरोह) से द्विस्वरा दो स्वर वाली आद्या कला पहली कला (हो और) एक-उत्तरं अगले एक-एक वृद्धैः स्वैरः वृद्धि वाले स्वरों से (अन्य कलाएँ हों) सः वह हुङ्कारः हुंकार (अलंकार) निगद्यते कहा जाता है।

सरिस सरिगरिस सरिगमगरिस सरिगमपमगरिस सरिगमपधपमगरिस सरिगमपधनिधपमगरिस

(सरिगमपधनिधपमगरिस सरिगमपधपमगरिस सरिगमपमगरिस सरिगमगरिस सरिगरिस सरिस)। (२३)

२४. ह्लादमानः

ह्लादमाने प्रसन्नान्ता मन्द्रादेस्तु कला मताः।
सगरिस रिमगरि गपमग मधपम पनिधप

२४. ह्लादमान

५१ क-ख. (अ०) ह्लादमाने ह्लादमान (अलंकार) में मन्द्रादेः तु मन्द्रादि की तो प्रसन्न-अन्ता कलाः मन्द्र से अन्त होने वाली कलाएँ मताः मानी गई हैं।

सगरिस रिमगरि गपमग मधपम पनिधप

(पधनिप मपधम गमपग रिगमरि सरिगस)। (२४)

२५. अवलोकितः

यदाऽऽरोहेऽवरोहे च स्वद्वितीयं परित्यजेत्॥ ५१॥

चतुःस्वरा समकला तदा स्यादवलोकितः।
सगममरिस रिमपपगरि गपधधमग मधनिनिपम। (२५)

२५. अवलोकित

५१ ग-५२ ख. (अ०) यदा जब चतुःस्वरा चार स्वर वाली समकला सम (अलंकार) की कला के आरोहे-अवरोहे च आरोह और अवरोह में स्वद्वितीयं अपने (-अपने) द्वितीय (स्वर) को परित्यजेत् छोड़ दिया जाता है तदा तब अवलोकितः अवलोकित (अलंकार) स्यात् होता है।

सगममरिस रिमपपगरि गपधधमग मधनिनिपम

(मपनिनिधम गमधधपग रिगपपमरि सरिममगस)। (२५)

एवं संचार्यलङ्कारा आरोहेण प्रदर्शिताः॥ ५२॥

एतानेवावरोहेण प्राह श्रीकरणाग्रणीः।

इति संचार्यलङ्काराः

५२ ग-५३ ख. (अ०) एवं इस प्रकार आरोहेण आरोह के द्वारा संचारि-अलङ्काराः संचारी (वर्ण) के अलंकार प्रदर्शिताः दिखाए गए। श्रीकरणाग्रणीः महालेखापाल (शार्ङ्गदेव) ने एतान् एव इन्हीं को अवरोहेण अवरोह के द्वारा प्राह कहा।

संचारी वर्ण के अलंकार समाप्त

अन्ये सप्तालङ्काराः

अन्येऽपि सप्तालङ्कारा गीतज्ञैरुपदर्शिताः॥ ५३॥

तारमन्द्रप्रसन्नश्च मन्द्रतारप्रसन्नकः।
आवर्तकः संप्रदानो विधूतोऽप्युपलोलकः॥ ५४॥

उल्लासितश्चेति तेषामधुना लक्ष्म कथ्यते।

अन्य सात अलंकार

५३ ग-५५ ख. (अ०) गीतज्ञैः गीतज्ञों के द्वारा अन्ये अपि और भी सप्त-अलङ्काराः सात अलंकार उपदर्शिताः दिखाए गए हैं—तारमन्द्रप्रसन्नः च तारमन्द्रप्रसन्न और मन्द्रतारप्रसन्नकः मन्द्रतारप्रसन्न, आवर्तकः आवर्तक, संप्रदानः संप्रदान, विधूतः विधूत, उपलोलकः अपि उपलोल भी उल्लासितः च इति और उल्लासित—इस प्रकार। अधुना अब तेषां लक्ष्म उनके लक्षण कथ्यते कहे जाते हैं।

कलास्तेषां द्वितीयाद्याः पूर्वैकैकप्रहाणतः॥ ५५॥

५५ ग-घ. (अ०) तेषां उनकी कलाः कलाएँ पूर्व-एक-एक प्रहाणतः पहले एक-एक (स्वर) को छोड़कर द्वितीय-आद्याः दूसरे से शुरू होने वाली (होती हैं)।

१. तारमन्द्रप्रसन्नः

अष्टमस्वरपर्यन्तमारुह्याद्यं व्रजेद्यदि।
तारमन्द्रप्रसन्नोऽयमलङ्कारस्तदोच्यते॥ ५६॥
सं रि ग म प ध नि सं सं। (१)

१. तारमन्द्रप्रसन्न

५६. (अ०) यदि अगर अष्टमस्वरपर्यन्तं आठवें स्वर तक आरुह्य आरोह करके आद्यं पहले (स्वर) पर व्रजेत् जायँ तदा तब अयं यह तारमन्द्रप्रसन्नः अलङ्कारः तारमन्द्रप्रसन्न (नामक) अलंकार उच्यते कहा जाता है।

सं रि ग म प ध नि सं सं। (१)

२. मन्द्रतारप्रसन्नः

मन्द्रादष्टममुत्प्लुत्य सप्तकस्यावरोहणे।
मन्द्रतारप्रसन्नाख्यमाह माहेश्वरोत्तमः॥ ५७॥
सं सं नि ध प म ग रि सं। (२)

२. मन्द्रतारप्रसन्न

५७. (अ०) मन्द्रात् मन्द्र से अष्टमं आठवें स्वर पर उत्प्लुत्य कूद कर (अर्थात् बीच के स्वर छोड़कर) सप्तकस्य सात स्वरों का अवरोहणे अवरोह होने पर (उसे) माहेश्वर-उत्तमः शिवभक्तों में उत्तम (शार्ङ्गदेव) ने मन्द्रतारप्रसन्न-आख्यं मन्द्रतारप्रसन्न नामक (अलंकार) आह कहा।

सं सं नि ध प म ग रि सं। (२)

३. आवर्तकः

आद्यं द्वितीयमाद्यं च द्विर्द्विर्गीत्वा द्वितीयकम्।
सकृदाद्यं यत्कलायां गायेदावर्तकस्तु सः॥ ५८॥
ससरिरिससरिस रिरिगगरिरिगरि गगममगगमग ममपपममपम पपधधपपधप धधनिनिधधनिध। (३)

३. आवर्तक

५८. (अ०) आवर्तकः तु सः आवर्तक तो वह (है) यत्-कलायां जिसकी (एक) कला में आद्यं पहला द्वितीयं दूसरा आद्यं च और पहला द्विः द्विः गीत्वा दो-दो बार गाकर द्वितीयकं दूसरा (और) आद्यं पहला सकृत् एक (-एक) बार गायेत् गाया जाता है।

ससरिरिससरिस रिरिगगरिरिगरि गगममगगमग ममपपममपम पपधधपपधप धधनिनिधधनिध। (३)

४. संप्रदानः

एतस्यैव कलाऽन्त्यौ द्वौ स्वरौ संत्यज्य गीयते।
यदा तदा संप्रदानमलङ्कारं विदुर्बुधाः॥ ५९॥
ससरिरिसस रिरिगगरिरि गगममगग ममपपमम पपधधपप धधनिनिधध। (४)

४. संप्रदान

५९. (अ०) यदा जब एतस्य-एव इसी (आवर्तक) की कला कला अन्त्यौ द्वौ स्वरौ अंतिम दो स्वर संत्यज्य छोड़कर

गीयते गाई जाती है तदा तब बुधाः बुद्धिमान् (उसे) संप्रदानम् अलङ्कारं संप्रदान अलंकार विदुः जानते हैं।

ससरिरिसस रिरिगगरिरि गगममगग ममपपमम पपधधपप धधनिनिधध। (४)

५. विधूतः

युग्ममेकान्तरितयोस्त्यक्तादप्येवमेव चेत्।
द्विर्द्विः प्रयुज्येत तदा विधूतो बुधसंमतः॥ ६०॥
सगसग रिमरिम गपगप मधमध पनिपनि। (५)

५. विधूत

६०. (अ०) एक-अन्तरितयोः (बीच का) एक स्वर छोड़ कर दो (स्वरों) का युग्मं जोड़ा (हो), त्यक्तात् छोड़े हुए (स्वर) से अपि ही एवं-एव इसी प्रकार (स्वरों का युग्म) चेत् हो, (हर युग्म) द्विः द्विः दो-दो बार प्रयुज्येत प्रयुक्त किया जाता है तदा तब बुधसंमतः बुद्धिमानों द्वारा सम्मत विधूतः विधूत (अलंकार होता है)।

सगसग रिमरिम गपगप मधमध पनिपनि। (५)

६. उपलोलः

कलायामाद्ययोर्युग्मं चेत्तृतीयद्वितीययोः।
द्विर्द्विः प्रयुज्यते तज्ज्ञैरुपलोलस्तदोच्यते॥ ६१॥
सरिसरिगरिगरि रिगरिगमगमग गमगमपमपम मपमपधपधप पधपधनिधनिध। (६)

६. उपलोल

६१. (अ०) कलायां (एक) कला में आद्ययोः प्रथम दो (स्वरों) का (और) तृतीय-द्वितीययोः तीसरे (तथा) दूसरे (स्वरों) का युग्मं चेत् जोड़ा हो (और दोनों को) द्विः द्विः प्रयुज्यते दो-दो बार प्रयुक्त किया जाता है तदा तब तज्ज्ञैः उसके (अलंकारों के) ज्ञाताओं के द्वारा उपलोलः उपलोल (अलंकार) उच्यते कहा जाता है।

सरिसरिगरिगरि रिगरिगमगमग गमगमपमपम मपमपधपधप पधपधनिधनिध। (६)

७. उल्लासितः

द्विर्गीत्वाऽऽद्यं तृतीयं च प्रथमं च तृतीयकम्।
सकृद्गायेद्यत्कलायां तमुल्लासितमूचिरे॥ ६२॥
ससगसग रिरिमरिम गगपगप ममधमध पपनिपनि। (७)

इति सप्तालङ्काराः

७. उल्लासित

६२. (अ०) यत्-कलायां जिसकी (एक) कला में आद्यं प्रथम (स्वर) को द्विः गीत्वा दो बार गाकर तृतीयं च प्रथमं च तृतीयकं तीसरा और पहला और (फिर से) तीसरा (स्वर) सकृत् एक (-एक) बार गायेत् गाया जाय तं उसे उल्लासितं उल्लासित (अलंकार) ऊचिरे कहा जाता है।

ससगसग रिरिमरिम गगपगप ममधमध पपनिपनि। (७)

सप्त अलंकार समाप्त

इति प्रसिद्धालङ्कारास्त्रिषष्टिरुदिता मया।
अनन्तत्वात्तु ते शास्त्रे न सामस्त्येन कीर्तिताः॥ ६३॥

६३. (अ०) इति इस प्रकार मया मेरे द्वारा त्रिषष्टिः त्रेसठ प्रसिद्ध–अलङ्काराः प्रसिद्ध अलंकार उदिताः कहे गए। अनन्तत्वात् तु अनन्तता होने से तो ते वे शास्त्रे शास्त्र में सामस्त्येन समस्त रूप से न कीर्तिताः नहीं कहे गए।

(सर०) स्वरों की संख्या और क्रम में परिवर्तन से अनन्त अलंकारों का निर्माण हो सकता है जिनका निरूपण करना असंभव है। लेकिन चार वर्णों में क्रमशः ७, १२, १२, २५ और अन्य ७ प्रसिद्ध—कुल ६३ अलंकारों का निरूपण ग्रंथकार ने यहाँ किया है जब कि भरत और मतंग ने ३३ अलंकार ही कहे। मतंग के बाद जिन अलंकारों का विकास अथवा स्वरूप निर्धारण हुआ होगा संभवतः उनमें से ज्यादा प्रचलित ३० अलंकार ग्रंथकार ने और ले लिये। ये सभी किसी न किसी वर्ण में रखे गए। लेकिन ७ अन्य अलंकारों को किसी वर्ण में नहीं रखा है। इन अलंकारों के स्वरूप में शार्ङ्गदेव के समय तक परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। उसके स्थायी, आरोही और अवरोही वर्ण के कई अलंकार ऐसे हैं जो स्वरों के क्रम के आधार पर संचारी वर्ण में रखने योग्य हैं। ऐसा लगता है कि देशी संगीत में कामचार की छूट होने के कारण जो अलंकार जिस रूप में प्रचलित हो गया वह शास्त्र में भी उसी वर्ण के अन्तर्गत अथवा बिना किसी वर्ण के स्वीकार कर लिया गया।

अलङ्कारप्रयोजनम्

रक्तिलाभः स्वरज्ञानं वर्णाङ्गानां विचित्रता।
इति प्रयोजनान्याहुरलङ्कारनिरूपणे॥ ६४॥

इति प्रथमे स्वरगताध्याये षष्ठं वर्णालङ्कारप्रकरणम्॥ ६॥

अलंकारों का प्रयोजन

६४. (अ०) रक्तिलाभः रंजकता की प्राप्ति, स्वरज्ञानं स्वर का ज्ञान (और) वर्णाङ्गानां विचित्रता वर्णांगों की विविधता अलङ्कारनिरूपणे अलंकारों का निरूपण (करने) में इति ये प्रयोजनानि आहुः प्रयोजन कहे गये हैं।

(सर०) अलंकार के ३ प्रयोजन यहाँ बताए हैं—रंजकता, स्वरज्ञान और विविधता। ये तीनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इनमें कई ऐसे अलंकार हैं जिनके अभ्यास से स्वरज्ञान और स्वायत्तता (यानी स्वरों की 'फेंक' पर अधिकार) प्राप्त होती है जिसके फलस्वरूप विविधता और रंजकता उत्पन्न हो सकती है।

प्रथम स्वरगताध्याय का वर्णालङ्कार नामक छठा प्रकरण समाप्त॥ ६॥

अथ सप्तमं जातिप्रकरणम्

सातवाँ जाति प्रकरण

शुद्धाजातयः तासां नामानि च

शुद्धाः स्युर्जातयः सप्त ताः षड्जादिस्वराभिधाः।
षाड्ज्यार्षभी च गान्धारी मध्यमा पञ्चमी तथा॥ १॥

धैवती चाथ नैषादी,

शुद्धा जातियाँ और उनके नाम

१-२ क. (अ०) शुद्धाः जातयः शुद्धा जातियाँ सप्त स्युः सात होतीं हैं। ताः वे षड्जादि-स्वर-अभिधाः षड्ज आदि स्वरों के नाम वाली (होती हैं)—षाड्जी आर्षभी च षाड्जी और आर्षभी, गान्धारी मध्यमा तथा पञ्चमी गान्धारी, मध्यमा और पंचमी अथ धैवती नैषादी च इसके बाद धैवती और नैषादी।

(सर०) मतंग ने जाति का लक्षण कई तरह से दिया है। जैसे—(१) श्रुति, ग्रह, स्वर आदि के समूह से उत्पन्न होने के कारण जाति कहलाती हैं—'*जायन्त इति जातयः*'। (२) इनसे रस प्रतीति उत्पन्न (*जायते*) या आरम्भ (*आरभ्यते*) होती है इसलिये जाति है। (३) सब रागों के जन्म का कारण (*जन्महेतुत्वात्*) होने से जाति हैं। (४) जिस प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मणत्व आदि जाति होती हैं उसी प्रकार संगीत में भी शुद्धा-विकृता आदि जातियाँ होती हैं।

पहले लक्षण में स्वयं उत्पन्न होने के कारण 'जाति' की सार्थकता दिखाई गई है। दूसरे और तीसरे में रस प्रतीति और रागों को उत्पन्न करने से 'जाति' संज्ञा सार्थक है। अन्तिम लक्षण में केवल सादृश्य दिखाया गया है।

'जाति' शब्द 'जन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है जिसके अर्थ हैं जन्म, उत्पत्ति, उत्पन्न। मतंग ने दो तरह से लक्षण देकर उत्पन्न और उत्पत्तिस्थान यानी जन्य और जननी दोनों रूपों में जाति शब्द को निष्पन्न किया है।

कल्लि० के अनुसार 'जाति का अर्थ है—सामान्य या अविशेष। जैसे अनेक गायों में 'गोत्व' (गायपन) सामान्य लक्षण होता है उसी तरह अनेक गीतों में जो अनुवृत्ति होती है यानी सामान्य होता है वह जाति है। गीतों के अनुगत होकर ही जाति रहती है, उनसे अलग नहीं, जैसे गोत्व गायों में ही रहता है, उनसे अलग नहीं।

तात्पर्य यह है कि जाति शब्द समूह का सूचक है। किसी जाति के अन्तर्गत जितने व्यक्ति होते हैं उन सभी में कुछ लक्षण सामान्य होते हैं इसलिये वे सभी उस जाति में रखे जाते हैं; जैसे, सभी चतुष्पाद (चौपाये) पशु जाति में। जिन गेय रूपों को जाति संज्ञा दी गई है उन्हें यह संज्ञा देने का कारण यही है कि वे सभी श्रुति, ग्रह स्वर आदि के समूह से उत्पन्न होती हैं अर्थात् विशेष प्रकार की श्रुति व्यवस्था वाले स्वरों के ऐसे विशिष्ट समूहों से उत्पन्न होती हैं जो प्रयोजन भेद से ग्रह-अंश आदि

रूप धारण करते हैं; सभी से रसप्रतीति होती है और सभी से राग उतपन्न होते हैं और सभी ग्रह-अंश आदि लक्षणों से युक्त होती हैं।

अभिनव ने दस लक्षणों से युक्त ऐसे विशिष्ट स्वर-संनिवेशों को जाति कहा है जो रक्ति, अदृष्ट फल और अभ्युदय को जन्म देते हैं (ना० शा०, २८/६६, अभि०, पृ० ४३, पं० २२-२४)।

जिन जातियों का नाम स्वरों से होता है वे शुद्धा कहलाती हैं; जैसे, षड्ज से षाड्जी। सातों स्वरों से ७ शुद्धा जातियाँ कही गई हैं जिनके नाम ये हैं—षाड्जी, आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी, धैवती और नैषादी अथवा निषादवती।

शुद्धाया लक्षणम्

शुद्धतालक्ष्म कथ्यते।
यासां नामस्वरो न्यासोऽपन्यासोंऽशो ग्रहस्तथा॥ २॥
तारन्यासविहीनास्ताः पूर्णाः शुद्धाभिधा मताः।

शुद्धा जाति का लक्षण

२ ख-३ ख. (अ०) शुद्धतालक्ष्म शुद्धता का लक्षण कथ्यते कहा जाता है (अर्थात् कहते हैं)। यासां नामस्वरः जिनका नामस्वर ग्रहः अंशः न्यासः तथा अपन्यासः ग्रह, अंश, न्यास और अपन्यास (हो), तारन्यासविहीनाः (जो) तार (स्थान) में न्यासरहित (हों और जो) पूर्णाः पूर्ण (हों) ताः वे शुद्धा-अभिधाः शुद्धा संज्ञा वाली मताः मानी गई हैं।

(सर०) शुद्धता के ३ लक्षण यहाँ बताए हैं—१. जाति का नाम जिस स्वर से हो वही स्वर जाति में ग्रह, अंश, न्यास और अपन्यास हो, २. न्यास तार स्थान में न हो और ३. पूर्ण हो। ये लक्षण जिनमें हों वे शुद्धा कहलाती हैं।

भरत के अनुसार न्यास मन्द्र में होना चाहिये (वही, २८/४५ का गद्यांश)। कल्लि० ने भरत के इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा कि भरत ने तार का निषेध करने के लिये ही शुद्धा में न्यास मन्द्र में कहा है। तदनुसार ग्रन्थकार ने शुद्धा में न्यास का तारनिषेधपरक लक्षण दिया है। इसका आशय यह है कि न्यास मन्द्र अथवा मध्य में हो सकता है, अन्यथा मतंग ने जो षाड्जी में मध्यषड्ज को न्यास कहा है वह निरर्थक हो जायगा।

विकृताया लक्षणम्

विकृता न्यासवर्जैतल्लक्ष्महीना भवन्त्यमूः॥ ३॥

विकृता जाति का लक्षण

३ ग-घ. (अ०) न्यासवर्जं न्यास (के नियम को) छोड़कर एतत् इन (शुद्धा जातियों) के लक्ष्महीना (शेष) लक्षणों से हीन अमूः ये विकृताः भवन्ति विकृता (जातियाँ) होती हैं।

(सर०) शुद्धा जातियों के लक्षणों में से न्यास का नियम विकृता जातियों में भी अपरिवर्तनीय है यानी नामस्वर ही न्यास होना चाहिये। लेकिन भरत के अनुसार न्यास मन्द्र में होने का विकृता में 'अनियम' है यानी किसी भी स्थान में न्यास हो सकता है। शेष चार लक्षणों—ग्रह, अंश, न्यास और संपूर्णता—में से एक या ज्यादा का भंग करके विकृता जातियाँ बनती हैं। यानी जिस शुद्धा जाति में जो नामकारी स्वर ग्रह, अंश, अपन्यास हो उसके स्थान पर कोई दूसरा स्वर ग्रहादि हो जाय और पूर्णता का भंग करके यानी किसी स्वर को वर्जित करके जो रूप बनता है वह उस शुद्धा जाति का विकृत भेद होता है।

न्यास नियम का पालन करना इसलिये जरूरी है कि विकृता किस शुद्धा जाति का भेद है इसका बोध कराने वाला न्यास स्वर ही होता है।

ऊपर कहे गये शुद्धा जाति के चार लक्षणों में से किसी का भंग होने से विकृता जाति बनने पर उसका नाम वही रहता है जो शुद्धा का हो लेकिन वह शुद्धा के स्थान पर विकृता कहलाती है। जैसे—शुद्धा षाड्जी के भेद को विकृता षाड्जी कहा जायगा। ये विकृता जातियाँ उन संसर्गजा विकृता जातियों से भिन्न हैं जो विकृता जातियों के मिश्रण से बनती हैं।

विकृतभेदाः

संपूर्णत्वग्रहांशापन्यासेष्वेकैकवर्जनात्।
भवन्ति भेदाश्चत्वारो द्वयोस्त्यागे तु षण्मताः॥ ४॥

त्यागे त्रयाणां चत्वार एकस्त्यक्ते चतुष्टये
भेदाः पञ्चदशैवैते षाड्ज्याः सद्भिर्निरूपिताः॥ ५॥

तत्राष्टौ पूर्णताहीनाः सप्त त्वितरवर्जिताः।

विकृताओं के भेद

४-६ ख. (अ०) संपूर्णत्व-ग्रह-अंश-अपन्यासेषु संपूर्णता, ग्रह, अंश (और) अपन्यास (इन चार लक्षणों) में (से) एक-एक-वर्जनात् एक-एक का भंग करने से चत्वारः भेदाः चार भेद भवन्ति होते हैं। द्वयोः त्यागे तु दो (-दो) का त्याग करने से तो षट् ६ (भेद) मताः माने गए हैं। त्रयाणां त्यागे तीन (तीन) का त्याग करने पर चत्वारः चार (भेद होते हैं और) चतुष्टये त्यक्ते चारों का त्याग करने पर एकः एक (भेद)—षाड्ज्याः षाड्जी के एते ये पञ्चदश भेदाः एव पन्द्रह भेद ही सद्भिः बुद्धिमानों के द्वारा निरूपिताः निरूपित किये गये हैं। तत्र उनमें से अष्टौ आठ (भेद) पूर्णताहीनाः संपूर्णता से रहित (और) सप्त तु सात तो इतर अन्य (लक्षणों) से वर्जिताः वर्जित होते हैं।

(सर०) कल्लि० ने कहा है कि संपूर्णत्व का भंग करने पर षाडव-औडव के अलावा क्रमशः ४, ३, २ और १ स्वर प्रयोग भी संभव है लेकिन 'असंपूर्ण' में 'नञ्' उपसर्ग है जो 'सदृश' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये इसका अर्थ है संपूर्ण के सदृश। यह सदृशता षाडव-औडव तक ही रहती है इसलिये जातियों में संपूर्णत्व का भंग इन दो भेदों तक ही सीमित है। अवकृष्ट ध्रुवा* में चतुःस्वर प्रयोग भी विहित माना गया है।

इन विकृत भेदों का विवरण इस तालिका में देखा जा सकता है—

१. एक लक्षण के भंग से बनने वाले भेद

(१) संपूर्णत्व के भंग से	१
(२) ग्रह-भेद से	१
(३) अंश-भेद से	१
(४) अपन्यास भेद से	१ = ४

---

* 'ध्रुवा' के लिये द्रष्टव्य लेखिका की पुस्तकें—१. भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, प्रका०, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर और २. Time Measure And Compositional Types in Indian Music, प्रका०, आदित्य प्रकाशन, दिल्ली।

२. दो लक्षणों के भंग से बनने वाले भेद

(५) संपूर्ण-ग्रह भंग से	१
(६) संपूर्ण-अंश भंग से	१
(७) संपूर्ण-अपन्यास भंग से	१
(८) ग्रह-अंश भंग से	१
(९) ग्रह-अपन्यास भंग से	१
(१०) अंश-अपन्यास भंग से	१ = ६

३. तीन लक्षणों के भंग से बनने वाले भेद

(११) संपूर्ण, ग्रह, अंश भंग से	१
(१२) संपूर्ण, ग्रह, अपन्यास भंग से	१
(१३) संपूर्ण, अंश, अपन्यास भंग से	१
(१४) ग्रह, अंश, अपन्यास भंग से	१ = ४

४. चार लक्षणों के भंग से बनने वाले भेद

(१५) संपूर्ण, ग्रह, अंश, अपन्यास भंग से	१ = १
कुल	१५

इनमें से १, ५, ६, ७, ११, १२, १३ और १५ संख्यक ८ भेद ऐसे हैं जिनमें संपूर्णता का भंग होता है, शेष भेद अन्य लक्षणों में विकार के कारण बनते हैं।

भरतभाष्य में षाड्जी जाति के ९५ विकृत भेद कहे गए हैं जिनके बारे में षाड्जी जाति की व्याख्या में कहा जायगा।

द्विधा स्युः पूर्णताहीनाः षाडवौडुवभेदतः॥ ६॥

अतोऽष्टावधिका आर्षभ्यादिष्वौडुवजातिषु।
अतस्त्रयोविंशतिधा षटसु प्रत्येकमीरिताः॥ ७॥

६ ग-७. (अ०) षाडव-औडुवभेदतः षाडव-औडव भेद से **पूर्णताहीनाः** पूर्णतारहित (जातियाँ) **द्विधा स्युः** दो प्रकार की होती हैं। **अतः** इसलिए **आर्षभी-आदिषु औडुव जातिषु** आर्षभी आदि औडव जातियों में **अष्टौ अधिकाः** आठ (भेद) अधिक (होते हैं)। **अतः** इसलिए **षट्सु प्रत्येकं** (आर्षभी आदि) ६ (जातियों) में (से) हरेक **त्रयोविंशतिधा** २३ प्रकार की **ईरिताः** कही गई है।

(सर०) षाड्जी में औडव भेद नहीं होते, केवल षाडव भेद ही बनते हैं। इसीलिये इसमें संपूर्णत्व का भंग करके ८ षाडव भेद मिलाकर १५ भेद ही होते हैं। लेकिन अन्य जातियों में संपूर्णत्व का भंग करके षाडव और औडव दोनों तरह के ८-८ भेद बनने के कारण २३-२३ भेद होते हैं। कुल मिलाकर (२३ × ६ = १३८ + १५ =) १५३ विकृत भेद होते हैं।

संसर्गजविकृताभेदाः

विकृतानां तु संसर्गाज्जाता एकादश स्मृताः।
स्यात्षड्जकैशिकी षड्जोदीच्यवा षड्जमध्यमा॥ ८॥

गान्धारोदीच्यवा रक्तगान्धारी कैशिकी तथा।
मध्यमोदीच्यवा कार्मारवी गान्धारपञ्चमी॥ ९॥

तथाऽऽन्ध्री नन्दयन्तीति,

संसर्गजाविकृता भेद

८-१० क. (अ०) विकृतानां विकृता (जातियों) के संसर्गात्-जाता तु संसर्ग से उत्पन्न तो एकादश स्मृताः ग्यारह मानी गई हैं। षड्जकैशिकी स्यात् (पहली) षड्जकैशिकी होती है, षड्जोदीच्यवा षड्जोदीच्यवा, षड्जमध्यमा षड्जमध्यमा, गान्धारोदीच्यवा गान्धारोदीच्यवा, रक्तगान्धारी रक्तगांधारी तथा कैशिकी और कैशिकी, मध्यमोदीच्यवा मध्यमोदीच्यवा, कार्मारवी कार्मारवी, गान्धारपञ्चमी गान्धारपंचमी, आन्ध्री तथा नन्दयन्ती आंध्री और नन्दयन्ती इति ये (संसर्गजा विकृता जातियाँ होती हैं)।

(सर०) शुद्धा जातियों का मिश्रण नहीं होता लेकिन उनके विकृत भेदों के संसर्ग (मिश्रण) से ११ नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं इसलिये वे संसर्गजा विकृता जातियाँ कहलाती हैं। ये नित्यविकृता होती हैं।

संसर्गजविकृतासु जातीनां मिश्रणम्

तद्धेतूनधुना ब्रुवे।
षाड्जीगान्धारिकायोगाज्जायते षड्जकैशिकी॥ १०॥

षाड्जिकामध्यमाभ्यां तु जायते षड्जमध्यमा।
गान्धारीपञ्चमीभ्यां तु जाता गान्धारपञ्चमी॥ ११॥

गान्धार्यार्षभिकाभ्यां तु जातिरान्ध्री प्रजायते।
षाड्जीगान्धारिका तद्वद्धैवती मिलितास्त्विमाः॥ १२॥

षड्जोदीच्यवतीं जातिं कुर्युः कार्मारवीं पुनः।
उत्पादयन्ति नैषादीपञ्चम्यार्षभिका युताः॥ १३॥

नन्दयन्तीं तु गान्धारीपञ्चम्यार्षभिका युताः।
गान्धारी धैवती षाड्जी मध्यमेति युतास्त्विमाः॥ १४॥

गान्धारोदीच्यवां कुर्युर्मध्यमोदीच्यवां पुनः।
एता एव विना षाड्ज्या पञ्चम्या सह कुर्वते॥ १५॥

कुर्युस्ता रक्तगान्धारीं नैषादी च न धैवती।
आर्षभीं धैवतीं त्यक्त्वा पञ्चभ्यः कैशिकी भवेत्॥ १६॥

संसर्गजाविकृता जातियों में मिश्रित जातियाँ

१० ख-१६. (अ०) अधुना अब तत् हेतून् उनके हेतुओं को (अर्थात् वे कारणभूत जातियाँ जिनके मिश्रण से ये बनती

हैं) ब्रुवे कहा जाता है। षाड्जी-गान्धारिका-योगात् षाड्जी (और) गान्धारी के योग (मिश्रण) से षड्जकैशिकी जायते षड्जकैशिकी उत्पन्न होती है। षाड्जिका-मध्यमाभ्यां तु षाड्जी (और) मध्यमा से तो षड्जमध्यमा जायते षड्जमध्यमा उत्पन्न होती है। गान्धारी-पञ्चमीभ्यां तु गांधारी (और) पंचमी से तो गान्धारपञ्चमी जाता गांधारपंचमी उत्पन्न हुई। गान्धारी-आर्षभिकाभ्यां तु गांधारी और आर्षभी से तो आन्ध्री जाति आंध्री जाति प्रजायते उत्पन्न होती है। षाड्जी गान्धारिका षाड्जी, गांधारी तद्वत् साथ ही धैवती मिलिताः तु धैवती के मिलने से तो इमाः ये (तीनों जातियाँ) षड्जोदीच्यवतीं जातिं षड्जोदीच्यवती जाति को कुर्युः करती (बनाती) हैं। पुनः फिर नैषादी-पञ्चमी-आर्षभीयुताः नैषादी, पंचमी (और) आर्षभी मिलकर कार्मारवीं उत्पादयन्ति कार्मारवी को उत्पन्न करती हैं। नन्दयन्तीं तु नन्दयन्ती को तो गान्धारी-पञ्चमी-आर्षभिका युताः गांधारी, पंचमी (और) आर्षभी मिलकर (बनाती हैं)। गान्धारी धैवती षाड्जी मध्यमा इति गांधारी, धैवती, षाड्जी (और) मध्यमा—इस प्रकार इमाः युताः तु ये मिलकर तो गान्धारोदीच्यवां कुर्युः गांधारोदीच्यवा को (करती) बनाती हैं। पुनः फिर एता एव यही (जातियाँ) षाड्ज्या विना षाड्जी के बिना पञ्चम्या सह पंचमी के साथ मध्यमोदीच्यवां कुर्वते मध्यमोदीच्यवा को करती (बनाती) हैं। ताः वही (जातियाँ) नैषादी च नैषादी सहित धैवती न धैवती के बिना रक्तगान्धारीं कुर्युः रक्तगान्धारी को करती (बनाती) हैं। आर्षभीं धैवतीं त्यक्त्वा आर्षभी और धैवती को छोड़कर पञ्चभ्यः पाँच (जातियों) से कैशिकी भवेत् कैशिकी होती है।

(सर०) संसर्गजा विकृता जातियों में से किस-किस जाति में किन-किन विकृता जातियों का मिश्रण है यह यहाँ निरूपित किया है।

जातीनां ग्रामविभागः

चतस्रः षड्जशब्दिन्यो नैषादी धैवती तथा।
आर्षभी चेति सप्तैताः षड्जग्रामस्य जातयः॥ १७॥
शेषाः स्युर्मध्यमग्रामे,

जातियों का ग्रामविभाजन

१७-१८ क. (अ०) षड्जशब्दिन्यः षड्ज शब्द वाली चतस्रः चार तथा तथा नैषादी धैवती आर्षभी च नैषादी, धैवती और आर्षभी इति एताः सप्त इस प्रकार ये सात षड्जग्रामस्य जातयः षड्जग्राम की जातियाँ (हैं) शेषाः शेष (ग्यारह) मध्यमग्रामे स्युः मध्यमग्राम में होती हैं।

(सर०) 'षड्ज शब्द वाली' का अर्थ है जिनके नाम में शुरू में षड्ज शब्द है यानी षाड्जी, षड्जकैशिकी, षड्जोदीच्यवा और षड्जमध्या। ये ४ और आर्षभी, धैवती तथा नैषादी—ये ३ मिलाकर ७ षड्जग्राम की जातियाँ हैं, शेष ११ मध्यमग्राम की हैं।

संसर्गजा जातियों का ग्रामविभाजन और उनमें जातियों का मिश्रण नीचे की तालिका में देखा जा सकता है।

जातिनाम	ग्राम	मिश्रित जातियाँ
१. षड्जकैशिकी	षड्जग्राम	षाड्जी, गांधारी
२. षड्जोदीच्यवा	षड्जग्राम	षाड्जी, गांधारी, धैवती
३. षड्जमध्या	षड्जग्राम	षाड्जी, मध्यमा
४. गान्धारोदीच्यवा	मध्यमग्राम	षाड्जी, गांधारी, मध्यमा, धैवती
५. रक्तगान्धारी	मध्यमग्राम	गांधारी, मध्यमा, पंचमी, नैषादी

६. कैशिकी	मध्यमग्राम	षाड्जी, गांधारी, मध्यमा, पंचमी, नैषादी
७. मध्यमोदीच्यवा	मध्यमग्राम	गांधारी, मध्यमा, पंचमी, धैवती
८. कार्मारवी	मध्यमग्राम	आर्षभी, पंचमी, नैषादी
९. गान्धारपञ्चमी	मध्यमग्राम	गान्धारी, पंचमी
१०. आन्ध्री	मध्यमग्राम	आर्षभी, गान्धारी
११. नन्दयन्ती	मध्यमग्राम	आर्षभी, गान्धारी, पंचमी

पूर्णत्वादिनियमाः

पूर्णत्वाद्यधुनोच्यते।

पूर्णत्व आदि नियम

१८ ख. (अ०) अधुना अब पूर्णत्वादि पूर्णत्व आदि उच्यते कहा जाता है।

(सर०) १८ जातियों में से कुछ संपूर्ण, कुछ षाडव और कुछ औडव होती हैं, यही अगले श्लोकों में बताया जा रहा है।

कार्मारव्यथ गान्धारपञ्चमी षड्जकैशिकी॥ १८॥

मध्यमोदीच्यवेत्येता नित्यपूर्णाः प्रकीर्तिताः।

१८ ग-१९ ख. (अ०) कार्मारवी अथ गान्धारपञ्चमी कार्मारवी इसके बाद गांधारपंचमी षड्जकैशिकी मध्यमोदीच्यवा षड्जकैशिकी (और) मध्यमोदीच्यवा इति एताः इस प्रकार ये नित्यपूर्णाः प्रकीर्तिताः नित्यपूर्णा (के रूप में) प्रसिद्ध हैं।

(सर०) ऊपर कही गई चार जातियाँ षाडव-औडव भेदरहित होने से नित्यपूर्णा कही गई हैं।

षाड्जी च नन्दयन्त्यान्ध्री गान्धारोदीच्यवेत्यमूः॥ १९॥

सम्पूर्णषाडवाः प्राह चतस्त्रः काश्यपो मुनिः।

१९ ग-२० ख. (अ०) षाड्जी च नन्दयन्ती षाड्जी और नन्दयन्ती, आन्ध्री गान्धारोदीच्यवा च आन्ध्री और गांधारोदीच्यवा इति अमूः चतस्त्रः इस प्रकार ये चार (जातियाँ) काश्यपः मुनिः काश्यप मुनि ने संपूर्णषाडवाः संपूर्ण (और) षाडवा प्राह प्रकर्ष से कहीं।

(सर०) इन चार जातियों में नियमानुसार केवल १-१ स्वर का लोप ही संभव है इसलिये ये षाडव तो हो सकती हैं लेकिन औडव नहीं।

दशावशिष्टाः संपूर्णषाडवौडुविता मताः॥ २०॥

२० ग-घ. (अ०) अवशिष्टाः दश शेष दस (जातियाँ) संपूर्ण-षाडव-औडुविता मताः संपूर्ण, षाडव (और) औडव मानी गई हैं।

(सर०) ऊपर कही गई ८ जातियों के अलावा शेष १० जातियों के षाडव-औडव दोनों प्रकार संभव हैं।

किन जातियों में किन स्वरों के लोप से षाडव-औडव भेद बनते हैं यह कल्लि० ने व्याख्या में गिना दिया है।

जातिषु स्वरसाधारणप्रयोगनियमः

पञ्चमीमध्यमाषड्जमध्यमाऽऽख्यासु जातिषु।
स्वरसाधारणं प्रोक्तं मुनिभिर्भरतादिभिः॥ २१॥
अंशेषु समपेष्वेतद्यथास्वनियमाद्भवेत्।

जातियों में स्वरसाधारण के प्रयोग का नियम

२१-२२ ख. (अ०) भरतादिभिः मुनिभिः भरतादि मुनियों के द्वारा पञ्चमी-मध्यमा-षड्जमध्यमा-आख्यासु पंचमी, मध्यमा (और) षड्ज-मध्यमा नाम वाली (जातियों) में (ही) स्वरसाधारणं प्रोक्तं स्वरसाधारण (का प्रयोग) कहा गया है। स-म-पेषु अंशेषु स, म, प अंश होने पर एतत् यह (स्वरसाधारण का प्रयोग) यथा स्वनियमात् अपने (अंश के) नियम से भवेत् होता है।

(सर०) भरतादि के अनुसार उक्त तीन जातियों में ही स्वरसाधारण का प्रयोग होता है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया है कि इन जातियों में अन्य स्वर अंश होने पर स्वरसाधारण का प्रयोग नहीं होता बल्कि पंचमी, मध्यमा और षड्जमध्यमा में यथायोग षड्ज, मध्यम और पंचम के अंशत्व में ही होता है। 'यथास्वनियम' का अर्थ करते हुए उसने स्वरसाधारण प्रकरण में दिए गए नियम का स्मरण कराया है जिसके अनुसार काकली का प्रयोग सनिस अथवा सनिध तथा अन्तर गान्धार का प्रयोग मगम अथवा मगरि—इस प्रकार करना चाहिए। उसके अनुसार स्वरसाधारण का अर्थ साधारण स्वर यानी अन्तर-काकली का प्रयोग करना है। अभिनव द्वारा इन जातियों के संदर्भ में भरतोक्त स्वरसाधारण के अर्थ से भी कल्लि० की पुष्टि होती है। (ना०शा०, २८, पृ० ३६, पं० १८-२१)।

सिंह० ने 'यथास्वनियमात्' का अर्थ 'अपने स्थान का अतिक्रमण किए बिना' किया है और स्वरसाधारण प्रयोग को षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण से जोड़ते हुए षड्ज अंश होने पर षड्जसाधारण और मध्यम-पंचम अंश होने पर मध्यमसाधारण का प्रयोग कहा है। यह संबंध जोड़ने का कारण यह दिखाई देता है कि मध्यमा और पंचमी मध्यमग्राम की जातियाँ हैं इसलिये त्रिश्रुतिक पंचम के रहते मध्यमग्राम का प्रयोग संभव है तथा षड्जमध्यमा षड्जग्रामिक है जिसमें त्रिश्रुतिक ऋषभ के कारण षड्जसाधारण संभ्भव है। लेकिन षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण के प्रयोग का दो ग्रामों से संबंध अभिनवगुप्त के द्वारा पुष्ट नहीं होता, बल्कि विपरीत है।

एतदल्पनिगास्वाहुः कम्बलाश्वतरादयः॥ २२॥
अल्पद्विश्रुतिके रागाभाषाऽऽदावपि तन्मतम्।

२२ ग-२३ ख. (अ०) कम्बल-अश्वतर-आदयः कम्बल, अश्वतर आदि ने एतत् यह (स्वरसाधारण का प्रयोग) अल्प-नि-गासु अल्प ग-नि वाली (जातियों) में आहुः कहा है। अल्पद्विश्रुतिके अल्प द्विश्रुतिक (ग-नि स्वर वाले) रागभाषादौ-अपि राग, भाषा आदि में भी तत् वह (स्वरसाधारण का प्रयोग होता है ऐसा) मतं माना गया है।

(सर०) स्वरसाधारण का प्रयोग जातियों की उन्हीं अवस्थाओं में होता है जब ग-नि अल्प या वर्ज्य हों। जातियों से उत्पन्न रागों और भाषाओं (भाषा रागों) में भी ग-नि के अल्पत्व में स्वरसाधारण हो सकता है, ऐसा कम्बल, अश्वतर आदि आचार्यों का मत है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि 'राग' से ग्रामराग, उपराग, राग का, 'भाषा' से भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा और 'आदि' से रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग—सभी रागों का ग्रहण होता है, ऐसा समझना चाहिए।

निगयोरंशयोः षड्जमध्यमायां न तद्भवेत्॥ २३॥
विकृता एव तत्रापि स्वरसाधारणाश्रयाः।

२३ ग-२४ ख. (अ०) षड्जमध्यमायां षड्जमध्यमा (जाति) में नि-गयोः अंशयोः नि-ग अंश होने पर तत् वह (स्वरसाधारण प्रयोग) न भवेत् नहीं होता। तत्रापि उन (तीन जातियों) में भी विकृता एव विकृता (जातियाँ) ही स्वरसाधारण-आश्रयाः स्वरसाधारण की आश्रय होती हैं।

(सर०) ऊपर कहा जा चुका है कि ग-नि अल्प होने पर ही साधारण स्वरों का प्रयोग होता है। अन्वय के बाद अब व्यतिरेक के द्वारा उसी कथन की पुष्टि की है। षड्जमध्यमा में जब ग-नि अंश हों तब स्वरसाधारण का प्रयोग नहीं होता क्योंकि ग-नि अल्प या वर्जित हों तभी स्वरसाधारण होता है। ग-नि जब अंश हों तब वे बलवान् होते हैं। स्वरसाधारण शुद्धा जातियों में नहीं, विकृताओं में ही होता है। तदनुसार मध्यमा और पंचमी जातियों में जो स्वरसाधारण कहा गया है वह उनकी शुद्धावस्था में नहीं बल्कि विकृतावस्था में ही संभव है।

अंशसंख्या

एकांशा नन्दयन्ती च मध्यमोदीच्यवा तथा॥ २४॥
गान्धारपञ्चमीत्येतास्तिस्रो द्व्यंशास्तु धैवती।
गान्धारोदीच्यवा चाथ पञ्चमीत्युदिता इमाः॥ २५॥

जातियों में अंशसंख्या

२४ ग-२५. (अ०) नन्दयन्ती च मध्यमोदीच्यवा तथा गान्धारपञ्चमी नन्दयन्ती और मध्यमोदीच्यवा तथा गान्धारपंचमी इति एताः तिस्रः इस प्रकार ये तीन (जातियाँ) एक-अंशाः एक अंश वाली (हैं)। द्वि-अंशाः तु दो (-दो) अंश वाली तो धैवती गान्धारोदीच्यवा च धैवती और गान्धारोदीच्यवा अथ इसके बाद पञ्चमी पंचमी इति इमाः उदिताः इस प्रकार ये कही गई हैं।

(सर०) यहाँ से हर जाति में अंश स्वरों की संख्या बताई जा रही है।

नैषाद्यार्षभिकाषड्जकैशिक्यस्त्र्यंशिका मताः।
आन्ध्रीकार्मारवीषड्जोदीच्यवाश्चतुरंशिकाः॥ २६॥

पञ्चांशा रक्तगान्धारी गान्धारी मध्यमा तथा।
षाड्जीत्येताश्चतस्रः स्युः षडंशैकैव कैशिकी॥ २७॥

सप्तांशा सूरिभिः षड्जमध्यमा परिकीर्तिता।
इति त्रिषष्टिरंशाः स्युर्जातिष्वष्टादशस्विमे॥ २८॥

२६-२८. (अ०) नैषादी-आर्षभिका-षड्जकैशिक्यः नैषादी, आर्षभी और षड्जकैशिकी त्र्यंशिकाः मताः तीन (-तीन) अंश वाली मानी गई हैं। आन्ध्री-कार्मारवी-षड्जोदीच्यवाः आन्ध्री, कार्मारवी और षड्जोदीच्यवा चतुः-अंशिकाः चार (-चार) अंश वाली (हैं)। रक्तगान्धारी गान्धारी मध्यमा तथा षाड्जी रक्तगांधारी, गांधारी, मध्यमा और षाड्जी इति एताः चतस्रः इस प्रकार ये चार (जातियाँ) पञ्चांशाः स्युः पाँच (-पाँच) अंश वाली होती हैं। षडंशा एक-एव ६ अंश वाली केवल एक कैशिकी कैशिकी (है)। सूरिभिः विद्वानों के द्वारा षड्जमध्यमा षड्जमध्यमा सप्तांशा परिकीर्तिता ७ अंश वाली कही गई है। इति इस प्रकार इमे इन अष्टादशसु जातिषु १८ जातियों में त्रिषष्टिः अंशाः स्युः त्रेसठ अंश होते हैं।

(सर०) संपूर्णावस्था में १८ जातियों में कुल ६३ अंश होते हैं।

त्रयोदशविधं जातिलक्षणम्

ग्रहांशतारमन्द्राश्च न्यासापन्यासकौ तथा।
अपि सन्यासविन्यासौ बहुत्वं चाल्पता ततः॥ २९॥

एतान्यन्तरमार्गेण सह लक्ष्माणि जातिषु।
षाडवौडुविते क्वापीत्येवमाहुस्त्रयोदश॥ ३०॥

त्रयोदश जातिलक्षण

२९-३०. (अ०) ग्रह-अंश-तार-मन्द्राः च ग्रह, अंश, तार और मन्द्र न्यास-अपन्यासकौ तथा न्यास और अपन्यास, संन्यास-विन्यासौ अपि संन्यास और विन्यास भी बहुत्वम् अल्पता च बहुत्व और अल्पत्व ततः तब अन्तरमार्गेण सह अन्तरमार्ग के साथ जातिषु जातियों में एतानि लक्ष्माणि ये लक्षण (होते हैं)। क्वापि कुछ (जातियों) में षाडव-औडुविते षाडवित और औडुवित इति एवं इस प्रकार त्रयोदश आहुः तेरह (लक्षण) कहे जाते हैं।

(सर०) भरतादि ने १० जातिलक्षण ही कहे हैं; संन्यास, विन्यास का अपन्यास में और अन्तरमार्ग का अल्पत्व-बहुत्व में अन्तर्भाव कर लिया है। लेकिन ग्रंथकार ने इन्हें अलग रखा है। इनमें से षाडव-औडव सभी जातियों में नहीं होते क्योंकि शुद्धा जातियाँ तो संपूर्ण ही होती हैं और स्वरलोप भी सारी जातियों में नहीं होता। इसलिये सभी जातियों के षाडव-औडव भेद नहीं होते। इसीलिये ग्रंथकार ने इन दो लक्षणों को अन्त में रखते हुए कहा कि ये कुछ जातियों में ही होते हैं।

तत्र—(१) ग्रहलक्षणम्

गीतादिनिहितस्तत्र स्वरो ग्रह इतीरितः।
तत्रांशग्रहयोरन्यतरोक्तावुभयग्रहः॥ ३१॥

१. ग्रह

३१. (अ०) तत्र उनमें से (जिस स्वर में) गीत-आदिनिहितः गीत आदि निहित (हो वह) ग्रहः स्वरः इति ग्रह स्वर (है) ऐसा ईरितः कहा गया है। तत्र उस (गीतादि लक्षण) में अंशग्रहयोः अंश और ग्रह में से अन्यतरौ उक्तौ किसी एक के कहने पर उभयग्रहः (अंश और ग्रह) दोनों का ग्रहण (होता है)।

(सर०) ग्रहण करना या पकड़ना अर्थ वाली 'ग्रह्' धातु में 'अच्' प्रत्यय लगाकर 'ग्रहः' शब्द बनता है। तदनुसार जो स्वर गीतादि का ग्रहण कराए वह ग्रह स्वर होता है।

गीतादि के निहित होने का अर्थ है जिससे गीत शुरू हो। भरत ने कहा कि सब जातियों में ग्रह तो अंश के समान ही होते हैं अर्थात् जो अंश होते हैं वही ग्रह भी होते हैं (ना० शा०, २८/६७)। ग्रंथकार ने भी कहा कि ग्रह या अंश में से किसी एक को बताने पर दूसरे का भी ग्रहण हो जाता है। कल्लि० ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जब किसी जाति में केवल ग्रह या केवल अंश बताया जाय, दोनों नहीं, तो यह समझना चाहिए कि जिस स्वर को ग्रह कहा है वही अंश भी है अथवा जिसे अंश कहा हो वही ग्रह भी है।

सिंह० ने मतंग का वह अंश उद्धृत किया है जिसमें यह शंका उठाई गई है कि अगर अंश और ग्रह एक ही हैं तो दोनों में अन्तर क्या है? समाधान यह दिया है कि अंश तो वादी ही होता है लेकिन ग्रह वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी में से कुछ भी हो सकता है। यानी अंश या वादी के साथ संवाद, अनुवाद या विवाद करने वाला स्वर भी ग्रह हो सकता है। वादी होने

के कारण जाति में अंश प्रमुख स्वर होता है जिसके साथ शेष स्वरों का संवाद-विवाद संबंध स्थापित होता है। लेकिन ग्रह जब वादी अर्थात् अंश नहीं होता तो वह संवादी, विवादी आदि हो सकता है और उस स्थिति में वह अंश की अपेक्षा गौण ही होता है, विशेष रूप से जब विवादी स्वर ग्रह होगा तो वह अत्यल्प होने के कारण बहुत गौण रहेगा। अथवा यह अन्तर है कि राग का जनक होने के कारण अंश प्रधान होता है और ग्रह अप्रधान। अंश की प्रधानता इस कारण भी है कि वह जाति में रंजकता का जनक होता है और व्यापक रूप से रहता है। कल्लि० ने मतंग का यह मत अंशलक्षण की व्याख्या में उद्धृत किया है।

सामान्य रूप से जातियों में जो स्वर अंश होते हैं वही ग्रह भी होते हैं लेकिन कभी भिन्न भी हो सकते हैं, जैसे—नन्दयन्ती जाति में पंचम अंश और गान्धार ग्रह कहा गया है। अभिनव ने भी भरत के ग्रह लक्षण की व्याख्या में कभी अंश और ग्रह भिन्न होने का उल्लेख करते हुए नन्दयन्ती का उदाहरण दिया है (ना०शा०, २८/६७ पर अभि०)। भरत ने जातियों में ग्रह 'अंशवत्' कहे हैं।

२. अंशलक्षणम्

यो रक्तिव्यञ्जको गेये यत्संवाद्यनुवादिनौ।
विदार्यां बहुलौ यस्मात्तारमन्द्रव्यवस्थितिः॥ ३२॥

यः स्वयं यस्य संवादी चानुवादी स्वरोऽपरः।
न्यासापन्यासविन्याससंन्यासग्रहतां गतः॥ ३३॥

प्रयोगे बहुलः स स्याद्वाद्यंशो योग्यतावशात्।
बहुलत्वं प्रयोगेषु व्यापकं त्वंशलक्षणम्॥ ३४॥

२. अंश

३२-३४. (अ०) यः जो **गेये** गेय में **रक्तिव्यञ्जकः** रंजकता का व्यंजक (है), **विदार्यां** विदारियों में **यत्-संवादी-अनुवादिनौ बहुलौ** जिसके संवादी (और) अनुवादी अनेक (हों), **यस्मात्** जिससे **तारमन्द्र-व्यवस्थितिः** तार (और) मन्द्र की व्यवस्था (होती है), **यः** जो **स्वयं** स्वयं **यस्य** जिसका (अर्थात् अपना) **संवादी च** संवादी भी (है) (किन्तु) **अनुवादी स्वरः** (जिसका) अनुवादी स्वर **अपरः** अन्य (है), **न्यास-अपन्यास-विन्यास-संन्यास-ग्रहतां गतः** (जो) न्यास, अपन्यास, विन्यास, संन्यास (और) ग्रहता को प्राप्त होकर **प्रयोगे बहुलः** प्रयोग में बहुल (हो) **सः** वह **वादी** वादी (स्वर) **योग्यतावशात्** (अपनी) योग्यता के कारण **अंशः स्यात्** अंश होता है। **प्रयोगेषु** प्रयोगों में **व्यापकम् अंशलक्षणं तु** अंश का व्यापक लक्षण तो **बहुलत्वं** बहुलता (है)।

(सर०) 'अंश' शब्द टुकड़े करना और चमकना अर्थ वाली 'अंश्' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगा कर बनता है। यहाँ दोनों अर्थ सार्थक हैं। तार-मन्द्र व्यवस्थापक के रूप में उसकी व्युत्पत्ति 'अंशयतीति अंशः' है यानी जो टुकड़े करके सीमा बाँधता है। चमकना अर्थ अंश में सर्वत्र व्याप्त है क्योंकि बहुल या राग में रंजकता के व्यंजक के रूप में वह चमकता रहता है।

कल्लि० ने अंश के रक्तिव्यञ्जकत्व की व्याख्या करते हुए कहा कि यों तो रक्ति स्वरमात्र का लक्षण है इसलिये अंश के अलावा अन्य स्वरों में भी रक्ति होती है लेकिन गेय यानी विशिष्ट स्वरसंदर्भ की अपनी रक्तिरूप विशेषता को व्यक्त करने वाला अंश ही होता है इसलिये ग्रंथकार ने 'गेये' कहा है। जैसे रस पूरे वाक्य से ध्वनित होता है फिर भी किसी विशेष पद से उसकी व्यंजना होती है उसी प्रकार स्वरसंदर्भ में रंजकता होते हुए भी अंशत्व प्राप्त करने वाले स्वर में रंजकता की अभिव्यक्ति मानी गई है।

अंश ही तार-मन्द्र व्यवस्था का नियामक माना गया है। अंश के नीचे मन्द्रस्थान और अंश के दुगने स्वर से तारस्थान होता है। किसी जाति या राग आदि में मन्द्र और तार स्थान में कहाँ तक प्रयोग किया जाय यानी मन्द्र-तार की अवधि क्या हो यह अंश के आधार पर ही निश्चित होता है इसलिये अंश तार-मन्द्र की व्यवस्था करने वाला कहा गया है।

ग्रंथकार का कथन है कि अंश अपना संवादी तो हो सकता है लेकिन अनुवादी कभी नहीं। इसकी व्याख्या करते हुए कल्लि० ने उदाहरण दिया कि जैसे कोई राजा किसी कारणवश कभी अमात्य का काम तो कर लेता है लेकिन सेवक का नहीं। सिंह० ने 'संवादी च अनुवादी' एक साथ जोड़ कर यह अर्थ किया है कि जो स्वयं अपना संवादी अथवा अनुवादी होता है, हालाँकि ऐसा करने से 'अपरः स्वरः' का सीधे अन्वय नहीं होता लेकिन अर्थ की दृष्टि से अभिनव के कथन की पुष्टि होती है। अभिनव ने कहा है कि अंश अपना ही संवादी या अनुवादी अथवा ग्रह-अंशादि पञ्चकरूप हो सकता है लेकिन वह अपना विवादी कभी नहीं होता (ना०शा०, २८, अभि०, पृ० ४५, पं० ९-१०)। विवादी संबंधी यह कथन महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि सं० र० के प्रकाशित संस्करणों में यहाँ कोई पाठभेद नहीं है लेकिन अगर 'यः स्वयं यस्य संवादी च विवादी स्वरोऽपरः' पाठ होता तो ज़्यादा तर्कसम्मत होता क्योंकि राजा को कभी परिस्थितिवश सेवक का काम तो करना पड़ सकता है लेकिन वह कभी स्वयं अपना शत्रु नहीं हो सकता। यह पाठ ज़्यादा तर्कसम्मत है और इसकी पुष्टि अभिनव के कथन से भी होती है।

सिंह० ने 'योग्यतावशात्' पर यह टिप्पणी की है कि प्रधानता लक्षण के द्वारा 'वादी' और अन्य लक्षणों से 'अंश' समझना चाहिये। उसने 'अंश' शब्द का अर्थ 'भाग' करके कहा कि जाति, रागादि का विभाग करने के कारण यह अंश कहलाता है। संभवतः उसका संकेत भरत के तारगति संबंधी उस कथन की ओर है जिसकी व्याख्या में अभिनव ने कहा कि अंश के आधार पर उसके सातवें स्वर तक तारगति की अन्तिम सीमा संबंधी नियम जातियों में ही होता है ग्रामरागादि में नहीं (वही, २८/७० पर अभि०)। इसका अर्थ यह हुआ कि जातियों और ग्रामराग आदि में तारगति के आधार पर भेद स्थापित करने वाला अंश स्वर ही होता है।

अंश को ही प्रयोजन के भेद से वादी, स्थायी, जीवस्वर आदि संज्ञाएँ भी दी गई हैं। भरत ने कहा है—*यो यदांशः स तदा वादी* (वही, २८/२२ का गद्यांश)। अर्थात् जो जब अंश होता है तब वही वादी होता है। भरतोक्त *'वदनाद्वादी'*—वादी के इस लक्षण के अनुसार अंश ही वाद करता है यानी बोलता रहता है इसलिए वही वादी भी होता है।

मतंग, शार्ङ्गदेव ने अंश को 'स्थायी' भी कहा है। मूर्च्छना का आरम्भक स्वर होने के कारण वह स्थायी रूप से रहता है इसलिये स्थायी कहलाता है। मतंग के अलंकार प्रकरण में आरंभक स्वर के अर्थ में 'स्थायिनं स्वरं गत्वा' कहा गया है। शार्ङ्गदेव ने भी अलंकार निरूपण, आलप्ति लक्षण और वाद्याध्याय आदि कई स्थानों पर इस अर्थ में 'स्थायी' का प्रयोग किया है। रागालप्ति में 'स्वस्थान' का आरंभ स्थायी स्वर से करने का विधान करके स्थायी स्वर का यह लक्षण दिया—*'यत्रोपवेश्यते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते'* (सं०र०, १/३/१९१)। टीकाकारों ने कहा कि जिस स्वर पर राग स्थापित होता है वह स्थायी स्वर है। राग को स्थापित करने वाला स्वर अंश ही होता है।

'आलप्ति' के द्वारा राग की स्थापना कहते हुए अंश स्वर के लिये ही 'जीवस्वर' का भी शार्ङ्गदेव ने प्रयोग किया है—*'जीवस्वरव्याप्तिमुख्यै रागस्य स्थापना भवेत्'* (वही, ३/१९६)। दोनों टीकाकारों ने 'जीवस्वर' का अर्थ अंशस्वर किया क्योंकि जाति, राग आदि का जीव रूप स्वर अंश ही होता है।

३. तारलक्षणम्

मध्यमे सप्तकेंऽशः स्यात्तस्मात्तारस्थितात्परान्।
स्वरांश्चतुर आरोहेदेष तारावधिः परः॥ ३५॥

अर्वाक्तु कामचारः स्यात्तारे लुप्तोऽपि गण्यते।
आतारषड्जमारोहो नन्दयन्त्यां प्रकीर्तितः॥ ३६॥

३. तारलक्षण

३५-३६. (अ०) अंशः अंश मध्यमे सप्तके मध्यसप्तक में (ही) स्यात् होता है। तस्मात् उसके तारस्थितात् तार (स्थान) स्थित (अंश) से परान् परे (अगले) चतुरः स्वरान् आरोहेत् चार स्वरों तक चढ़ना चाहिए। एष यह परः तार-अवधिः तार (स्थान की) अन्तिम सीमा (है)। अर्वाक् तु इससे पहले तो कामचारः स्यात् कामचार होता है। तारे तार (नियम) में लुप्तः अपि लुप्त (स्वर) भी गण्यते गिना जाता है। नन्दयन्त्यां नन्दयन्ती (जाति) में आतारषड्जं तार षड्ज तक आरोहः प्रकीर्तितः आरोह कहा गया है।

(सर०) कल्लि० के अनुसार पार करना, तैरना, अर्थ वाली 'तॄ' धातु से 'णिच्' और 'घञ्' प्रत्यय लगाने से (तॄ + णिच् + घञ्) 'तारः' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'दूरश्राव्य' (दूर तक सुनाई देने वाली)। तारस्थानीय ध्वनि मूर्धा से उत्पन्न होने के कारण दूरश्राव्य होती है, इस अर्थ में यह संज्ञा सार्थक है।

अभिनवगुप्त ने 'तार' की व्याख्या इस प्रकार की है—*तारयति प्लावयति वेगेन वाचमिति तारः* (ना०शा०, २८, पृ० ४६, पं० २१) अर्थात् वेग से वाणी को आगे बढ़ाती है (तारयति), बहा ले जाती है (प्लावयति) इसलिये 'तार' है। यह प्रयोगसिद्ध है कि तारस्थान में स्वरों का प्रयोग मन्द्र और मध्य स्थानों की तुलना में ज्यादा वेग से होता है और तारप्रयोग चित्त को बहा ले जाता है।

जातियों में तारस्थान में किस स्वर तक प्रयोग किया जा सकता है यह नियम 'तार' द्वारा सूचित किया जाता है। जातियों में अंशस्वर नियमतः मध्य सप्तक में ही होता है। शार्ङ्गदेव ने अंश के तारस्वर से आगे ४ स्वरों तक जातियों में तार प्रयोग की सीमा कही है।

कल्लि० ने 'तस्मात्' में पंचमी विभक्ति के दो भिन्न अर्थों के आधार पर इस नियम का यह अर्थ किया है कि षड्जग्राम में तार षड्ज से आगे ४ स्वर—रिगमप—तक तार अवधि होती है यानी पंचम सीमा है किन्तु मध्यमग्राम में तार मध्यम को लेकर ४ स्वर गिने जाते हैं। तदनुसार म प ध नि—इस तरह निषाद अन्तिम सीमा है। इनमें से कोई स्वर लुप्त हो तो वह भी ४ की संख्या में गिन लिया जाता है। इस सीमा तक यथाशक्ति प्रयोग किया जा सकता है लेकिन शक्ति होने पर भी इससे आगे नहीं क्योंकि ऐसे प्रयोग में रंजकता नहीं रहती। इस तार अवधि का एक अपवाद नन्दयन्ती जाति है। सामान्य नियम के अनुसार मध्यमग्रामिक जातियों में तार निषाद सीमा है लेकिन इस जाति में तारषड्ज तक ही प्रयोग होता है। कल्लि० ने नन्दयन्ती के संदर्भ में इसे भरतादि के मत में 'पूर्वावधि' रूप में विहित बताया है। परावधि का अर्थ है 'स' तक यानी स अन्तिम सीमा है और पूर्वावधि यानी तार षड्ज से शुरू करके। पूर्वावधि इस रूप में सार्थक है कि सामान्यतः तार स से शुरू करके चौथे स्वर तक तार सीमा मानी जाती है लेकिन नन्दयन्ती में इस नियम का अपवाद है। कल्लि० ने कहा कि नन्दयन्ती जाति पंचम से शुरू होने वाली हृष्यका मूर्च्छना से अन्वित है इसलिये पंचम अंश होने से नन्दयन्ती में मन्द्र व्यापकता और तारसंकोच है। यही कारण है कि इसमें तार स तक ही सीमा है। अभिनव ने स्पष्टतः कहा है कि नन्दयन्ती में षड्ज से ऊपर तार सप्तक के स्वरों को नहीं छूना चाहिए (ना०शा०, २८/१३४, अभि०, पृ० ६२, पं० १६)।

भरत ने सामान्यतः अंश से आगे ४, ५ या ७ स्वर तक तारगति कही है लेकिन इससे आगे नहीं (वही, २८/७०)। अभिनव की टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि षड्ज, ऋषभ और गान्धार के अंशत्व में उनसे आगे पाँचवें स्वरों तक तारसीमा होती है लेकिन म, प, ध, नि के अंश होने पर निषाद तक ही तारगति होती है। सभी जातियों में पाँचवें स्वर तक प्रयोग नहीं होता क्योंकि तारसीमा निषाद तक ही है। इसीलिये अभिनव ने कहा कि ग से नि तक ५ स्वरों में 'एकतारसप्तक' का ग्रहण होता है अर्थात् तारसीमा समान होती है (वही, अभि०, पृ० ४५, पं० १३-१७)।

अभिनव ने यह भी कहा है कि अधिकतम तार प्रयोग संपूर्ण तार सप्तक में होने का सामान्य नियम जातियों के लिये ही है, ग्रामरागादि में नहीं (वही, पृ० ४६, पं० १८-१९)। अभिनव ने गान्धर्व से भिन्न 'देशीमार्ग' को एक अलग वर्ग में रखा है और उसके निरूपण से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामरागादि जाति की तरह गान्धर्व का अंग नहीं हैं, वे देशी में आते हैं जिनमें कामचार होता है। इसीलिये इनमें तारसीमा का नियम नहीं है।

४. मन्द्रलक्षणम्

मध्यस्थानस्थितादंशादामन्द्रस्थांशमाव्रजेत्।
आमन्द्रन्यासमथ वा तदधःस्थरिधावपि॥ ३७॥

एषा मन्द्रगतेः सीमा ततोऽर्वाक्कामचारिता।

४. मन्द्रलक्षण

३७-३८ ख. (अ०) मध्यस्थानस्थितात् अंशात् मध्यस्थान (में) स्थित अंश से **आमन्द्रस्थ-अंशं** मन्द्र (स्थान) स्थित अंश तक **आव्रजेत्** आना चाहिए। **अथ वा आमन्द्रन्यासं** अथवा मन्द्रस्थान के न्यास तक **तत्-अधःस्थ** उससे नीचे स्थित **रिधौ-अपि** रि-ध तक भी (जाना चाहिए)। **एषा** यह **मन्द्रगतेः सीमा** मन्द्रगति की सीमा (है)। **ततः अर्वाक्** उससे पूर्व **कामचारिता** कामचार (है)।

(सर०) मन्द्रस्थान में प्रयोग की सीमा का नियामक लक्षण 'मन्द्र' है। शार्ङ्गदेव के अनुसार मन्द्रगति तीन तरह की हो सकती है। मध्यस्थानीय अंश से नीचे पूरे मन्द्रस्थान में प्रयोग पहली मन्द्रगति है। मन्द्र न्यास तक दूसरी और न्यास स्वरों के नीचे के रि और ध तक तीसरी।

कल्लि० के अनुसार पहली सीमा के अन्तर्गत षड्जग्राम में मन्द्र षड्ज और मध्यमग्राम में मन्द्रमध्यम को अंश मान कर उसके अनुसार मन्द्र सीमा होती है। द्वितीय अवधि मन्द्र में स्थित न्यास स्वर तक समझनी चाहिए। कल्लि० ने कहा है कि न्यास का अर्थ जाति आदि का समापक स्वर नहीं बल्कि ग्रामों का अन्तिम स्वर है जो षड्जग्राम में निषाद और मध्यमग्राम में गान्धार होता है। लेकिन मन्द्रगति में इनके व्यत्यास (उलट देने) से षड्जग्राम में गान्धार और मध्यमग्राम में निषाद तक मन्द्रगति होती है। उसने उदाहरणस्वरूप षड्जग्राम की षड्जकैशिकी जाति का उल्लेख किया है जिसमें न्यास मन्द्र गान्धार तक मन्द्रगति है। तीसरी गति में व्यत्यास से प्राप्त उन्हीं गांधार-निषाद से नीचे के स्वरों तक यानी षड्जग्राम में रि और मध्यमग्राम में ध तक मन्द्रगति कही है। लेकिन व्यत्यास से कहे गए इस न्यासत्व की पुष्टि भरत, मतंग या अभिनव के द्वारा नहीं होती।

ना०शा० में मन्द्रगति तीन प्रकार की कही गई है—अंशपरा, न्यासपरा और अपन्यासपरा। अभिनवभारती में तीसरी गति की टीका से ऐसा लगता है कि वहाँ अपन्यासपरा के स्थान पर 'तत्परा' पाठ लिया गया है। तदनुसार गांधार के न्यासत्व में इसका अर्थ गान्धार से परे के ऋषभ तक मन्द्रगति समझनी चाहिए।

मतंग ने 'मृदुस्वर' को मन्द्र कहा है। अभिनव ने मोद अर्थ वाली 'मदीह' धातु से मन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति बता कर 'नम्रत्व' के कारण 'ललितध्वनि' को मन्द्र कहा है। कल्लि० ने हर्ष अर्थ वाली 'मदी' धातु से णिजन्त बनाकर 'र' प्रत्यय लगाकर 'मन्द्रः' शब्द बनाया है और उसका अर्थ 'हृद्यध्वनि' किया है। यह अनुभवसिद्ध है कि मन्द्रस्थानीय स्वर मृदु होने के कारण हृदय को अधिक प्रभावित करते हैं।

५. न्यासलक्षणम्

गीते समाप्तिकृन्न्यास एकविंशतिधा च सः॥ ३८॥

षाड्ज्यादीनां तु सप्तानां न्यासः स्यान्नामकृत्स्वरः।
द्वौ नामकारिणौ षड्जमध्यमायां तु तौ मतौ॥ ३९॥
उदीच्यवात्रयं मान्तं निपगान्ता तु कैशिकी।
कार्मारवी पञ्चमान्ता गान्ताः पञ्चापराः स्मृताः॥ ४०॥

५. न्यासलक्षण

३८ ग-४०. (अ०) गीते गीत में समाप्तिकृत् समाप्ति करने वाला (स्वर) न्यासः न्यास (होता है)। स च और वह एकविंशतिधा इक्कीस प्रकार का (होता है)। षाड्जी-आदीनां सप्तानां तु षाड्जी आदि सात (शुद्धा जातियों) में तो नामकृत् स्वरः नामकारी स्वर न्यासः स्यात् न्यास होता है। षड्जमध्यमायां तु षड्जमध्यमा में तो तौ द्वौ नामकारिणौ वे दो नामकारी (स और म स्वर) मतौ (न्यास) माने गए हैं। उदीच्यवात्रयं तीन उदीच्यवा (षड्जोदीच्यवा, गान्धारोदीच्यवा और मध्यमोदीच्यवा) म-अन्तं म न्यास वाली, नि-प-ग-अन्ता तु नि-प-ग अन्त (न्यास) वाली तो कैशिकी कैशिकी, कार्मारवी पञ्चम-अन्ता कार्मारवी पंचम अन्त (न्यास) वाली, पराः पञ्च अन्य पाँच (षड्जकैशिकी, रक्तगान्धारी, गान्धारपंचमी, आन्ध्री और नन्दयन्ती) ग-अन्ताः ग अन्त (न्यास) वाली स्मृताः जानी गई हैं।

(सर०) छोड़ना अर्थ वाली 'अस्' धातु से 'नि' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय लगाने से 'न्यासः' शब्द बनता है।

ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त 'गीत' का अर्थ कल्लि० ने जाति आदि किया है और न्यास को निरपेक्ष अवसानकारी स्वर कहा है। तदनुसार जाति आदि में अन्तिम रूप से समापन कराने वाला स्वर न्यास होता है। सिंह० ने भी न्यास का अर्थ जाति आदि के अन्त में रहने वाला स्वर किया है।

भरत ने 'अङ्ग' की समाप्ति करने वाले स्वर को न्यास कहा है। अभिनव ने 'अङ्ग' का अर्थ 'जातिशरीर' किया है। इसके अनुसार जाति के शरीर की समाप्ति में प्रयुक्त होने वाला स्वर न्यास है। 'अस्यते प्रयोगे येनेति न्यासः' के रूप में न्यास की जो व्याख्या उसने की है उससे भी अन्तिम समाप्ति सूचित होती है। मतंग ने *'न्यस्यते त्यज्यते यस्मिन् येन वा गीतं तन्न्यास इति'* कह कर दो प्रकार से अर्थ किया है—जिस पर अथवा जिसके द्वारा गीत समाप्त किया जाता है वह न्यास है। मतंग के इस अंश को सिंह० ने ज्यों का त्यों और कल्लि० ने थोड़े से अन्तर से उद्धृत किया है।

यहाँ श्लोकों में जातियों के न्यास स्वर गिनाए गए हैं। षड्जमध्यमा में दो और षड्जकैशिकी में ३ न्यास स्वर हैं, शेष जातियों में एक-एक न्यास है। शुद्धा जातियों में नामकारी स्वर ही न्यास होता है।

६. अपन्यासलक्षणम्

अपन्यासस्वरः स स्याद्यो विदारीसमापकः।

६. अपन्यास लक्षण

४१ क-ख. (अ०)अपन्यासस्वरः अपन्यास स्वर सः स्यात् वह होता है यः जो विदारीसमापकः विदारी (गीत के खण्ड) का समापक (हो)।

(सर०) 'न्यास' शब्द से 'अप' उपसर्ग लगाने पर अपन्यास शब्द बनता है जिसका संदर्भ प्राप्त अर्थ है न्यास को छोड़कर यानी किसी अन्य स्थान पर होने वाला न्यास। अपन्यास वह स्वर होता है जहाँ समाप्ति का आभास हो, वास्तव में समाप्ति न हो।

जिस स्वर पर विदारी यानी गीत का खण्ड समाप्त हो वह अपन्यास कहलाता है। भरत ने 'अङ्ग' के मध्य की समाप्ति जिस स्वर पर हो उसे अपन्यास कहा है। अभिनव ने इसे अवान्तर समाप्ति कहा और इसकी पुष्टि में दत्तिल द्वारा दिया गया 'विदारी मध्यगत' लक्षण उद्धृत किया है। इसके अनुसार विदारी का समापक नहीं बल्कि विदारी के मध्य में जिस स्वर पर समापन का आभास हो उसे अपन्यास समझना चाहिए।

मतंग के लक्षण में यह विशेष रूप से कहा गया है कि जहाँ समाप्ति का आभास हो लेकिन वास्तव में गीत समाप्त न हो। सिंह० ने मतंग का यह लक्षण उद्धृत करते हुए कहा है कि अपन्यास विदारी के मध्य में होता है। कल्लि० के 'न्यासवत्प्रतिभासनं' में भी मतंग के लक्षण की पुष्टि है।

कार्मारव्यां च नैषाद्यामान्ध्रीमध्यमयोस्तथा॥ ४१॥

आर्षभ्यां च स्वरा येंऽशास्तेऽपन्यासाः प्रकीर्तिताः।
उदीच्यवानां त्रितयेऽपन्यासौ षड्जधैवतौ॥ ४२॥

मध्यमो रक्तगान्धार्यां गान्धार्यां षड्जपञ्चमौ।
सनिपाः षड्जकैशिक्यां पञ्चम्यां निरिपाः स्मृताः॥ ४३॥

रिपौ गान्धारपञ्चम्यां षाड्ज्यां गान्धारपञ्चमौ।
धैवत्यां रिमधाः प्रोक्ता नन्दयन्त्यां मपौ मतौ॥ ४४॥

रिवर्ज्याः षट् च कैशिक्यां सप्तापीत्यूचिरे परे।
सप्तस्वरापन्यासां तु भाषन्ते षड्जमध्यमाम्॥ ४५॥

४१ ग-४५. (अ०) कार्मारव्यां च नैषाद्यां कार्मारवी और नैषादी में, आन्ध्री-मध्यमयोः तथा आन्ध्री और मध्यमा में, आर्षभ्यां च तथा आर्षभी में ये स्वराः अंशाः जो स्वर अंश (हैं) ते वे (ही) अपन्यासाः प्रकीर्तिताः अपन्यास प्रसिद्ध (हैं)। उदीच्यवानां त्रितये तीन उदीच्यवाओं में (षड्जोदीच्यवा, गान्धारोदीच्यवा और मध्यमोदीच्यवा) के समूह में (अर्थात् तीनों में) षड्जधैवतौ षड्ज और धैवत अपन्यासौ अपन्यास (हैं)। रक्तगान्धार्यां रक्तगान्धारी में मध्यम मध्यम, गान्धार्यां गांधारी में षड्जपञ्चमौ षड्ज और पंचम, षड्जकैशिक्यां षड्जकैशिकी में स-नि-पाः स, नि (और) प, पञ्चम्यां पंचमी में नि-रि-पाः नि-रि और (प) स्मृताः (अपन्यास) जाने गए हैं। गान्धारपञ्चम्यां गांधारपंचमी में रि-पौ रि-प, षाड्ज्यां षाडजी में गान्धारपञ्चमौ गान्धार और पंचम, धैवत्यां धैवती में रि-म-धाः रि-म और ध प्रोक्ताः (अपन्यास) कहे गए हैं। नन्दयन्त्यां नन्दयन्ती में म-पौ मतौ म-प (अपन्यास) माने गए हैं। कैशिक्यां कैशिकी में रिवर्ज्याः रि को छोड़कर षट् (शेष) ६ (अपन्यास माने गए हैं), परे अन्य (मत) में सप्त-अपि (कैशिकी में) सातों (स्वर) भी (अपन्यास होते हैं) इति ऊचिरे ऐसा कहते हैं। षड्जमध्यमां षड्जमध्यमा को सप्तस्वर-अपन्यासां सातों स्वर अपन्यास वाली भाषन्ते कहते हैं।

(सर०) यहाँ सभी जातियों के अपन्यास स्वर बताए गए हैं।

अत्र येंऽशा अपन्यासास्ते स्युरेकोनविंशतिः।
सप्तत्रिंशत्परे ते च षट्पञ्चाशत्तु संयुताः॥ ४६॥

कैशिक्यां सप्तपक्षे तान्सप्तपञ्चाशतं विदुः।

४६-४७ ख. (अ०) अत्र इनमें से ये अंशाः जो अंश (हैं) ते वही एकोनविंशतिः उन्नीस अपन्यासाः स्युः अपन्यास होते हैं। परे अन्य सप्तत्रिंशत् ३७ ते च और वे (१९) संयुताः तु मिल कर तो षट्पञ्चाशत् छप्पन (अपन्यास होते हैं)।

कैशिक्यां कैशिकी में सप्तपक्षे सात (अपन्यास वाले) पक्ष में तान् उन (अपन्यासों) को सप्तपञ्चाशतं विदुः सत्तावन जाना जाता है।

(सर०) आड्यार संस्क० में श्लोक ४६ क में 'येऽन्त्या' पाठ है जिसके अनुसार अर्थ यह होगा कि जो अन्त्य (न्यास) हैं वही अपन्यास हैं। लेकिन यह ग्रंथकार के प्रयोजन की पुष्टि नहीं करता क्योंकि श्लोक ४१ ग-४२ ख में ग्रंथकार ने कार्मारवी, नैषादी, आन्ध्री, मध्यमा और आर्षभी में जो अंश हैं उन्हीं को अपन्यास कहा है। श्लोक ४६ में अपन्यासों की संख्या १९ बताई है। इन जातियों में न्यास १-१ ही है लेकिन अपन्यासों की संख्या १९ ही होती है। इसलिये यहाँ 'अन्त्या' के स्थान पर 'अंशा' पाठ ही सही है। सिंह० की व्याख्या के द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है।

७, ८. संन्यासविन्यासलक्षणम्

अंशाविवादी गीतस्याद्यविदारीसमाप्तिकृत्॥ ४७॥
संन्यासोंऽशाविवाद्येव विन्यासः स तु कथ्यते।
यो विदारीभागरूपपदप्रान्तेऽवतिष्ठते॥ ४८॥

७, ८. संन्यास-विन्यास लक्षण

४७ ग-४८. (अ०) अंश-अविवादी अंश का अविवादी गीतस्य गीत की आद्यविदारीसमाप्तिकृत् प्रथम विदारी (खण्ड) की समाप्ति करने वाला (स्वर) संन्यासः संन्यास (होता है)। अंश-अविवादी एव अंश का अविवादी ही स तु वह (स्वर) तो विन्यासः कथ्यते विन्यास कहा जाता है यः जो विदारीभागरूपपदप्रान्ते विदारी के भागरूप पद के अन्त में अवतिष्ठते अवस्थित होता है।

(सर०) गीत का पहला खण्ड जिस स्वर पर समाप्त हो वह संन्यास कहलाता है तथा खण्ड के बीच में जिस स्वर पर समाप्ति का बोध हो वह विन्यास है। संन्यास और विन्यास वही हो सकते हैं जो अंश के विवादी न हों।

'पद के अवसान में किया गया विन्यास'—भरत के इस विन्यास लक्षण का अर्थ अभिनव ने 'विदारी के भागरूप पद के अन्त में प्रयुक्त स्वर' किया है। शार्ङ्गदेव ने ठीक यही लक्षण विन्यास का किया है। अभिनव की व्याख्या में पद आधार है यानी किसी खण्ड के अन्तर्गत किसी पद के अन्त में प्रयुक्त स्वर समाप्ति का बोध कराए तो वह स्वर विन्यास कहलाता है। लेकिन कल्लि० ने शार्ङ्गदेव के विन्यासलक्षण की व्याख्या में पद के आधार पर नहीं बल्कि पद के सादृश्य पर समझाया है। राग और उसके अन्तर्गत स्वरसमूह को वाक्य और उसके अन्तर्गत रहने वाले पदसमूह के समकक्ष रख कर व्याख्या की है। उसने यह भी कहा है कि विवादी को छोड़ कर सभी स्वर संन्यास-विन्यास हो सकते हैं इसलिये उनकी संख्या भी बहुत हो सकती है।

न्यास, अपन्यास, संन्यास और विन्यास के लक्षणों से यह स्पष्ट है कि ये सभी समापन के सूचक हैं। न्यास जाति अथवा गीत का अन्तिम समापक है, संन्यास प्रथम खण्ड का समापक है, अपन्यास विदारी के बीच में समाप्ति का आभास कराने वाला है और विन्यास विदारी के बीच-बीच में विभिन्न पदों या स्वरसमूहों में समाप्ति का बोधक स्वर है।

९. बहुत्वलक्षणम्

अलङ्घनात्तथाऽभ्यासाद्बहुत्वं द्विविधं मतम्।
पर्यायांशे स्थितं तच्च वादिसंवादिनोरपि॥ ४९॥

९. बहुत्वलक्षण

४९. (अ०) अलङ्घनात् अलंघन से तथा अभ्यासात् और अभ्यास से बहुत्वं बहुत्व द्विविधं मतं दो प्रकार का माना गया है। तत् च और वह पर्यायांशे पर्यायांश में (तथा) वादिसंवादिनः अपि वादी-संवादी में भी स्थितं स्थित (होता है)।

(सर०) जिस स्वर का प्रयोग बहुत हो उसका बहुत्व कहा जाता है। बहुत्व दो तरह से हो सकता है—स्वर के अलंघन से यानी न छोड़ने से और अभ्यास से यानी बार-बार प्रयोग करने से। बहुत्व पर्याय अंशों और वादी-संवादी में रहता है। जातियों में जो एक से ज़्यादा अंश कहे गए हैं उनमें से कोई एक स्वर ही वादी या अंश बनता है शेष स्वर अंश के पर्याय के रूप में यानी अन्य स्वरों की अपेक्षा ज़्यादा बलवान् होते हैं, वे पर्यायांश कहलाते हैं।

सिंह० ने बहुत्व को वादी-संवादी का पर्याय कहा है। अलंघन से जिस स्वर का बहुत्व हो उसे वादी और अभ्यास से जिसका बहुत्व हो उसे संवादी के रूप में समझाया है।

वादी अथवा अंश और उसके संवादी का तो बहुल प्रयोग होता ही है, पर्यायांश का भी अन्य स्वरों की अपेक्षा ज़्यादा प्रयोग किया जाता है इसीलिये पर्यायांशों का भी बहुत्व कहा गया है।

१०. अल्पत्वलक्षणम्

अल्पत्वं च द्विधा प्रोक्तमनभ्यासाच्च लङ्घनात्।
अनभ्यासस्त्वनंशेषु प्रायो लोप्येष्वपीष्यते॥ ५०॥
ईषत्स्पर्शो लङ्घनं स्यात्प्रायस्तल्लोप्यगोचरम्।
उशन्ति तदनंशेऽपि क्वचिद्गीतविशारदाः॥ ५१॥

१०. अल्पत्वलक्षण

५०-५१. (अ०) अनभ्यासात् अनभ्यास से लङ्घनात् च और लंघन से अल्पत्वं च अल्पत्व भी द्विधा दो प्रकार से प्रोक्तं कहा गया है। अनभ्यासः तु अनभ्यास तो अनंशेषु अनंशों में (और) प्रायः प्रायः लोप्येषु अपि लोप्य (स्वरों) में भी इष्यते होता है। ईषत् स्पर्शः अल्प स्पर्श लङ्घनं स्यात् लंघन होता है। तत् वह प्रायः प्रायः लोप्यगोचरं लोप्य (स्वरों) में दिखाई देता है। तत् वह अनंशे अपि अनंश (स्वरों) में भी (होता है ऐसा) क्वचित् गीतविशारदाः कुछ गीतविशारद उशन्ति इच्छा करते हैं (अर्थात् उचित मानते हैं)।

(सर०) बहुत्व का ठीक उल्टा अल्पत्व होता है। 'अनभ्यास' का अर्थ है बार-बार प्रयोग न करना और लंघन अर्थात् अल्प प्रयोग, पूरी तरह छोड़ना नहीं। सामान्यतः अल्पत्व उन्हीं स्वरों का होता है जो लोप्य होते हैं यानी जिनके वर्जन से षाडव-औडव रूप बनते हैं। कुछ गीतज्ञों के मत से अनंश और पर्यायांशों को छोड़ कर शेष स्वरों का भी अल्पत्व हो सकता है।

सिंह० के अनुसार स्वर के एक बार उच्चारण से लंघन और कल्लि० की दृष्टि से वही अनभ्यास होता है।

भरत के अल्पत्व-बहुत्व लक्षण पर अभिनव की टीका में यह कहा गया है कि कभी अनंश भी अल्प नहीं होते अर्थात् उनका बहुत्व होता है। जैसे, कार्मारवी जाति में गान्धार अनंश है फिर भी उसका अन्तरमार्ग में बहुत्व से प्रयोग होता है। जो पर्यायांश नहीं होते उनका अन्तरमार्ग में प्रयोग अनभ्यास से होता है, जैसे षाड्जी जाति में निषाद और ऋषभ का।

११. अन्तरमार्गलक्षणम्

न्यासादिस्थानमुज्झित्वा मध्ये मध्येऽल्पतायुजाम्।
स्वराणां या विचित्रत्वकारिण्यंशादिसंगतिः॥ ५२॥

अनभ्यासैः क्वचित्क्वापि लङ्घनैरेव केवलैः।
कृता साऽन्तरमार्गः स्यात्प्रायो विकृतजातिषु॥ ५३॥

११. अन्तरमार्गलक्षण

५२-५३. (अ०) न्यासादिस्थानं-उज्झित्वा न्यास आदि स्थानों को छोड़कर मध्ये-मध्ये बीच-बीच में अल्पतायुजां स्वराणां अल्पतायुक्त स्वरों की विचित्रत्वकारिणि-अंशादिसंगतिः अंशादि (स्वरों) के साथ विचित्रता उत्पन्न करने वाली संगति या जो क्वचित् कभी अनभ्यासैः अनभ्यास से क्वापि कभी केवलैः लङ्घनैः एव केवल लंघन से ही कृता की गई हो सा वह अन्तरमार्गः स्यात् अन्तरमार्ग होता है (जो) प्रायः विकृतजातिषु प्रायः विकृता जातियों में (होता है)।

(सर०) दोनों टीकाकारों के अनुसार 'न्यासादि' से न्यास, अपन्यास, विन्यास, संन्यास, ग्रह, अंश समझना चाहिए। इनके बीच-बीच में अल्पत्व वाले स्वरों की संगति करनी चाहिए। कल्लि० के अनुसार जाति में जिन स्वरों का अल्पत्व कहा गया हो उन स्वरों का विभिन्न वर्णों (स्थायी आदि) पर आधारित स्वरसमुदायात्मक तान के रूप में अंशादि के साथ बार-बार प्रयोग होता है। इससे प्रयोग में विचित्रता आती है। यह विचित्रता कभी अनभ्यास से और कभी लंघन के द्वारा उत्पन्न होती है। जाति के अपने नियम के अनुसार होने वाली यह क्रिया अन्तरमार्ग है। ग्रंथकार ने इसका प्रयोग प्रायः विकृता जातियों में कहा है। कल्लि० ने 'प्रायः' के आधार पर यह कहा है कि शुद्धा जातियों में इसका प्रयोग कभी ही होता है।

भरत ने अन्तरमार्ग को स्वतंत्र लक्षण नहीं माना है, अल्पत्व-बहुत्व के अन्तर्गत उसने कहा कि यथाजाति षाडव-औडवकारी अनंश स्वरों का गीत के अन्तरमार्ग में अनभ्यास होता है (ना०शा०, २८/७४-७५)। इसे स्पष्ट करते हुए अभिनव ने कहा कि जो स्वर जाति में पर्यायांश नहीं बनते उनका जब अन्तरमार्ग में प्रयोग होता है तो अनभ्यास होता है, जैसे, षाड्जी में निषाद और ऋषभ का (वही, पृ० ४९, पं० ६-७)। षाड्जी में स, ग, म, प, ध—ये ५ अंश हैं और नि-रि अनंश। अनंश पर्यायांश नहीं बनते और षाडव-औडवकारी होते हैं इसलिये उनका अल्पत्व होता है। भरत के उपर्युक्त कथन के अनुसार अन्तरमार्ग में अनंशों का प्रयोग तो होता है लेकिन सामान्यतः उनका अल्पत्व रहता है। अभिनव ने कहा कि कभी-कभी उनका अल्पत्व नहीं बहुत्व होता है, जैसे, कार्मारवी में गान्धार अनंश है लेकिन अन्तरमार्ग में सभी स्वरों के साथ उसकी संगति होने पर उसका बहुत्व हो जाता है (वही, पं० ९-१०) इसीलिये भरत ने 'यथाजाति' कहा है।

भरत और अभिनव के अनंश को ही शार्ङ्गदेव ने 'अल्पतायुजां' कहा है।

१२. षाडवलक्षणम्

षडवन्ति प्रयोगं ये स्वरास्ते षाडवा मताः।
षट्स्वरं तेषु जातत्वाद्गीतं षाडवमुच्यते॥ ५४॥

१२. षाडवलक्षण

५४. (अ०) ये जो षट् स्वराः ६ स्वर प्रयोगम् अवन्ति (जाति आदि) प्रयोग की रक्षा करते हैं ते वे षडवाः मताः 'षडव' माने गए हैं। तेषु जातत्वात् उनमें उत्पन्न होने के कारण षट्स्वरं गीतं ६ स्वर (वाले) गीत को षाडवम् उच्यते षाडव कहा जाता है।

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार द्वारा 'षाडव' की व्युत्पत्ति संकेत रूप में दी गई है जिसे कल्लि० ने इस रूप में स्पष्ट किया है। रक्षण अर्थ वाली 'अव' धातु में 'अच्' प्रत्यय लगाने पर 'अवः' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'रक्षक'। 'षट्' लगाकर कर्मधारय समास करके 'रक्षा करने वाले ६'—इस अर्थ में 'षडवः' शब्द बना। जो गीत इन षडवों में उत्पन्न हो—इस अर्थ में षडव से 'अण्' प्रत्यय लगाने पर षाडव रूप बनता है। इस प्रकार एक स्वर का वर्जन करके जहाँ ६ स्वरों का प्रयोग होता हो उसे षाडव कहा जाता है।

जातियों में षाडव-औडवकारी स्वर नियत हैं जिनका जातियों की पूर्णावस्था में अल्पत्व होता है।

१३. औडुवलक्षणम्

वान्ति यान्त्युडवोऽत्रेति व्योमोक्तमुडुवं बुधैः।
पञ्चमं तच्च भूतेषु पञ्चसंख्या तदुद्भवा॥ ५५॥

औडुवी साऽस्ति येषां च स्वरास्ते त्वौडुवा मताः।
ते संजाता यत्र गीते तदौडुवितमुच्यते॥ ५६॥

तत्संबन्धादौडुवं च पञ्चस्वरमिदं विदुः।

१३. औडव लक्षण

५५-५७ ख. (अ०) उडुवः नक्षत्र अत्र इसमें (आकाश में) वान्ति यान्ति चलते फिरते हैं इति इस प्रकार (इसलिये) बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा व्योम (मं) आकाश को उडुवं उक्तं 'उडुव' कहा गया है। तत् च और वह (आकाश) भूतेषु (पंच महा)भूतों में पञ्चमं (उल्टे क्रम से) पाँचवाँ (है इसलिए) तत् उद्भवा उससे उत्पन्न होने वाली पञ्चसंख्या पाँच की संख्या औडुवी 'औडुवी' (कहलाती है)। सा च और वह (औडुवी) येषां जिन (स्वरों) में अस्ति होती है ते स्वराः तु वे स्वर तो औडुवाः मताः औडव माने गए हैं। यत्र गीते जिस गीत में ते वे (पाँच स्वर) संजाताः उत्पन्न हुए तत् वह (गीत) औडुवितम् उच्यते औडुवित कहा जाता है। तत् संबन्धात् च और उसके संबंध से इदं पञ्चस्वरं इस पंचस्वर (प्रयोग) को औडुवं विदुः औडुव जाना जाता है।

(सर०) यहाँ औडुव शब्द की व्युत्पत्ति दी है। 'उडु' का अर्थ है नक्षत्र जिसमें गति अर्थ वाली 'वा' धातु लगाकर 'उडुव' बना। इसका अर्थ है नक्षत्र जिसमें विचरण करते हैं वह उडुव यानी आकाश। पृथ्वी से शुरू करने से पंचमहाभूतों में आकाश की संख्या पाँचवीं होती है। उडुवा में 'ङीप्' प्रत्यय लगाकर 'औडुवी' बनाकर पाँच संख्या को 'औडुवी' कहा गया। पाँच स्वर वाले गीत औडुवित माने गए। इस प्रकार जिन जातियों में उनके नियम के अनुसार दो स्वरों का लोप हो वे औडुव मानी जाती हैं।

क्रमादल्पाल्पतरते षाडवौडुवकारिणोः॥ ५७॥

संपूर्णत्वदशायां स्तः पञ्चम्यां तु विपर्ययः।
वचनं विधिरप्राप्ताविहाल्पत्वबहुत्वयोः॥ ५८॥

परिसंख्या द्वयोः प्राप्तावेकस्यातिशयाय यत्।

५७ ग-५९ ख. (अ०) संपूर्णत्वदशायां (जातियों की) संपूर्ण अवस्था में अल्प-अल्पतरते अल्प और अल्पतर (होने वाले स्वर) क्रमात् क्रम से षाडव-औडुवकारिणः षाडव (और) औडुवकारी स्तः होते हैं। पञ्चम्यां तु पंचमी (जाति) में तो

विपर्ययः विपरीत (होता है)। **इह** यहाँ **अल्पत्वबहुत्वयोः** अल्पत्व-बहुत्व (स्वर रूप धर्मों) की **अप्राप्तौ** प्राप्ति न होने से **विधिः वचनं** 'विधि' वचन (हुआ है)। **द्वयोः** (ग-नि-इन) दोनों में **प्राप्तौ** (अल्पत्व की) प्राप्ति होने से **यत्** जो **एकस्य** एक (ग) के **अतिशयाय** अतिशय के लिये (कहा है वह) **परिसंख्या** 'परिसंख्या' (है)।

(सर०) षाडव-औडव के बारे में साभान्य नियम यह है कि जाति की पूर्णावस्था में जो स्वर अल्प होता है उसके लोप से जाति का षाडव रूप और अल्पतर के लोप से औडव रूप बनता है। अथवा यों कह सकते हैं कि षाडवकारी स्वर की अल्पता और औडवकारी की अल्पतरता होती है। पंचमी जाति इसका अपवाद है क्योंकि उसमें इस नियम का बाध होता है।

पंचमी में स-ग-म का अल्पत्व कहा गया है इसलिये इन स्वरों में षाडव-औडवकारित्व होना चाहिए। लेकिन स-म षाडव-औडवकारी न होने से उनमें अल्पता प्राप्त नहीं होनी चाहिए। लेकिन उनकी अल्पता भरत के वचन यानी 'विधि' से होती है। दूसरी और नि को अपन्यासों में गिनाए जाने के कारण उसका बहुत्व होना चाहिए लेकिन उसे ग के साथ औडवकारी कहा गया है इसलिये नि को बहुत्व प्राप्त नहीं होता। उसे अल्पता की प्राप्ति भी 'विधि' से होती है। इस प्रकार स-म को और निषाद को अल्पत्व प्राप्ति 'विधि' के द्वारा होती है। 'विधि' का लक्षण है अप्राप्त की प्राप्ति कराना।

गांधार के षाडवकारी होने से उसे अल्पत्व की प्राप्ति हो जाती है फिर अलग से उसका अल्पत्व कहने की क्या ज़रूरत है, यह शंका उठाकर कल्लि० ने उत्तर दिया कि ग्रंथकार ने पुनर्वचन इस आशय से किया कि षाडव-औडवकारी के रूप में ग-नि दोनों को समान रूप से अल्पता प्राप्त हो गई जब कि षाडवकारी में अल्पता और औडवकारी में अल्पतरता होनी चाहिए। यहाँ षाडवकारी ग में अल्प की अतिशयता यानी अल्पतरता स्थापित करने के लिये पुनर्वचन है जो 'परिसंख्या' कहलाता है। दो में समान फल होने पर एक में वर्जन करके दूसरे में अतिशयता का आधान 'परिसंख्या' का लक्षण है। यहाँ निषाद में अल्पतरता का निवेध करके गांधार में अल्पतरता दिखाना ही परिसंख्या का प्रयोजन है।

जातीनां विशेषलक्षणानि

अथ प्रत्येकमेतासां जातीनां लक्ष्म कथ्यते॥ ५९॥

जातियों के विशेष लक्षण

५९ ग-घ. (अ०) **अथ** अब **एतासां जातीनां प्रत्येकं** इनमें से प्रत्येक जाति का **लक्ष्म कथ्यते** लक्षण कहा जाता है।

(सर०) जातियों के सामान्य लक्षण कहने के बाद अब १८ जातियों में से हरेक के विशेष लक्षणों का निरूपण शुरू किया जा रहा है।

तत्र शुद्धानां लक्षणानि

१. षाड्जी जातिः

षाड्ज्यामंशाः स्वराः पञ्च निषादर्षभवर्जिताः।
निलोपात्षाडवं सोऽत्र पूर्णत्वे काकली क्वचित्॥ ६०॥
सगयोः सधयोश्चात्र संगतिर्बहुलस्तु गः।
गान्धारेंऽशे न नेर्लोपो मूर्च्छना धैवतादिका॥ ६१॥

शुद्धा जातियों के लक्षण

१. षाड्जी जाति

६०-६१. (अ०) षाड्ज्यां षाड्जी में **निषाद-ऋषभवर्जिताः** निषाद और ऋषभ को छोड़कर **पञ्च** पाँच **अंशाः स्वराः** अंश स्वर (हैं)। **नि-लोपात्** नि के लोप से **षाडवं** षाडव (रूप बनता है)। **सः** वह (निषाद) **अत्र पूर्णत्वे** इस (जाति) के संपूर्ण होने पर **क्वचित् काकली** कभी काकली (होता है)। **अत्र** इसमें **स-ग-योः** स-ग की **स-ध-योः च** और स-ध की **संगतिः** संगति (होती है)। **गः तु** ग तो **बहुलः** बहुल (होता है)। **गान्धारे अंशे** गांधार अंश होने पर **नेः** नि का **लोपः न** लोप नहीं (होता)। **मूर्च्छना धैवतादिका** मूर्च्छना धैवतादि (है)।

(सर०) षाडव-औडवकारी स्वरों का अल्पत्व होता है, यह पहले कहा जा चुका है। अन्तर-काकली का प्रयोग तभी होता है जब ग्राम के गांधार-निषाद का अल्पत्व हो। षाड्जी की पूर्णावस्था में निषाद का अल्पत्व होने से काकली का प्रयोग और निषाद का षाडवकारी होना सार्थक है। लेकिन अंश के संवादी का लोप नहीं होता इसलिये गांधार अंश होने पर निषाद के वर्जन से षाड्जी का षाडव रूप नहीं बन सकता। इस प्रकार गांधार अंश होने पर वह संपूर्ण ही रहती है। लेकिन स, म, प, ध के अंशत्व में षाड्जी के षाडव रूप भी बन सकते हैं। षाड्जी में औडव भेद नहीं होते।

मतंग के जातिप्रकरण को देखने से ऐसा लगता है कि शार्ङ्गदेव ने जातियों की मूर्च्छनाएँ मतंग के अनुसार द्वादशस्वर वाली बताई हैं इसलिये उनके उत्तरमन्द्रा आदि नाम न लेकर उनके आरम्भक स्वर कहे हैं। शुद्धा जातियों का आरंभक स्वर उस जाति का नामस्वर होता है जो अंश कहलाता है। तदनुसार उस अंश स्वर से आरंभ होने वाली स्वरावलि से ही वह जाति गेय होती है। लेकिन षाड्जी की मूर्च्छना धैवतादि कहने का अर्थ यह है कि वह धैवत से शुरू होती है। मूर्च्छना प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि सप्तस्वर मूर्च्छनाओं में ही उनके आरंभक स्वर से पहले और मूर्च्छना के अन्त में कुछ स्वर जोड़कर द्वादशस्वर मूर्च्छनाएँ बनाई गईं। भरतोक्त षड्ज से शुरू होने वाली उत्तरमन्द्रा के शुरू में यानी षड्ज से पहले धनि और अन्त में सरिग जोड़कर बनी मूर्च्छना ही यहाँ षाड्जी जाति की मूर्च्छना समझनी चाहिये। धैवत से शुरू होने के कारण इसे यहाँ धैवतादि कहा है।

यह स्मरणीय है कि भरत ने जातियों की मूर्च्छनाएँ नहीं कहीं क्योंकि मूर्च्छना का प्रयोजन मुख्यतः तीन स्थानों की प्राप्ति था। जाति की प्रयोज्य स्वरावलि उस जाति के अंश स्वर से शुरू होने वाली स्वरावलि होती थी जिसे वीणा के मध्यस्थान में पहले स्थापित करके मन्द्र-तार में स्थापित किया जाता था। इस प्रकार अंश के द्वारा जाति की प्रयोज्य स्वरावलि और तीनों स्थान एकसाथ प्राप्त हो जाते थे।

शार्ङ्गदेव ने यहाँ मतंग के मत का अनुसरण किया है क्योंकि रत्नाकर में जातियों की मूर्च्छनाएँ ठीक मतंग जैसी ही कही गई हैं।

त्रिधा तालः पञ्चपाणिरत्र चैककलाऽऽदिकः।
क्रमान्मार्गाश्चित्रवृत्तिदक्षिणा गीतयः पुनः॥ ६२॥

मागधी संभाविता च पृथुलेति क्रमादिमाः।
नैष्क्रामिकध्रुवायां च प्रथमे प्रेक्षणे स्मृतः॥ ६३॥

विनियोगो द्वादशात्र कला अष्टलघुः कला।

अस्यां षाड्ज्यां षड्जो न्यासः। गान्धारपञ्चमावपन्यासौ। वराटी दृश्यते। अस्याः प्रस्तारः—

१. षाड्जी

१.	स	स	स	स	प	निध	प	धनि
	तं		भ	व	ल	ला		ट
२.	रि	गम	ग	ग	स	रिग	धस	ध
	न	य	नां		बु	जा		थि
३.	रिग	स	रि	ग	स	स	स	स
	कं							
४.	ध	ध	नि	निस̍	निध	प	स̍	स̍
	न	ग	सू		नु	प्र	ण	य
५.	नि	ध	प	धनि	रि	ग	स	ग
	के		लि		स	मु		द्भ
६.	स	धं	धंनिं	पं	स	स	स	स
	वं							
७.	स	स	ग	स	म	प	म	म
	स	र	स	कृ	त	ति	ल	क
८.	स	ग	म	धनि	निध	प	ग	रिग
	पं			का	नु	ले	प	
९.	ग	ग	ग	ग	स	स	स	स
	नं							
१०.	धं	स	रि	गरि	स	म	म	म
	प्र	ण	मा		मि	का		म
११.	ध	नि	प	धनि	रि	ग	रि	स
	दे		हें		ध	ना	न	
१२.	रिग	स	रि	ग	स	स	स	स
	लं							

६२-६४ ख. (अ०) अत्र इसमें एककल-आदिकः त्रिधा च एककल आदि तीन प्रकार का पञ्चपाणिः तालः पंचपाणि (षट्पितापुत्रक) ताल (होता है)। क्रमात् क्रम से चित्रवृत्तिदक्षिणाः मार्गाः चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्ग (होते हैं)। पुनः फिर मागधी संभाविता पृथुला च मागधी, संभाविता और पृथुला इति क्रमात् इस क्रम से इमाः गीतयः ये गीतियाँ (होती हैं)। प्रथमे प्रेक्षणे (नाटक आदि के) पहले अंक में नैष्क्रामिकध्रुवायां च और नैष्क्रामिक ध्रुवा में विनियोगः स्मृतः विनियोग जाना गया है। अत्र इसमें द्वादश कलाः बारह कला (और) कला अष्टलघुः कला आठ लघु वाली (होती है)।

अस्यां षाड्ज्यां इस षाड्जी (जाति) में षड्जः न्यासः षड्ज न्यास (और) गान्धारपञ्चमौ अपन्यासौ गांधार (तथा)

पंचम अपन्यास (होते हैं)। (इसमें) वराटी दृश्यते वराटी (नामक भाषा) दिखाई देती है। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।*

(सर०) पंचपाणि आदि ताल, उनके एककल आदि भेद और चित्र आदि मार्ग तालाध्याय में कहे जाने वाले हैं। मागधी आदि गीतियाँ प्रथम अध्याय के आठवें प्रकरण में बताई जाने वाली हैं। एककल रूप में चित्रमार्ग और मागधी गीति, द्विकल में वार्तिक मार्ग और संभाविता गीति तथा चतुष्कल में दक्षिण मार्ग और पृथुला गीति होती है।

ध्रुवा छन्दोबद्ध गीत हैं जो नाटक में विशेष स्थलों पर प्रयुक्त होते थे। पाँच प्रकार की ध्रुवाओं में से नैष्क्रामिकी ध्रुवा में नाटक के पहले अंक में षाड्जी जाति के प्रयोग का भरत का विधान है। नाट्य से संबद्ध ध्रुवागान में जातियों का विनियोग ग्रंथकार ने परंपरा के निर्वाह के लिये दिया है क्योंकि सं० र० नाट्य से स्वतंत्र संगीत का ग्रंथ है। इसे ध्यान में रख कर कल्लि० ने कहा है कि श्लोक में प्रयुक्त 'च' शब्द यह सूचित करता है कि नाट्य से स्वतंत्र भी इनका प्रयोग हो सकता है और तब ब्रह्मप्रोक्त अथवा प्रयोक्ता द्वारा निर्मित पद का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन शंकर स्तुति में ही इस जाति का प्रयोग बताया गया है।

कल्लि० के अनुसार कलाओं में स्वरों का संनिवेश 'प्रस्तार' है। जातियों के जो प्रस्तार दिए गए हैं उन्हें देखने से यह स्पष्ट होता है कि ये ऐसे तालबद्ध गीत हैं जिनमें स्वर, ताल और पदों का संनिवेश है, जिनमें कोई खंड नहीं हैं तथा जो जाति के स्वरूप को व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त प्रस्तार षड्जांश शुद्धा जाति का है क्योंकि इसमें षड्ज का ही सबसे ज्यादा (६३ बार) प्रयोग हुआ है।

इस जाति के प्रस्तार में कुल १२ कलाएँ (मोटे रूप में ताल की इकाइयाँ) हैं। ६ तालभाग वाले चतुष्कल पंचपाणि ताल का प्रयोग हुआ है इसलिये पूरा प्रस्तार ताल के दो आवर्तनों में समाप्त होता है। हर विभाग में ८ लघु अर्थात् ४ गुरु हैं। सिंह० ने 'अष्टगुरुः' पाठ लिया है जो सही नहीं है-क्योंकि ताल का सबसे बड़ा आवर्तन चतुष्कल रूप में यानी दक्षिण मार्ग में होता है जिसके हर तालभाग में ४ गुरु (८ लघु) होते हैं, ८ गुरु नहीं। सिंह० के पाठ के अनुसार 'अष्टगुरु' समझने से ताल का चतुष्कल रूप बिगड़ जाता है। अतः कल्लि० का 'अष्टलघुः' पाठ ही सही है।

सभी जातियों के प्रस्तार चतुष्कल तालों में दिए गए हैं। इस दृष्टि से हर तालभाग में ८ लघु ही होने चाहिएँ। मुद्रित प्रस्तारों में अकेले स्वर (सा, पा, नी आदि—इस रूप में) दीर्घाक्षरों के रूप में दिए गए हैं जिनके कारण ताल के एक विभाग में ४ के बजाय ८ गुरु हो गए हैं। कल्लि० की टीका भी स्वराक्षरों के ह्रस्व रूप की ही पुष्टि करती है। इसलिए हमने संशोधन करके सभी दीर्घाक्षरों को ह्रस्व रूप में दिया है।

यह पहले बताया जा चुका है कि शुद्धा जातियों में नामकारी स्वर ही ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास होता है। लेकिन विकृतावस्था में न्यास के अलावा अन्य नियमों का भंग हो सकता है। षाड्जी में कहे गए ग-प—ये दो अंश उसकी विकृतावस्था से संबद्ध हैं।

षाड्जी विकृतावस्था में वराटी जैसी लगती है। वराटी भिन्नपंचम नामक ग्रामराग की भाषा है जिसका निरूपण ग्रंथकार ने राग-संबंधी दूसरे अध्याय में किया है।

जाति प्रस्तारों में सिर्फ़ चच्चत्पुट और पंचपाणि तालों का प्रयोग हुआ है। तालविधि का निरूपण प्रस्तुत ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में किया गया है। लेकिन प्रस्तारों के संदर्भ में इन तालों को समझने की दृष्टि से इनके चतुष्कल रूप उनकी क्रियाओं के साथ यहाँ दिए जा रहे हैं।

---

* अन्वय में जातियों के प्रस्तार फिर से नहीं दिये जा रहे हैं, वे ऊपर मूलपाठ में देखे जा सकते हैं।

तालों में ८ प्रकार की क्रियाएँ होती हैं जिनमें से ४ सशब्द और ४ निःशब्द होती हैं। इन क्रियाओं के नाम और लिपि में संकेताक्षर इस प्रकार हैं—

सशब्द क्रियाएँ	चिन्ह	निःशब्द क्रियाएँ	चिन्ह
ध्रुव	×	आवाप	आ
शम्या	श	निष्क्राम	नि
ताल	ता	विक्षेप	वि
संनिपात	सं	प्रवेश	प्र

व्याख्या में दिए गए प्रस्तारों में इन संकेताक्षरों का प्रयोग करके तालों की क्रियाएँ दी जा रही हैं।

चच्चत्पुटः—चतुरश्र ताल है यानी ४ तालभाग हैं। चतुष्कल रूप में हर भाग में ४-४ गुरु इकाइयों में ४-४ क्रियाएँ होती हैं। क्रियाएँ इस प्रकार हैं—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	श	वि	प्र	आ	नि	वि	सं

पञ्चपाणिः—इस ताल की दो संज्ञाएँ और भी हैं—उत्तर और षट्पितापुत्रक। त्र्यश्र ताल है जिसमें ६ तालभाग हैं। इसके चतुष्कल रूप की क्रियाएँ इस प्रकार हैं—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	प्र	आ	ता	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श

१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	ता	वि	प्र	आ	नि	वि	सं

षाड्जी प्रस्तार में पंचपाणि और आर्षभी प्रस्तार में चच्चत्पुट की क्रियाएँ लगाकर दिखाई जा रही हैं।

षाड्जी प्रस्तार

		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
१.	स	स	स	स	प	निध	प	धनि
	तं		भ	व	ल	ला		ट
	आ		नि		वि		प्र	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
२.	रि	गम	ग	ग	स	रिग	धस	ध
	न	य	नां		बु	जा		धि
	आ		ता		वि		श	

		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
३.	रिग	स	रिं	ग	स	स़	स	स
	कं							
	आ		नि		वि		ता	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
४.	ध	ध	नि	निसं	निध	प	सं	सं
	न	ग	सू		नु	प्र	ण	य
	आ		नि		वि		श	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
५.	नि	ध	प	धनि	रि	ग	स	ग
	के		लि		स	मु		द्ध
	आ		ता		वि		प्र	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
६.	स	धं	धंनिं	पं	स	स	स	स
	वं							
	आ		नि		वि		सं	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
७.	स	स	ग	स	म	प	म	म
	स	र	स	कृ	त	ति	ल	क॰
	आ		नि		वि		प्र	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
८.	स	ग	म	धनि	निध	प	ग	रिग
	पं			का	नु	ले	प	
	आ		ता		वि		श	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
९.	ग	ग	ग	ग	सं	स	स	स
	नं							
	आ		नि		वि		ता	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
१०.	धं	स	रि	गरि	स	म	म	म
	प्र	ण	मा		मि	का		म
	आ		नि		वि		श	

		ऽ			ऽ			ऽ			ऽ	
११.	ध		नि	प		धनि	रिं		ग	रिं		स
	दे			हैं			ध		ना	न		
	आ			ता			वि			प्र		

		ऽ			ऽ			ऽ			ऽ	
१२.	रिग		स	रिं		ग	स		स	स		स
	लं											
	आ			नि			वि			सं		

षाड्जी आदि सात शुद्धा जातियों के आरंभक स्वरों को षड्ज मानकर प्राप्त होने वाली स्वरावलि के आधार पर उनके प्रस्तारों को वर्तमान स्वरांकन पद्धति में दिया जा रहा है जिससे जातियों का आज के रागों के साथ न्यूनाधिक संबंध देखा ज़ा सके। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इससे जातियों के स्थूल रूप का ही कुछ अनुमान हो सकेगा। उन्हें गमकादि के साथ किस तरह गाया जाता होगा और तब उनका कैसा रूप प्रस्तुत होता होगा इसकी कोई कल्पना मूल प्रस्तार से अथवा वर्तमान स्वरांकन वाले प्रस्तार से नहीं हो सकती।

षाड्जी जाति में षड्जग्राम की पहली शुद्धा मूर्च्छना (भरत की उत्तरमन्द्रा) के स्वर हैं जिनकी श्रुतिव्यवस्था इस प्रकार है—

स	रि	ग	म	प	ध	नि
४	३	२	४	४	३	२

वर्तमान उत्तर भारत में प्रचलित बागेश्री राग में यही स्वर प्रयुक्त होते हैं।

षाड्जी जाति के प्रस्तार को आज की भाषा में समझ लें। इसमें पंचपाणि ताल है जिसमें ६ विभाग और हर विभाग में १-१ गुरु मात्रा होती है, मात्रा का नाप नियत है। प्रस्तार चतुष्कल पंचपाणि में है इसलिये हर विभाग में ४ गुरु मात्राएँ हैं। १ से १२ तक के अंक १२ विभागों के सूचक हैं। इस प्रकार ताल के दो आवर्तनों में प्रस्तार समाप्त होता है।*

सा सा | सा सा	प — नि् ध | प — ध नि्	रे — ग् म | ग् ग्	सा - रे ग् | ध सा ध —
तं ऽ | भ व	ल ऽ ला ऽ | ऽ ऽ ट ऽ	न ऽ य ऽ | नां ऽ	बु ऽ जा ऽ | ऽ ऽ धि ऽ
१		२	

रे ग् सा — | रे ग्	सा सा | सा सा	ध ध | नि् — नि् सां	नि् ध प — | सां सां
कं ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ	ऽ ऽ | ऽ ऽ	न ग | सू ऽ ऽ ऽ	नु ऽ प्र ऽ | ण य
३		४	

---

* सभी प्रस्तार पं० ओंकारनाथ ठाकुर की पद्धति में दिए जा रहे हैं। यहाँ प्रयुक्त चिन्हों का परिचय यह है—

नीचे आड़ी रेखा मन्द्र सप्तक — प॒, ऊपर खड़ी रेखा तार सप्तक — ग̍, नीचे तिरछी रेखा विकृत स्वर — म् ध्। स्वरों के बीच पतली खड़ी रेखा एक मात्रा की समाप्ति की सूचक और मोटी खड़ी रेखा एक विभाग की समाप्ति की सूचक — । । । । स्वरों के बीच में आड़ी रेखा स्वर को लम्बा करने की सूचक — और अक्षरों के बीच में अवग्रह अक्षरों को लम्बा करने की सूचक — ऽ।

नि॒ ध	प — ध नि॒	रे ग॒	सा ग॒	सा ध	ध नि॒ प —	सा सा	सा सा
के ऽ	लि ऽ ऽ ऽ	स मु	ऽ द्ध	वं ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
५				६			
सा सा	ग॒ सा	म प	म म	सा ग॒	म — ध नि॒	नि॒ ध प —	ग॒ — रे ग॒
स र	स कृ	त ति	ल क	पं ऽ	ऽ ऽ का ऽ	नु ऽ ले ऽ	प ऽ ऽ ऽ
७				८			
ग॒ ग॒	ग॒ ग॒	सा सा	सा सा	ध सा	रे — ग॒ रे	सा म	म म
नं ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	प्र ण	मा ऽ ऽ ऽ	मि का	ऽ म
९				१०			
ध नि॒	प — ध नि॒	रे ग॒	रे सा	रे ग॒ सा —	रे ग॒	सा सा	सा सा
दे ऽ	हें ऽ ऽ ऽ	ध ना	न ऽ	लं ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
११				१२			

यह ज्ञातव्य है कि वर्तमान कोमल ग-नि से प्राचीन ग-नि एक-एक श्रुति नीचे यानी क्रम से स-प से ५-५ श्रुति की दूरी पर हैं, आज के कोमल ग-नि की तरह ६-६ श्रुति पर नहीं।

इसी प्रकरण की श्लोक संख्या ४-६ ख में ग्रंथकार ने षाड्जी जाति के १५ भेद कहे हैं। इस संदर्भ में नान्यदेव के भरतभाष्य की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है जहाँ षाड्जी के ९५ भेदों का निरूपण हुआ है (भ० भा०, द्वितीय खण्ड, पृ० १५ तथा ३२-७२)। इनमें से १ शुद्ध, १ अपन्यास भेद से, ४ अंशभेद से, ४ ग्रहभेद से, १६ ग्रह-अंश भेद से, २४ ग्रह-अंश-अपन्यासभेद से अर्थात् ५० संपूर्ण विकृत भेद हैं। ४५ षाडव भेद हैं जिनमें २५ ग्रह-अंश भेद से और २० म अपन्यास रखते हुए ग्रह-अंश भेद से होते हैं (वही)। शार्ङ्गदेव और नान्यदेव के भेदों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि शार्ङ्गदेव ने ४ परिवर्तनीय लक्षणों (संपूर्णत्व, ग्रह, अंश, अपन्यास) से बनने वाले आधार बनाए हैं लेकिन नान्यदेव ने आधार क्रमों से बनने वाले कुल प्रकार दिए हैं। जैसे, शार्ङ्गदेव ने केवल ग्रह और केवल अंश परिवर्तन से १-१ ही भेद कहा है जबकि नान्यदेव ने ४-४। षाड्जी के उदाहरण से इसे समझ लें। षाड्जी में स, ग, म, प, ध ये ५ अंश हैं। स के ग्रह-अंश-न्यास-अपन्यास होने से शुद्ध रूप होता है इसलिये उसे छोड़कर शेष ४ अंशों में परिवर्तन करके ४ अंशाधारित विकृत भेद बन सकते हैं। इन्हीं ४ स्वरों के अंशत्व में ग्रहभेद से ४ विकृत प्रकार बन सकते हैं।

नान्यदेव ने षाड्जी जाति के विभिन्न अंश वाले रूपों के स्वरप्रस्तार दिए हैं। शुद्ध षाड्जी के प्रस्तार में जहाँ-जहाँ अंश के रूप में षड्ज का बार-बार प्रयोग हुआ है उसके स्थान पर ग, म, प अथवा ध का प्रयोग करते हुए उनका बाहुल्य करके षाड्जी के विभिन्नांश रूप दिए गए हैं। इसके अलावा इन प्रस्तारों के स्वररूपों और षड्जांश षाड्जी के स्वरों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

२. आर्षभी जातिः

आर्षभ्यां तु त्रयोंऽशाः स्युर्निषादर्षभधैवताः॥ ६४॥

द्विश्रुत्योः संगतिः शेषैर्लङ्घनं पञ्चमस्य च।
षाडवं षड्जलोपेन सपलोपादिहौडुवम्॥ ६५॥

मूर्च्छना पञ्चमादिश्च तालश्चच्चत्पुटो मतः।
अष्टौ कला भवन्तीह विनियोगस्तु पूर्ववत्॥ ६६॥

अस्यामार्षभ्यामृषभो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः। देशीमधुकर्यौ दृश्येते। अस्याः प्रस्तारः—

२. आर्षभी

१.	रि	ग	स	रिग	म	रिम	ग	रिरि
	गु	ण	लो		च	ना		थि
२.	रि	रि	निध	निध	ग	रिम	म	पनि
	क	म	न		न्त	म	म	र
३.	म	ध	नि	ध	प	प	स	ग
	म	ज	र	म			क्ष	य
४.	नि	धनि	रि	गरि	सधं	गरि	रि	रि
	म	जे					यं	
५.	रि	म	गरि	सधं	सस	रिस	रिग	मम
	प्र	ण		मा			मि	दिव्य
६.	निध	प	रि	रि	रिप	गरि	सधं	स
	म	णि	द		पं	णा		म
७.	रिस	रिस	रिग	रिग	म	म	म	गरि
	ल	नि	के				तं	
८.	प	नि	रि	म	गरि	सधं	गरि	गरि
	भ	व	म	मे				यं

२. आर्षभी जाति

६४ ग-६६. (अ०) आर्षभ्यां तु आर्षभी में तो निषाद-ऋषभ-धैवताः निषाद, ऋषभ और धैवत (ये) त्रयः अंशाः स्युः तीन अंश होते हैं। द्विश्रुत्योः द्विश्रुति (स्वरों) की शेषैः शेष (स्वरों) के साथ संगतिः संगति (होती है)। पञ्चमस्य पंचम का लङ्घनं च लंघन भी (होता है) इह षाडवं यहाँ षाडव (रूप) षड्जलोपेन षड्ज के लोप से (और) औडुवं औडव (रूप) स-पलोपात् स-प के लोप से (होता है)। मूर्च्छना पञ्चमादिः मूर्च्छना पंचमादि तालः च और ताल चच्चत्पुटः मतः चच्चत्पुट माना गया है। इह इसमें अष्टौ कलाः भवन्ति आठ कलाएँ होती हैं। विनियोगः तु विनियोग तो पूर्ववत् पूर्ववत् (षाड्जी के समान होता है)।

अस्यां आर्षभ्यां इस आर्षभी में ऋषभः न्यासः ऋषभ न्यास (और) अंशाः एव अपन्यासाः अंश ही अपन्यास होते हैं। देशीमधुकर्यौ (इसमें) देशी और मधुकरी दृश्येते दिखाई देती हैं। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) द्विश्रुतिक यानी गांधार-निषाद की स-रि-म-प-ध के साथ संगति होती है। इससे यह भी सूचित होता है कि इन दोनों स्वरों का बहुत्व और दूसरे स्वरों का अल्पत्व है। पूर्णावस्था में भी पंचम का अल्पत्व होता है।

देशी रागांग है और मधुकरी ककुभ नामक ग्रामराग की विभाषा है। इनका निरूपण दूसरे अध्याय में किया गया है।

आर्षभी का प्रस्तार चतस्त्र चच्चत्पुट ताल में है जिसके हर विभाग में ४-४ क्रियाएँ होने से एक आवर्तन में १६ क्रियाएँ होती हैं। षाड्जी प्रस्तार में ८ अंक ८ विभागों के सूचक हैं। इस प्रकार चच्चत्पुट ताल के दो आवर्तनों में प्रस्तार पूरा हुआ है। ताल क्रियाओं के साथ प्रस्तार इस प्रकार है—

		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
१.	रि	ग	स	रिग	म	रिम	ग	रिरि
	गु	ण	लो		च	ना		धि
	आ		नि		वि		श	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
२.	रि	रि	निध	निध	ग	रिम	म	पनि
	क	म	न		न्त	म	म	र
	आ		नि		वि		ता	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
३.	म	ध	नि	ध	प	प	स	ग
	म	ज	र	म			क्ष	य
	आ		श		वि		प्र	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
४.	नि	धनि	रि	गरि	सधं	गरि	रि	रि
	म	जे					यं	
	आ		नि		वि		सं	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
५.	रि	म	गरि	सधं	सस	रिस	रिग	मम
	प्र	ण		मा			मि	दिव्य
	आ		नि		वि		श	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
६.	निध	प	रि	रि	रिप	गरि	सधं	स
	म	णि	द		र्प	णा		म
	आ		नि		वि		ता	
		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ
७.	रिस	रिस	रिग	रिग	म	म	म	गरि
	ल	नि	के		तं			
	आ		श		वि		प्र	

	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
८.	प	नि	रि	म	गरि	सधं	गरि	गरि
	भ	व	म	मे				यं
	आ		नि		वि		सं	

पंचमादि मूर्च्छना द्वादशस्वर वाली समझनी चाहिए। षड्जग्राम की शुद्धा जाति होने से आर्षभी में ऋषभ अंश वाली स्वरावलि यानी षड्जग्राम की भरत की ऋषभ की अभिरुद्गता के स्वर प्रयुक्त होते हैं जिसकी श्रुतिव्यवस्था इस प्रकार है—

रि ग म प ध नि स (रि)
|_ २ _|_ ४ _|_ ४ _|_ ३ _|_ २ _|_ ४ _|_ ३ _|

ऋषभ को अगर षड्ज मान लिया जाय तो आर्षभी के स्वरों का वर्तमान लक्ष्य में निम्न रूप होगा—

स रे॒ ग॒ म॒ प ध॒ नि॒ (स)
|_ २ _|_ ४ _|_ ४ _|_ ३ _|_ २ _|_ ४ _|_ ३ _|

ये स्वर वर्तमान उत्तर भारतीय भैरवी जैसे हैं। अन्तर यह है कि इस स्वरावलि में स-म में १० श्रुतियों का अन्तर होने के कारण वे परस्पर संवादी नहीं हैं।

आर्षभी के ऋषभ को षड्ज मानने पर उसके प्रस्तार का वर्तमान स्वरांकन में निम्न रूप होगा।

सा रे॒ | नि॒ — सा रे॒ | ग॒ — सा ग॒ | रे॒ — सा सा | सा सा | ध॒ प ध॒ प | रे॒ — सा ग॒ | ग॒ — म ध॒ |
गु ण | लो ऽ ऽ ऽ | च ऽ ना ऽ | ऽ ऽ धि ऽ | क म | न ऽ ऽ ऽ | न्त ऽ म ऽ | म ऽ र ऽ |

१ २

ग॒ प | ध॒ प | म म | नि॒ रे॒ | ध॒ — प ध॒ | सा — रे॒ सा | नि॒ प॒ रे॒ सा | सा सा |
म ज | र म | ऽ ऽ | क्ष य | म ऽ जे ऽ | ऽ ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ ऽ ऽ | यं ऽ |

३ ४

सा ग॒ | रे॒ सा नि॒ प॒ | नि॒ नि॒ सा नि॒ | सा रे॒ ग॒ ग॒ | ध॒ प म — | सा सा | सा म रे॒ सा | नि॒ प॒ नि॒ — |
प्र ण | ऽ ऽ मा ऽ | ऽ ऽ ऽ ऽ | मि ऽ दि व्य | म ऽ णि ऽ | द ऽ | र्प ऽ णा ऽ | ऽ ऽ म ऽ |

५ ६

सा नि॒ सा नि॒ | सा रे॒ सा रे॒ | ग॒ ग॒ | ग॒ रे॒ सा — | म ध॒ | सा ग॒ | रे॒ सा नि॒ प॒ | रे॒ सा रे॒ सा |
ल ऽ नि ऽ | के ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ | तं ऽ ऽ ऽ | भ व | म मे | ऽ ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ यं ऽ |

७ ८

शार्ङ्गदेव के आर्षभी प्रस्तार में प्रयुक्त पंचम ऋषभ से १० श्रुतियों के अन्तर पर है जो ऊपर के स्वरांकन में मध्यम बन गया है। यहाँ उसे शुद्ध मध्यम के रूप में ही लिखा गया है लेकिन वास्तव में वह षड्ज से १० श्रुति की दूरी पर है।

नान्यदेव ने केवल षाड्जी के सभी ९५ भेदों के स्वरप्रस्तार दिए हैं, अन्य जातियों के नहीं। आर्षभी में उसने ५४ विकृत भेदों का उल्लेख किया है (भ० भा०, खण्ड २, पृ० ७९)। शार्ङ्गदेव ने श्लोक ६ ग-७ में आर्षभी आदि ६ जातियों में २३-२३ विकृत भेद कहे हैं।

३. गान्धारी जातिः

पञ्चांशा रिधवर्ज्याः स्युर्गान्धार्यां संगतिः पुनः।
न्यासांशाभ्यां तदन्येषां धैवतादृषभं व्रजेत्॥ ६७॥

रिलोपरिधलोपाभ्यां षाडवौडुविते क्रमात्।
पञ्चमः षाडवद्वेषी निसमध्यमपञ्चमाः॥ ६८॥

अंशा द्विषन्त्यौडुवितं कलाः षोडश कीर्तिताः।
मूर्च्छना धैवतादिः स्यात्तालश्चच्चत्पुटो मतः॥ ६९॥

विनियोगो ध्रुवागाने तृतीयप्रेक्षणे भवेत्।

अस्यां गान्धार्यां गान्धारो न्यासः। षड्जपञ्चमावपन्यासौ। गान्धारपञ्चमदेशीवेलावल्यो दृश्यन्ते। अस्याः प्रस्तारः—

३. गान्धारी

१.	ग	ग	स	निं	स	ग	ग	ग
	ए				तं			
२.	ग	गम	प	प	धप	म	निध	निसं
	र	ज	नि	व	धू		मु	ख
३.	निध	पनि	म	मपरि	ग	ग	ग	ग
	वि		भ्र	म		दं		
४.	ग	गम	प	प	धप	म	निध	निसं
	नि	शा	म	य	व	रो		रु
५.	निध	पनि	म	मपरि	ग	ग	म	स
	त	व	मु	ख	वि	ला		स
६.	ग	स	ग	ग	ग	गम	ग	ग
	व	पु	श्चा	रु		म	म	ल
७.	ग	गम	प	प	धप	म	निध	निसं
	मृ	दु	कि	र	ण			
८.	निध	पनि	म	मपरि	ग	ग	ग	ग
	म	मृ	त	भ	वं			
९.	रि	ग	म	पध	रि	ग	स	स
	र	ज	त	गि	रि	शि	ख	र

१०.	निं	निं	निं	निं	निं	निं	निं	निं
	म	णि	श	क	ल	शं		ख
११.	ग	गम	प	प	धप	म	निध	निसं
	व	र	यु	व	ति	दं		त
१२.	निध	पनि	म	मपरि	ग	ग	ग	ग
	पं		क्ति	नि	भं			
१३.	नि	नि	प	नि	ग	म	ग	स
	प्र	ण	मा		मि	प्र	ण	य
१४.	ग	स	ग	ग	ग	गम	ग	ग
	र	ति	क	ल	ह	र	व	नु
१५.	ग	प	म	म	निध	निसं	निध	पनि
	दं							
१६.	म	परिग	ग	ग	ग	ग	ग	ग
	श	शि			नं			

३. गान्धारी जाति

६७-७० ख. (अ०) गान्धार्यां गांधारी (जाति) में रि-धवर्ज्याः रि-ध को छोड़कर पञ्च-अंशाः स्युः पाँच अंश होते हैं। पुनः फिर न्यास-अंशाभ्यां न्यास (स्वर) की अंश (स्वरों) से (और) तत् उसकी अन्येषां अन्यों (उपांश स्वरों) से संगतिः संगति (होती है)। धैवतात् धैवत् से ऋषभं व्रजेत् ऋषभ को जाना चाहिए। रि-लोप-रिध-लोपाभ्यां रि के लोप (और) रि-ध के लोप से क्रमात् क्रम से षाडव-औडुविते षाडव और औडव (होता है)। पञ्चमः पंचम षाडवद्वेषी षाडव का द्वेषी (और) नि-स-मध्यमपञ्चमाः अंशाः नि-स-म-प अंश औडुवितं द्विषन्ति औडुवित से द्वेष करते हैं। कलाः कलाएँ षोडश कीर्तिताः १६ कही गई हैं। धैवतादिः मूर्च्छना स्यात् धैवतादि मूर्च्छना होती है। तालः चच्चत्पुटः मतः ताल चच्चत्पुट माना गया है। तृतीय-प्रेक्षणे तीसरे अंक में ध्रुवागाने ध्रुवागान में विनियोगः भवेत् विनियोग होता है।

अस्यां गान्धार्यां इस गांधारी में गान्धारः न्यासः गांधार न्यास (है)। षड्जपञ्चमौ अपन्यासौ षड्ज और पंचम अपन्यास (हैं)। गान्धारपञ्चम-देशी-वेलावल्यः दृश्यन्ते गांधारपंचम, देशी (और) वेलावली (इसमें) दिखाई देती हैं। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) 'तदन्येषां' का अर्थ यह है—गान्धार न्यास के साथ सभी अंशों की संगति होती है और पर्यायांशों के साथ न्यास की संगति भी होती है। पूर्णावस्था में कभी-कभी ध से रि की संगति भी होती है। गान्धारी मध्यमग्राम की जाति है इसलिये इसमें प और रि दोनों का ही लोप संभव नहीं। अतः पंचम अंश होने पर उसके संवादी रि के लोप से षाडव भेद नहीं बनते। यह भरत की विधि है इसलिये नि-स-म-प के अंशत्व में औडव भेद नहीं होते।

कल्लि० ने धैवतादि मूर्च्छना की व्याख्या में कहा कि गांधारी मध्यमग्रामिक जाति होने के कारण पौरवी मूर्च्छना है। स्पष्ट है कि उसने सप्तस्वर मूर्च्छना का नाम कहा है। लेकिन शार्ङ्गदेव ने जातियों की मूर्च्छनाएँ मतंग के अनुसार ही बताई हैं जो द्वादशस्वर हैं। द्वादशस्वर मूर्च्छनाओं में सातवीं यानी हृष्यका धैवतादि है, पौरवी नहीं।

गान्धारी मध्यमग्रामिक शुद्धा जाति है इसलिये उसके लिये मूर्च्छना निश्चित करनी हो तो, नियमानुसार उसमें गांधार से शुरू होने वाली सप्तस्वर हरिणाश्वा मूर्च्छना के स्वर प्रयुक्त होने चाहिएँ। इस मूर्च्छना के स्वरों की श्रुतिव्यवस्था और उसके आरंभक स्वर गांधार को षड्ज मानने से प्राप्त होने वाले स्वर इस प्रकार हैं—

ग		म		प		ध		नि		स		रि		(ग)
	४		३		४		२		४		३		२	

स		रि		ग		म्		प		ध		नि		(स)
	४		३		४		२		४		३		२	

ये आज के उत्तर भारतीय यमन के स्वर हैं। तदनुसार नीचे वर्तमान स्वरांकन में उसका रूप दिया जा रहा है। गांधारी का प्रस्तार १६ कलाओं का है जो दक्षिण मार्ग में चतुष्कल चच्चत्पुट ताल के ४ आवर्तनों में पूरा होता है।

सा सा	ध प	ध सा	सा सा	सा — सा रे	ग ग	म् ग रे —	प म् प ध
ए ऽ	ऽ ऽ	तं ऽ	ऽ ऽ	र ऽ ज ऽ	नि व	धू ऽ ऽ ऽ	मु ऽ ख ऽ
१				२			
प म् ग प	रे रे ग नि	सा सा	सा सा	सा — सा रे	ग ग	म् ग रे —	प म् प ध
वि ऽ ऽ ऽ	ऽ भ्र ऽ ऽ	म ऽ	दं ऽ	नि ऽ शा ऽ	म य	व ऽ रो ऽ	ऽ ऽ रु ऽ
३				४			
प म् ग प	रे रे ग नि	सा सा	रे ध	सा ध	सा सा	सा — सा रे	सा सा
त ऽ व ऽ	मु ख ऽ ऽ	वि ला	ऽ स	व पु	श्चा रु	ऽ ऽ म ऽ	म ल
५				६			
सा — सा रे	ग ग	म् ग रे —	प म् प ध	प म् ग प	रे रे ग नि	सा सा	सा सा
मृ ऽ दु ऽ	कि र	ण ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	म ऽ मृ ऽ	त भ ऽ ऽ	वं ऽ	ऽ ऽ
७				८			
नि सा	रे — ग म्	नि सा	ध ध	प प	प प	प प	प प
र ज	त ऽ गि ऽ	रि शि	ख र	म णि	श क	ल शं	ऽ ख
९				१०			
सा — सा रे	ग ग	म् ग रे —	प म् प ध	प म् ग प	रे रे ग नि	सा सा	सा सा
व ऽ र ऽ	यु व	ति ऽ दं ऽ	ऽ ऽ त ऽ	पं ऽ ऽ ऽ	क्ति नि ऽ ऽ	भं ऽ	ऽ ऽ
११				१२			
प प	ग प	सा रे	सा ध	सा ध	सा सा	सा — सा रे	सा सा
प्र ण	मा ऽ	मि प्र	ण य	र ति	क ल	ह ऽ र ऽ	व नु
१३				१४			
सा ग	रे रे	प म् प ध	प म् ग प	रे ग नि सा	सा सा	सा सा	सा सा
दं ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	श शि ऽ ऽ	ऽ ऽ	नं ऽ	ऽ ऽ
१५				१६			

मूर्च्छनास्थापना की दो विधियों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रथम विधि ग्रंथकार का स्वमत है और दूसरी विधि अन्यमत कह कर दी गई है जिसे कल्लि० ने लक्ष्य के अनुसार बताया है। भरत की विधि में वीणा के मध्यस्थान में किसी जाति के प्रयोग के समय पहले कोई मूर्च्छना स्थापित करने की जरूरत नहीं होती क्योंकि जाति का अंशस्वर ही मध्यस्थान का प्रथम स्वर बन जाता है। जैसे, गांधारी जाति के लिये मत्तकोकिला के ८वें तार की ध्वनि गांधार कहलाती है और उसके बाद के ६ स्वर लेकर ग म प ध नि स रि मध्यस्थानीय होते हैं। तदनुसार इसके पूर्ववर्ती सप्तस्वर मन्द्रस्थान के और परवर्ती सात स्वर तार स्थान के होते हैं। लेकिन यहाँ सभी जातियों के प्रस्तारों में षड्ज से पूर्ववर्ती निषाद और अन्यस्वरों पर मन्द्र का चिन्ह तथा परवर्ती षड्जादि स्वरों पर तार का चिन्ह है जो यह सूचित करता है कि शार्ङ्गदेव ने षड्ज से निषाद तक के सप्तक को मध्यस्थान में ही स्थापित रखा है। प्रयोज्य जाति की आधार स्वरावलि अर्थात् मूर्च्छना को मध्यस्थान में स्थापित नहीं किया गया बल्कि प्रथम विधि के अनुसार ही मूर्च्छना की स्थापना की गई है।

४. मध्यमा जातिः

पञ्चांशा मध्यमायां स्युरगान्धारनिषादकाः ॥ ७० ॥

षड्जमध्यमबाहुल्यं गान्धारोऽल्पोऽत्र षाडवम्।
गलोपान्निगलोपेन त्वौडुवं स्यात्कलाऽष्टकम् ॥ ७१ ॥

ऋषभादिर्मूर्च्छना स्यात्तालश्चच्चत्पुटो मतः।
विनियोगो ध्रुवागाने द्वितीयप्रेक्षणे भवेत् ॥ ७२ ॥

अस्यां मध्यमायां मध्यमो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः। चोक्षषाडवदेश्यान्धाल्यो दृश्यन्ते। अस्याः प्रस्तारः—

४. मध्यमा

१.	म	म	म	म	प	धनि	नि	धप
	पा			तु	भ	व	मू	
२.	म	पम	म	स	म	ग	रि	रि
	र्ध	जा			न	न		
३.	प	म	रिम	गम	म	म	म	म
	कि	री	ट					
४.	म॑	निध	निस॑	निध	पम	पध	म	म
	म	णि	द		र्प		णं	
५.	निं	निं	रि	रि	निं	रि	रि	प
	गौ		री		क	र	प	
६.	निं	मप	म	म	स	स	स	स
	ल्ल	वां			गु	लि		सु
७.	ग॑	नि	स॑	ग॑	धप	म	धनि	स॑
	ते						जि	तं
८.	प	स॑	प	निधप	म	म	म	म
	सु	कि	र		णं			

४. मध्यमा जाति

७० ग-७२. (अ०) **मध्यमायां** मध्यमा में **अगान्धारनिषादकाः** गांधार-निषाद को छोड़कर **पञ्च-अंशाः स्युः** पाँच अंश होते हैं। **षड्जमध्यमबाहुल्यं** षड्ज-मध्यम का बाहुल्य (और) **गान्धारः अल्पः** गांधार अल्प (होता है)। **अत्र** इसमें **गलोपात् षाडवं** ग के लोप से षाडव (और) **नि-गलोपेन** नि-ग के लोप से (तो) **औडुवं** औडव (रूप बनते हैं)। **कला-अष्टकं स्यात्** कला आठ होती हैं। **ऋषभादिः मूर्च्छना स्यात्** ऋषभादि मूर्च्छना होती है। **तालः चच्चत्पुटः मतः** ताल चच्चत्पुट माना गया है। **द्वितीयप्रेक्षणे** दूसरे अंक में **ध्रुवागाने** ध्रुवागान में **विनियोगः भवेत्** विनियोग होता है।

अस्यां मध्यमायां इस मध्यमा में **मध्यमः न्यासः** मध्यम न्यास (है)। **अंशाः एव अपन्यासाः** अंश ही अपन्यास (हैं)। **चोक्षषाडव-देशी-आन्धाल्यः** शुद्धषाडव, देशी और आन्धाली **दृश्यन्ते** (इसमें) दिखाई देती हैं। **अस्याः प्रस्तारः** इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) मध्यमा में स-म अंश होने से उनका बाहुल्य तो होता ही है फिर भी इनका अलग से बाहुल्य कहने का आशय यह है कि इनका वादी के समान बाहुल्य होता है। ऋषभादि मूर्च्छना मध्यमग्राम की ऋषभ से शुरू होने वाली द्वादशस्वर वाली समझनी चाहिए। शुद्धषाडव ग्रामराग है और आन्धाली पंचम नामक ग्रामराग की भाषा है।

मध्यमा मध्यमग्राम की शुद्धा जाति है जिसमें मध्यम अंश से शुरू होने वाली स्वरावलि अर्थात् सौवीरी के स्वर हैं। इस मूर्च्छना के मध्यम को षड्ज मानने से प्राप्त स्वरावलि यह होगी—

मूर्च्छना के स्वर	म		प		ध		नि		स		रि		ग		म
		३		४		२		४		३		२		४	
वर्तमान स्वर	स		रि		ग		म		प		ध		नि॒		स
		३		४		२		४		३		२		४	

ये स्वर वर्तमान खमाज के सदृश हैं। मध्यमा का प्रस्तार चतुष्कल चच्चत्पुट के दो आवर्तनों में समाप्त होता है। मध्यम को षड्ज मानने से इस प्रस्तार का निम्न स्वरूप होगा।

सा सा	सा सा	रे — ग म	म — ग रे	सा — रे सा	सा प॒	सा नि॒	ध॒ ध॒
पा ऽ	ऽ तु	भ ऽ व ऽ	मू ऽ ऽ ऽ	र्ध ऽ जा ऽ	ऽ ऽ	न न	ऽ ऽ
१				२			
रे सा	ध॒ सा नि॒ सा	सा सा	सा सा	सां — म ग	म प म ग	रे सा रे ग	सा सा
कि री	ट ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	म ऽ णि ऽ	द ऽ ऽ ऽ	र्प ऽ ऽ ऽ	णं ऽ
३				४			
म॒ म॒	ध॒ ध॒	म॒ ध॒	ध॒ रे	म॒ — सा रे	सा सा	प॒ प॒	प॒ प॒
गौ ऽ	री ऽ	क र	प ऽ	ल्ल ऽ वां ऽ	ऽ ऽ	गु लि	ऽ सु
५				६			
नि॒ म	प नि्	ग रे सा —	ग म प —	रे प	रे मगरे	सा सा	सा सा
ते ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	जि ऽ तं ऽ	सु कि	र ऽऽऽ	णं ऽ	ऽ ऽ
७				८			

५. पञ्चमी जातिः

रिपावंशौ तु पञ्चम्यां सगमाः स्वल्पका मताः।
रिमयोः संगतिर्गच्छेत्पूर्णत्वे गान्निषादकम्॥ ७३॥
क्रमाद्गेन निगाभ्यां च षाडवौडुवता मता।
ऋषभोंऽशस्त्वौडुवितं द्वेष्ट्यष्टौ च कला मताः॥ ७४॥
मूर्च्छनाऽऽदि तु पूर्ववत्प्रेक्षणं तु तृतीयकम्।

अस्यां पञ्चम्यां पञ्चमो न्यासः। ऋषभपञ्चमनिषादा अपन्यासाः। चोक्षपञ्चमदेश्यान्धाल्यो दृश्यन्ते। अस्याः प्रस्तारः—

५. पञ्चमी

१.	प	धनि	नि	नि	म	नि	म	प
	ह	र	मू		र्ध	जा'		न
२.	ग	ग	स	स	मं	मं	पं	पं
	नं	म	हे		श	म	म	र
३.	पं	पं	धं	निं	निं	निं	ग	स
	प	ति	बा		हु	स्तं		भ
४.	प	म	ध	नि	निध	प	प	प
	न	म	नं		तं			
५.	प	प	रिं	रिं	रिं	रिं	रिं	रिं
	प्र	ण	मा		मि	पु	रु	ष
६.	मं	निंग	स	सध	नि	नि	नि	नि
	मु	ख	प	द्म		ल		क्ष्मी
७.	सं	सं	सं	म	प	प	प	प
	ह	र	मं		बि	का		प
८.	ध	म	ध	नि	प	प	प	प
	ति	म	जे		यं			

५. पंचमी जाति

७३–७५ ख. (अ०) पञ्चम्यां तु पंचमी में तो रि-पौ अंशौ रि-प अंश (होते हैं)। स-ग-माः स्वल्पकाः मताः स-ग-म अल्प माने गए हैं। रि-मयोः संगतिः रि-म की संगति (है)। पूर्णत्वे पूर्णावस्था में गात् निषादकं ग से निषाद को गच्छेत् जाना चाहिए। क्रमात् क्रम से गेन ग (लोप) से नि-गाभ्यां च और नि-ग (लोप) से षाडव-औडुवता मता षाडवता (और) औडुवता मानी गई है। ऋषभः अंशः तु ऋषभ अंश तो औडुवितं द्वेष्टि औडुवित से द्वेष करता है। अष्टौ च कलाः मताः आठ कलाएँ मानी गई हैं। मूर्च्छना-आदिः तु मूर्च्छना आदि तो पूर्ववत् पूर्ववत् (होती हैं)। प्रेक्षणं तु अंक तो तृतीयकं तीसरा (है)।

अस्यां पञ्चम्यां इस पंचमी में पञ्चमः न्यासः पंचम न्यास (है)। ऋषभ-पञ्चम-निषादाः अपन्यासाः ऋषभ, पंचम और निषाद अपन्यास (होते हैं)। चोक्षपञ्चम-देशी-आन्धाल्यः (इसमें) शुद्धपंचम, देशी और आन्धाली दृश्यन्ते दिखाई देती हैं। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) श्लोक ५८ ख में षाडव-औडवकारी स्वरों की अल्पता और अल्पतरता संबंधी सामान्य नियम का भंग 'पञ्चम्यां तु विपर्ययः' के द्वारा कहा जा चुका है, कल्लि० ने इसे याद दिलाया है।

पंचमी मध्यमग्रामिक जाति होने से ऋषभ अंश होने पर ग्रामभेदक पंचम का लोप संभव नहीं होता इसलिये ऋषभ षाडवद्वेषी है यानी ऋषभ अंश होने पर षाडव रूप नहीं होता।

इसमें मध्यमग्राम की पंचम वाली मूर्च्छना के स्वर हैं। पंचम को षड्ज मानने से प्राप्त स्वरावलि इस प्रकार है—

मूर्च्छना के स्वर	प		ध		नि		स		रि		ग		म		प
		४		२		४		३		२		४		३	
वर्तमान स्वर	स		रि		ग्		म		प		ध्		नि्		स
		४		२		४		३		२		४		३	

इस मूर्च्छना के स्वर स्थूल रूप से वर्तमान आसावरी जैसे हैं। इसमें स-म में १० श्रुत्यन्तर और म-स में १२ श्रुत्यन्तर होने से इनमें संवाद नहीं है।

पंचमी का प्रस्तार चतुष्कल चच्चत्पुट ताल के दो आवर्तनों में पूरा होता है। पंचम को षड्ज मानने पर प्रस्तार का निम्न रूप होगा।

सा — रे ग्	ग् ग्	नि् ग्	नि् सा	ध् ध्	म म	नि् नि्	सा सा
ह ऽ र ऽ	मू ऽ	र्ध जा	ऽ न	न म	हे ऽ	श म	म र
१				२			
सा सा	रे ग्	ग् ग्	ध् म	सा नि्	रे ग्	ग् रे सा —	सा सा
प ति	बा ऽ	हु स्तं	ऽ भ	न म	नं ऽ	तं ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ
३				४			
सा सा	प प	प प	प प	नि् — ग् ध्	म — म रे	ग् ग्	ग् ग्
प्र ण	मा ऽ	मि पु	रु ष	मु ऽ ख ऽ	प ऽ द्म ऽ	ऽ ल	ऽ क्ष्मी
५				६			
म म	म नि्	सा सा	सा सा	रे नि्	रे ग्	सा सा	सा सा
ह र	मं ऽ	बि का	ऽ प	ति म	जे ऽ	यं ऽ	ऽ ऽ
७				८			

६. धैवती जातिः

स्तो धैवत्यां रिधावंशौ लङ्घ्यावारोहिणौ सपौ॥ ७५॥

पलोपात्षाडवं प्रोक्तमौडुवं सपलोपतः।
ऋषभादिर्मूर्च्छना स्यात्तालो मार्गश्च गीतयः॥ ७६॥

विनियोगश्च षाड्जीवत्कला द्वादशकीर्तिताः।

अस्यां धैवत्यां धैवतो न्यासः। ऋषभमध्यमधैवता अपन्यासाः। चोक्षकैशिकदेशीसिंहल्यो दृश्यन्ते।

अस्याः प्रस्तारः—

६. धैवती

१.	ध त	ध रु	निध णा	पध	म म	म लें	म	म दु
२.	ध म	ध णि	निध भू	निसं	सं षि	सं ता	सं	सं म
३.	सध ल	ध शि	प रो	मध	ध	निध	धनि जं	ध
४.	स भु	स ज	रिग गा	रिग	स धि	रिग पै	स	स क
५.	धं कुं	धं	निं ड	पं ल	धं वि	पं ला	मं	मं स
६.	धं कृ	धं त	पं शो	मंधं	धं	निंधं	धंनिं भं	धं
७.	ध न	ध ग	निसं सू	निसं	निध नु	प ल	प	प क्ष्मी
८.	रिग दे	स हा	स	स	निं र्ध	निं मि	निं	निं श्रि
९.	स त	रिग श	रिग री	स	नि	स	ध रं	ध
१०.	रिं प्र	गंरिं ण	मंगं मा	मं	मं मि	मं भू	मं	मं त
११.	नि गी	नि	ध तो	ध	प प	रिग हा	स	रिग र
१२.	प प	ध रि	स तु	म	ध	नि	ध ष्टं	ध

६. धैवती जाति

७५ ग-७७ ख. (अ०) धैवत्यां धैवती में रि-धौ अंशौ स्तः रि-ध अंश होते हैं। आरोहिणौ आरोह में स-पौ लङ्घ्यौ स-प का लंघन होना चाहिए। प-लोपात् षाडवं प (के) लोप से षाडव (और) स-पलोपतः स-प (के) लोप से औडुवं प्रोक्तं औडुव कहा गया है। ऋषभादिः मूर्च्छना स्यात् ऋषभादि मूर्च्छना होती है। तालः मार्गः च ताल और मार्ग, गीतयः विनियोगः च गीति और विनियोग षाड्जीवत् षाड्जी के समान (होता है)। कलाः कला द्वादश कीर्तिताः बारह कही गई हैं।

अस्यां धैवत्यां इस धैवती में धैवतः न्यासः धैवत न्यास, ऋषभमध्यमधैवताः अपन्यासाः ऋषभ, मध्यम और धैवत अपन्यास (होते हैं)। चोक्षकैशिक-देशी-सिंहल्यः (इसमें) शुद्धकैशिक, देशी और सिंहली दृश्यन्ते दिखाई देती हैं। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) धैवती षड्जग्राम की जाति है। इसमें षड्जग्राम की धैवतांश स्वरावलि के स्वर हैं। धैवत को षड्ज मानने से प्राप्त वर्तमान स्वर इस प्रकार हैं—

मूर्च्छना के स्वर	ध		नि		स		रि		ग		म		प		ध
		२		४		३		२		४		४		३	
वर्तमान स्वर	स		रि्		ग्		म		म्		ध्		नि्		सं

ये वर्तमान बहादुरी तोड़ी के स्वर हैं।

धैवती का प्रस्तार चतुष्कल पंचपाणि के दो आवर्तनों में समाप्त होता है। धैवत को षड्ज मानने से प्रस्तार का रूप निम्नोक्त होगा।

सा सा	रे् सा नि् सा	ध् ध्	ध् ध्	सा सा	रे् सा रे् ग्	ग् ग्	ग् ग्
त रु	णा ऽ ऽ ऽ	म लें	ऽ दु	म णि	भू ऽ ऽ ऽ	षि ता	ऽ म
१				२			
ग् सा सा —	नि् — ध् सा	सा — रे् सा	सा रे् सा —	ग् ग्	म म् म म्	ग् — म म्	ग् ग्
ल ऽ शि ऽ	रो ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	जं ऽ ऽ ऽ	भु ज	गा ऽ ऽ ऽ	धि ऽ पै ऽ	ऽ क
३				४			
सा सा	रे नि	सा नि	ध् ध्	सा सा	नि — ध् सा	सा — रे् सा	सा रे सा —
कुं ऽ	ड ल	वि ला	ऽ स्र	कृ त	शो ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	भं ऽ ऽ ऽ
५				६			
सा सा	रे् ग् रे् ग्	रे् सा नि् —	नि् नि्	म् म् ग् —	ग् ग्	रे रे	रे रे
न ग	सू ऽ ऽ ऽ	नु ऽ ल ऽ	ऽ क्ष्मी	दे ऽ हा ऽ	ऽ ऽ	र्ध मि	ऽ श्रि
७				८			
ग् — म म्	म म् ग् —	रे ग्	सा सा	म — म म्	ध् म् ध् —	ध् ध्	ध् ध्
त ऽ श ऽ	री ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ	रं ऽ	प्र ऽ ण ऽ	मा ऽ ऽ ऽ	मि भू	ऽ त
९				१०			
रे् रे्	सा सा	नि् — म म्	ग् — म म्	नि् सा	ग् ध्	सा रे्	सा सा
गी ऽ	तो ऽ	प ऽ हा ऽ	ऽ ऽ र ऽ	प रि	तु ऽ	ऽ ऽ	ष्टं
११				१२			

७. नैषादी जातिः

नैषाद्यां निरिगा अंशा अनंशाबहुलाः स्मृताः॥ ७७॥

षाडवौडुवलङ्घ्याः स्युः पूर्ववद्विनियोजनम्।
चच्चत्पुटः षोडशात्र कला गादिश्च मूर्च्छना॥ ७८॥

अस्यां नैषाद्यां निषादो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः। चोक्षसाधारितदेशीवेलावल्यो दृश्यन्ते। अस्याः प्रस्तारः—

७. नैषादी

१.	नि	नि	नि	नि	सं	ध	नि	नि
	तं		सु	र	वं		दि	तं
२.	प	म	स	धं	निं	निं	निं	निं
	म	हि	ष	म	हा		सु	र
३.	स	स	ग	ग	नि	नि	ध	नि
	म	थ	न	मु	मा		प	तिं
४.	सं	सं	ध	नि	नि	नि	नि	नि
	भो		ग	यु	तं			
५.	स	स	ग	ग	मं	मं	मं	मं
	न	ग	सु	त	का		मि	नी
६.	निं	पं	धं	पं	मं	मं	मं	मं
	दि		व्य	वि	शे		ष	क
७.	रिं	गं	सं	सं	रिं	गं	नि	नि
	सू		च	क	शु	भ	न	ख
८.	नि	नि	प	धनि	नि	नि	नि	नि
	द		र्प	ण	कं			
९.	स	स	ग	स	म	म	म	म
	अ	हि	मु	ख	म	णि	ख	चि
१०.	मं	मं	मं	मं	निं	धं	मं	मं
	तो		ज्व	ल	नू		पु	र
११.	ध	ध	नि	नि	रि	ग	मं	मं
	बा	ल		भु	जं	ग		म
१२.	मं	मं	पं	धं	निं	निं	निं	निं
	र	व	क	लि		तं		

१३.	पं	पं	निं	निं	रिं	रि	रि	रि
	द्रु	त	म	भि	व्र	जा		मि
१४.	रि	म	म	म	रिं	ग	स	स
	श	र	ण	म	निं		दि	त
१५.	ध	म	रि	ग	स	ध	नि	नि
	पा		द	यु	ग	पं		क
१६.	पं	मं	रिं	गं	नि	नि	नि	नि
	ज	वि	ला		सं			

७. नैषादी जाति

७७ ग-७८. (अ०) नैषाद्यां नैषादी में अनंश-अबहुलाः अनंश अबहुल नि-रि-गाः अंशाः नि-रि-ग अंश स्मृताः जाने गए हैं। षाडव-औडुवलङ्घ्याः षाडव-औडव में लंघ्य (स्वर तथा) विनियोजनं पूर्ववत् स्युः विनियोग पूर्ववत् होते हैं। अत्र इसमें चच्चत्पुटः चच्चत्पुट (ताल और) षोडश कलाः १६ कलाएँ (होती हैं)। ग-आदिः च मूर्च्छना ग से आरंभ होने वाली मूर्च्छना (होती है)।

अस्यां नैषाद्यां इस नैषादी में निषादः न्यासः निषाद न्यास (है)। अंशाः एव अपन्यासाः अंश ही अपन्यास (होते हैं)। चोक्षसाधारित-देशी-वेलावल्यः दृश्यन्ते (इसमें) शुद्ध साधारित, देशी और वेलावली दिखाई देती हैं। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) इसमें नि-रि-ग अंश हैं और शेष यानी स-म-प-ध, जो अनंश हैं उनका अल्पत्व है यह दिखाने के लिये 'अनंशा-बहुलाः' को 'अंशाः' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है। 'अनंशाबहुलाः' का पदविच्छेद 'अनंशा-बहुलाः' न करके 'अनंश-अबहुलाः' करना चाहिए—इस ओर कल्लि० ने ध्यान दिलाया है। मतंग ने स्पष्टतः संपूर्णावस्था में इन चारों का, षाडवावस्था में स-म-ध का और औडवावस्था में स-ध का अल्पत्व कहा है। ग्रंथकार ने स्वयं भी श्लोक ५० में अनंश स्वरों का अनभ्यास कहा है। उपर्युक्त पदविच्छेद न करने पर मतंग के वचन के साथ श्लोक का विरोध होगा।

सिंह० ने 'अनंशाबहुलाः' की टीका में अनंशों को बहुल कहा और फिर प लोप से षाडव तथा स-प लोप से औडव कहा है। इस प्रकार विरोध हो गया है क्योंकि दुर्बल स्वरों के लोप से ही षाडव-औडव भेद बनते हैं, बहुल स्वरों का लोप नहीं होता।

धैवती के समान प के लोप से षाडव, स-प लोप से औडव और आरोह में स-प का अल्पत्व होता है। षाड्जी के समान एककल आदि में चित्रादि मार्ग और मागधी आदि गीतियाँ होती हैं। नाट्य के प्रथम अंक की नैष्क्रामिकी ध्रुवा में विनियोग होता है।

नैषादी षड्जग्राम की जाति है जिसमें षड्जग्रामिक निषाद अंश वाली स्वरावलि यानी सप्तस्वर रजनी मूर्च्छना के स्वर हैं। निषाद को षड्ज मानने से प्राप्त स्वरावलि इस प्रकार है—

मूर्च्छना के स्वर	नि	स	रि	ग	म	प	ध	नि
	४	३	२	४	४	३	२	
वर्तमान स्वर	स	रि	ग	म	प	ध	नि	स

ये लक्ष्यगत बिलावल के स्वर हैं।

नैषादी का प्रस्तार चतुष्कल चच्चत्पुट के ४ आवर्तनों में समाप्त होता है। प्रस्तार के निषाद को मध्य षड्ज मानने से प्रस्तार का रूप निम्न होगा।

सां सां	सां सां	रें नि	सां सां	ध.प	रे नि̲	सा सा	सा सा
तं ऽ	सु र	वं ऽ	दि तं	म हि	ष म	हा ऽ	सु र
१				२			
रे रे	म म	सां सां	नि सां	रें रें	नि सां	सां सां	सां सां
म थ	न मु	मा ऽ	प तिं	भो ऽ	ग यु	तं ऽ	ऽ ऽ
३				४			
रे रे	म म	प̲ प̲	प̲ प̲	सा ध̲	नि̲ ध̲	प̲ प̲	प̲ प̲
न ग	सु त	का ऽ	मि नी	दि ऽ	व्य वि	शे ऽ	ष क
५				६			
गं मं	रें रें	गं मं	सां सां	सां सां	ध — नि सां	सां सां	सां सां
सू ऽ	च क	शु भ	न ख	द ऽ	र्प ऽ ण ऽ	कं ऽ	ऽ ऽ
७				८			
रे रे	म रे	प प	प प	प̲ प̲	प̲ प̲	स नि̲	प̲ प̲
अ हि	मु ख	म णि	ख चि	तो ऽ	ज्व ल	नू ऽ	पु र
९				१०			
नि नि	सां सां	गं मं	प प	प̲ प̲	ध̲ नि̲	सा सा	सा सा
बा ल	ऽ भु	जं ग	ऽ म	र व	क लि	ऽ तं	ऽ ऽ
११				१२			
ध ध	सा सा	ग ग	ग ग	ग प	प प	ग म	रें रें
द्रु त	म भि	व्र जा	ऽ मि	श र	ण म	निं ऽ	दि त
१३				१४			
नि प	ग म	रे नि	सां सां	धें पं	गं मं	सा सा	सा सा
पा ऽ	द यु	ग पं	ऽ क	ज वि	ला ऽ	सं ऽ	ऽ ऽ
१५				१६			

संसर्गजविकृतानां लक्षणानि

८. षड्जकैशिकी जातिः

अंशाः स्युः षड्जकैशिक्यां षड्जगान्धारपञ्चमाः।
ऋषभे मध्यमेऽल्पत्वं धनिषादौ मनाग्बहू॥ ७९॥

चच्चत्पुटः षोडशास्यां कलाः स्युर्विनियोजनम्।
प्रावेशिक्यां ध्रुवायां स्यात्प्रेक्षणे तु द्वितीयके॥ ८०॥

अस्यां षड्जकैशिक्यां गान्धारो न्यासः। षड्जनिषादपञ्चमा अपन्यासाः। प्रागुक्ता गान्धारपञ्चम-हिन्दोलकदेशीवेलावल्यो दृश्यन्ते। अस्याः प्रस्तारः—

८. षड्जकैशिकी

१.	स	स	मं	पं	गरि	मग	म	म
	दे							
२.	म	म	म	म	सं	सं	सं	सं
	वं							
३.	ध	ध	प	प	ध	ध	रि	रिम
	अ	स	क	ल	श	शि	ति	ल
४.	रि	रि	निं	निं	निं	निं	निं	निं
	कं							
५.	ध	ध	प	धनि	म	म	प	प
	द्वि	र	द	ग	तिं			
६.	ध	ध	प	धनि	ध	ध	प	प
	नि	पु	ण	म	तिं			
७.	स	स	स	स	स	स	स	स
	मु		ग्ध		मु	खां		बु
८.	ध	ध	प	ध	धनि	ध	ध	ध
	रु	ह	दि		व्य	कां		ति
९.	स	स	स	रिग	स	रिग	ध	ध
	ह	र	मं		बु	दो		द
१०.	म	ध	प	प	ध	ध	नि	नि
	धि	नि	ना		दं			
११.	रि	रि	ग	स	सं	सं	सं	गं
	अ	च	ल	व	र	सू		नु
१२.	धं	रिंसं	रिं	संरिं	रिं	सं	सं	सं
	दे		हा		र्ध	मि		श्रि

१३.	स	सरि	रि	सरि	रि	स	स	स
	त	श	री		रं			
१४.	म	म	म	म	निध	पध	म	म
	प्र	ण	मा		मि	तम	हं	
१५.	नि	नि	प	पम	प	पम	पध	रिग
	अ	नु	प	म	मु	ख	क	म
१६.	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग	ग
	लं							

संसर्गजा विकृता जातियों के लक्षण

८. षड्जकैशिकी जाति

७९-८०. (अ०) षड्जकैशिक्यां षड्जकैशिकी में **षड्जगान्धारपञ्चमाः** षड्ज, गान्धार और पंचम **अंशाः स्युः** अंश होते हैं। **ऋषभे मध्यमे अल्पत्वं** ऋषभ (और) मध्यम में अल्पत्व (रहता है)। **ध-निषादौ मनाक्-बहू** ध और निषाद कुछ अधिक (होते हैं)। **अस्यां** इसमें **चच्चत्पुटः** चच्चत्पुट (ताल और) **षोडश कलाः स्युः** १६ कलाएँ होती हैं। **द्वितीये प्रेक्षणे तु** दूसरे अंक में तो **प्रावेशिक्यां ध्रुवायां** प्रावेशिकी ध्रुवा में **विनियोजनं स्यात्** विनियोग होता है।

(सर०) यह षड्जग्रामिक जाति है। अनंश स्वर रि-म-ध-नि हैं। इनमें से रि-म का अल्पत्व है और ध-नि का अंशों की अपेक्षा कम लेकिन रि-म की अपेक्षा कुछ ज़्यादा प्रयोग होता है।

श्लोक ३ में कहे गए 'न्यासवर्ज्यैतल्लक्ष्महीना' लक्षण सिर्फ़ शुद्धा जातियों के अपने अवान्तर विकृत भेदों के लिये है, संसर्गजा विकृता के लिये नहीं, इस ओर कल्लि० ने ध्यान दिलाया है क्योंकि इन जातियों में न्यास स्वर अंश से भिन्न भी हो सकते हैं।

षड्जकैशिकी नित्यपूर्णा है इसलिये इसमें षाडव-औडवकारी स्वर नहीं कहे गए। यह ध्यान देने योग्य है कि १८ जातियों में से एकमात्र यही ऐसी जाति है जिसकी मूर्च्छना नहीं बताई गई है।

इसका प्रस्तार षड्जांश अवस्था का है इसलिये उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना के स्वर हैं। प्रस्तार चतुष्कल चच्चत्पुट के ४ आवर्तनों में पूरा हुआ है।

९. षड्जोदीच्यवा जातिः

अंशाः समनिधाः षड्जोदीच्यवायां प्रकीर्तिताः।
मिथश्च संगतास्ते स्युर्मन्द्रगान्धारभूरिता॥ ८१॥

षड्जर्षभौ भूरितारौ रिलोपात्षाडवं मतम्।
औडुवं रिपलोपेन धैवतेंऽशे न षाडवम्॥ ८२॥

षाड्जीवद्गीतितालादि गान्धारादिश्च मूर्च्छना।
द्वितीये प्रेक्षणे गाने ध्रुवायां विनियोजनम्॥ ८३॥

अस्यां षड्जोदीच्यवायां मध्यमो न्यासः। षड्जधैवतावपन्यासौ। अस्याः प्रस्तारः—

९. षड्जोदीच्यवा

१.	स	स	स	स	मं	मं	गं	गं
	शै				ले			
२.	ग	म	प	म	ग	म	म	ध
	श		सू					नु
३.	स	स	म	ग	प	प	नि	ध
	शै		ले		श	सू		नु
४.	ध	नि	स	स	ध	नि	प	म
	प्र	ण	य		प्र	सं		ग
५.	गं	स	स	स	स	स	स	गं
	स	वि	ला		स	खे		ल
६.	ध	ध	प	ध	प	नि	ध	ध
	न	वि	नो				दं	
७.	स	गं	गं	गं	गं	गं	स	स
	अ		धि		क			
८.	नि	ध	प	ध	प	ध	ध	ध
	मु		खें					दु
९.	सं	सं	म	ग	प	प	नि	ध
	अ	धि	क		मु	खें		दु
१०.	ध	नि	सं	सं	ध	नि	प	म
	न	य	नं		न	मा		मि
११.	गं	स	स	स	स	स	स	गं
	दे		वा		सु	रे		श
१२.	ध	ध	प	ध	मं	मं	मं	मं
	त	व	रु	चि	रं			

९. षड्जोदीच्यवा जाति

८१-८३. (अ०) षड्जोदीच्यवायां षड्जोदीच्यवा में स-म-नि-धाः अंशाः प्रकीर्तिताः स-म-नि-ध अंश कहे गए हैं ते मिथः च और वे परस्पर संगताः स्युः संगति वाले होते हैं। मन्द्रगान्धारभूरिता मन्द्र गांधार (के) बहुत्व वाली (है)। षड्जऋषभौ षड्ज और ऋषभ भूरितारौ तार में बहुत (प्रयुक्त होते हैं)। रि-लोपात् रि (के) लोप से षाडवं मतं षाडव माना

गया है (और) रि-प-लोपेन रि-प (के) लोप से औडुवं औडव। धैवते अंशे धैवत अंश होने पर षाडवं न षाडव नहीं (होता)। षाड्जीवत् षाड्जी के समान गीतितालादि गीति (और) तालादि (होते हैं)। गान्धारादिः च मूर्च्छना और मूर्च्छना गांधारादि (है)। द्वितीये प्रेक्षणे दूसरे अंक में ध्रुवायां गाने ध्रुवा गान में विनियोजनं विनियोग (होता है)।

अस्यां षड्जोदीच्यवायां इस षड्जोदीच्यवा में मध्यमः न्यासः मध्यम न्यास (है)। षड्जधैवतौ अपन्यासौ षड्ज और धैवत अपन्यास (होते हैं)। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) यह षड्जग्रामिक जाति है। अंशस्वरों की परस्पर संगति कही गई है जो रक्ति के अनुसार होती है। इस जाति में अल्पत्व-बहुत्व संबंधी भरत, मतंग के वचनों के साथ शार्ङ्गदेव के कथन की संगति दिखाते हुए कल्लि० ने महत्त्वपूर्ण व्याख्या की है। उसने यह स्पष्ट किया कि भरत के अनुसार षड्ज, ऋषभ, गान्धार बलवान् होते हैं। इसके अनुसार ग्रंथकार ने अनंश होते हुए भी गांधार का मन्द्रस्थान में बहुत्व कहा है। इसका अर्थ यह है कि अन्य स्थानों में उसका बहुत्व नहीं होता। ग्रंथकार ने षड्ज, ऋषभ का तार सप्तक में बहुत्व कहा है। मतंग ने पूर्णावस्था में रि-प का अल्पत्व कहा है उसमें से रि का अल्पत्व मन्द्र-मध्य में है, यह व्यवस्थित होता है। भरत ने ऋषभ को जो बलवान् कहा वह तार ऋषभ के संबंध में समझना चाहिए। षड्ज अंश है इसलिए उसका तो बहुत्व होगा ही फिर भी अलग से उसका बहुत्व कहने का तात्पर्य यह है कि मन्द्र, मध्य की अपेक्षा तारषड्ज का ज्यादा प्रयोग होता है। अधुना प्रचलित उत्तर भारतीय मारवा राग में इस लक्षण का साम्य है। मारवा में मध्य षड्ज का प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता है और तारषड्ज का बहुल प्रयोग होता है।

षड्जोदीच्यवा में मध्य रि षाडवकारी यानी लोप्य है और तार ऋषभ का बाहुल्य है। इस लक्षण का उत्तर भारतीय रागों में एकमात्र उदाहरण तिलंग है जिसमें मध्यसप्तक में ऋषभ वर्जित है लेकिन तार में ऋषभ का प्रयोग होता है।

इस जाति में रि के लोप से षाडव भेद होता है लेकिन उसके संवादी धैवत के अंश होने पर षाडव नहीं होता क्योंकि अंश के संवादी का लोप नहीं होता और यहाँ ऋषभ धैवत का संवादी है। कल्लि० ने शंका उठाई कि फिर तो (धैवत के अंशत्व में) ऋषभ-पंचम के लोप से औडव भेद भी संभव नहीं होना चाहिए (क्योंकि धैवत के संवादी ऋषभ का लोप हो जायगा)। उसने इसका समाधान यह दिया कि रि-प लोप में पंचम ही औडवकारी है (रि नहीं) इसलिये (ध के अंश होते हुए) रि का लोप करने पर भी संवादित्व नियम की हानि नहीं होती।

सिंह० की टीका में औडवकारी स्वर ऋषभ-धैवत और ताल चच्चत्पुट कहा है जो सही नहीं है। ग्रन्थकार ने औडवकारी स्वर ऋषभ-पंचम कहे हैं और ताल षाड्जीवत् कहा है। षाड्जी प्रस्तार में पञ्चपाणि ताल है । उदाहृत प्रस्तार षड्जांश षड्जोदीच्यवा का है और पञ्चपाणि के दो आवर्तनों में समाप्त हुआ है।

शैलेऽक्षराभ्यां प्रथमा द्वितीया तु शसूनुना।
तैः पञ्चभिस्तृतीया स्यात्पञ्चमी त्वधिकाक्षरैः॥ ८४॥

मुखेन्दुनाऽष्टमी त्वस्यां षड्भिस्तैर्नवमी कला।

८४-८५ ख. (अ०) अस्यां इस (की गीति) में शैले-अक्षराभ्यां 'शैले'—इन दो अक्षरों से प्रथमा पहली, द्वितीया तु दूसरी तो शसूनुना 'शसूनु' से, तैः पञ्चभिः उन पाँचों (अक्षरों) से तृतीया स्यात् तीसरी (कला) होती है। सप्तमी तु सातवीं (कला) तो अधिकाक्षरैः 'अधिक' अक्षरों से अष्टमी तु आठवीं तो मुखेन्दुना 'मुखेन्दु' से (और) तैः षड्भिः उन छहों (अक्षरों) से नवमी कला नवीं कला (होती है)।

(सर०) ग्रंथकार ने जातियों में मागधी आदि गीतियों की योजना दिखाने के लिये इस जाति के प्रस्तार में अर्धमागधी गीति का योग दिया है। अर्धमागधी गीति में पद दो बार आवृत्त होते हैं। यहाँ 'शैलेशसूनु' अक्षरों की तीसरी कला में और 'अधिकमुखेन्दु' की नवीं कला में आवृत्ति हुई है।

१०. षड्जमध्यमा जातिः

अंशाः सप्त स्वराः षड्जमध्यमायां मिथश्च ते॥ ८५॥

संगच्छन्ते निरल्पोंऽशाद्गादृते वादितां विना।
निलोपनिगलोपाभ्यां षाडवौडुविते मते॥ ८६॥

षाडवौडुवयोः स्यातां द्विश्रुती तु विरोधिनौ।
गीतितालकलाऽऽदीनि षाड्जीवन्मूर्च्छना पुनः॥ ८७॥

मध्यमादिरिह ज्ञेया पूर्ववद्विनियोजनम्।

अस्यां षड्जमध्यमायां षड्जमध्यमौ न्यासौ। सप्त स्वरा अपन्यासाः। अस्याः प्रस्तारः—

१०. षड्जमध्यमा

१.	म	ग	सग	प	धप	म	निध	निम
	र	ज	नि	व	धू		मु	ख
२.	मं	मं	सं	रिंगं	मंगं	निध	पध	प
	वि	ला		स	लो			च
३.	म	ग	रि	ग	म	म	स	स
	नं							
४.	म	मगम	म	म	निध	पध	पम	गमम
	प्र	वि	क	सि	त	कु	मु	द
५.	ध	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	स
	द	ल	फे	न	सं			नि
६.	निध	स	रि	मगम	म	म	म	म
	भं							
७.	मं	मं	मंगंमं	मंधं	धंपं	पंधं	पंमं	गंमंगं
	का		मि	ज	न	न	य	न
८.	ध	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	स
	ह	द	या	भि	नं			दि
९.	म	म	धनि	धस	धप	मप	प	प
	नं							
१०.	मं	मंगंमं	मं	निंधं	पंधं	पंमंगं	गं	मं
	प्र	ण	मा		मि	दे	वं	

११.	ध	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	स
	कु	मु	दा	धि	वा			सिं
१२.	निध	स	रि	मगम	म	म	म	म
	नं							

१०. षड्जमध्यमा जाति

८५ ग-८८ ख. (अ०) षड्जमध्यमायां षड्जमध्यमा में सप्त अंशाः स्वराः सात अंश स्वर (होते हैं) ते मिथः च और वे परस्पर संगच्छन्ते संगति करते हैं। अंशात् गात् ऋते अंश ग के बिना (अर्थात्) वादिता विना वादी न होने पर निः अल्पः नि अल्प (होता है)। निलोप-निगलोपाभ्यां नि लोप और नि-ग लोप से (क्रम से) षाडव-औडुविते मते षाडव और औडव माने गये हैं। द्विश्रुती तु द्विश्रुति (स्वर) तो षाडव-औडुवयोः षाडव-औडव के विरोधिनौ स्यातां विरोधी होते हैं। गीति-ताल-कला-आदीनि गीत, ताल, कला आदि षाड्जीवत् षाड्जी के समान (हैं)। इह पुनः मूर्च्छना और इसमें मूर्च्छना मध्यमादिः ज्ञेया मध्यमादि जानी गई है। विनियोजनं पूर्ववत् विनियोग पूर्ववत् (है)।

अस्यां षड्जमध्यमायां इस षड्जमध्यमा में षड्जमध्यमौ न्यासौ षड्ज और मध्यम न्यास (तथा) सप्त स्वराः अपन्यासाः सात स्वर अपन्यास (हैं)। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) षड्जमध्यमा में सातों स्वर अंश होते हैं। ग के अंश होने पर उसका संवादी होने के कारण नि का अल्पत्व इष्ट नहीं होता लेकिन अन्य स्वरों के अंशत्व में नि अल्प होता है। षाडवकारी नि और औडवकारी ग-नि हैं। लेकिन जब इनमें से कोई स्वर अंश होता है तब षाडव-औडव में से कोई भी भेद नहीं बनता।

सिंह० ने ८७ वें श्लोक के विरोधिनौ का 'द्विश्रुती' के साथ अन्वय करके यह अर्थ किया है कि षाडव-औडवकारी निषाद और गान्धार का विवादित्व है। लेकिन यह अन्वय उचित नहीं लगता क्योंकि द्विश्रुति स्वरों का विवादित्व तो विदित तथ्य है। वास्तव में 'विरोधिनौ' 'षाडवौडुवयोः' के साथ अन्वित है और तदनुसार अर्थ यह है कि द्विश्रुति ग-नि में से किसी के अंश होने पर वे षाडव-औडव विरोधी होते हैं, जैसा कल्लि० ने किया है।

कल्लि० ने मध्यमादि मूर्च्छना की टीका में कहा है कि इस जाति की मूर्च्छना षड्जग्रामिक मत्सरीकृता है। यह उल्लेखनीय है कि मतंग ने और उसके अनुकरण पर शार्ङ्गदेव ने नन्दयन्ती को छोड़ कर किसी अन्य जाति में मूर्च्छना का नाम न लेकर मूर्च्छना को उसने आरंभक स्वर से ही व्यक्त किया है। लेकिन कल्लि० ने नाम जोड़ दिए हैं।

षड्जमध्यमा षड्जग्राम की जाति है। प्रस्तुत प्रस्तार मध्यमांश अवस्था का है जो पंचपाणि के दो आवर्तनों में पूरा हुआ है।

११. गान्धारोदीच्यवा जातिः

गान्धारोदीच्यवायां तु द्वावंशौ षड्जमध्यमौ॥ ८८॥

रिलोपात्षाडवं ज्ञेयं पूर्णत्वेंऽशेतराल्पता।
अल्पा निधपगान्धाराः षाडवत्वे प्रकीर्तिताः॥ ८९॥

रिधयोः संगतिर्ज्ञेया धैवतादिश्च मूर्च्छना।
तालश्चच्चत्पुटो ज्ञेयः कलाः षोडश कीर्तिताः॥ ९०॥

विनियोगो ध्रुवागाने चतुर्थप्रेक्षणे मतः।

अस्यां गान्धारोदीच्यवायां मध्यमो न्यासः। षड्जधैवतावपन्यासौ। अस्याः प्रस्तारः—

११. गान्धारोदीच्यवा

१.	स	स	प	म	प	धप	प	म
	सौ							
२.	ध	प	म	म	स	स	स	स
	म्य							
३.	ध	नि	स	स	म	म	प	प
	गौ		री		मु	खां		बु
४.	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि
	रु	ह	दि		व्य	ति	ल	क
५.	म	म	ध	निस	नि	नि	नि	नि
	प	रि	चुं		बि	ता		र्चि
६.	म	प	म	परिग	ग	ग	स	स
	त	सु	पा		दं			
७.	ग	मग	प	पध	म	धनि	प	प
	प्र	वि	क	सि	त	हे		म
८.	रि	ग	स	सध	नि	नि	ध	ध
	क	म	ल	नि	भं			
९.	ग	रिग	स	सनि	ग	रिग	स	स
	अ	ति	रु	चि	र	कां		ति
१०.	स	स	स	म	मनि	धनि	नि	नि
	न	ख	द		र्प	णा		म
११.	म̍	प̍	म̍	प̍रि̍ग̍	ग̍	ग̍	स̍	स̍
	ल	नि	के		तं			
१२.	ग̍	स̍	ग̍	स̍	म̍	प̍	म̍	प̍रि̍ग̍
	म	न	सि	ज	श	री	र	
१३.	ग̍	म̍	ग̍	स̍	ग̍	ग̍	ग̍	स̍
	ता			ड	नं			
१४.	नि̍	नि̍	प̍	ध̍	नि̍	ग̍	ग̍	ग̍
	प्र	ण	मा		मि	गौ		री

१५.	निं	निं	धं	पं	धं	पं	मं	पं
	च	र	ण	यु	ग	म	नु	प
१६.	धं	पं	सं	सं	मं	मं	मं	मं
	मं							

११. गान्धारोदीच्यवा जाति

८८ ग-९१ ख. (अ०) गान्धारोदीच्यवायां तु गांधारोदीच्यवा में तो षड्जमध्यमौ द्वौ अंशौ षड्ज और मध्यम (ये) दो अंश (हैं)। रि-लोपात् रि (के) लोप से षाडवं ज्ञेयं षाडव जाना जाता है। पूर्णत्वे पूर्णावस्था में अंश-इतर-अल्पता अंश से भिन्न (स्वरों) की अल्पता (होती है)। षाडवत्वे षाडवत्व में नि-ध-प-गान्धाराः नि-ध-प और ग अल्पाः प्रकीर्तिताः अल्प कहे गए हैं। रि-धयोः रि और ध की संगतिः ज्ञेयाः संगति जानी गई है। धैवतादिः च मूर्च्छना और धैवतादि मूर्च्छना (है)। तालः चच्चत्पुटः ज्ञेयः ताल चच्चत्पुट जाना गया है। कलाः षोडश कीर्तिताः कलाएँ १६ कही गई हैं। चतुर्थप्रेक्षणे चौथे अंक में ध्रुवागाने ध्रुवागान में विनियोगः मतः विनियोग माना गया है।

(सर०) रि लोप से षाडव होता है और षाडव में नि-ध-प अल्प होते हैं फिर भी रि-ध की संगति इस आशय से कही गई है कि पूर्णावस्था में इन दोनों की संगति होती है। इसमें भी षाड्जी की तरह केवल षाडवभेद बनता है, औडव नहीं। इसका प्रस्तार षड्जांश का उदाहरण है।

१२. रक्तगान्धारी जातिः

अंशाः स्यू रक्तगान्धार्यां पञ्च धर्षभवर्जिताः॥ ९१॥

रिमतिक्रम्य सगयोः कार्ये संनिधिमेलने।
रिलोपरिधलोपाभ्यां षाडवौडुवमिष्यते॥ ९२॥

बहुत्वं निधयोरंशः पञ्चमो द्वेष्टि षाडवम्।
द्विषन्त्यौडुवितं षड्जनिमपाः संगतौ सगौ॥ ९३॥

पञ्चपाण्यादि षाड्जीवदृषभादिस्तु मूर्च्छना।
तृतीयप्रेक्षणगतध्रुवायां विनियोजनम्॥ ९४॥

अस्यां रक्तगान्धार्यां गान्धारो न्यासः। मध्यमोऽपन्यासः। अस्याः प्रस्तारः—

१२. रक्तगान्धारी

१.	प	नि	स	स	ग	स	प	नि
	तं		बा		ल	र	ज	नि
२.	सं	सं	प	प	म	म	ग	ग
	क	र	ति	ल	क	भू		ष
३.	म	पं	ध	प	म	प	धप	मग
	ण	वि	भू					

४.	म	म	म	म	म	म	म	म
	तिं							
५.	धं	निं	पं	मंपं	धं	निं	पं	पं
	०							
६.	मं	पं	मं	धंनिं	पं	पं	पं	पं
	०							
७.	रि	ग	म	प	प	प	म	प
	प्र	ण	मा		मि	गौ		री
८.	रि॑	ग॑	म॑	प॑	प॑	प॑	म॑	प॑
	व	द	ना		र	विं		
९.	प	प	प	प	प	प	प	प
	द							
१०.	रि	ग	स	स	रि	ग	ग	ग
	प्री		ति	क	रं			
११.	ग॑	ग॑	प॑	धम॑	ध॑	निध॑	प॑	प॑
	०							
१२.	म॑	प॑	म॑	प॑रि॑ग	ग॑	ग॑	ग॑	ग॑
	०							

१२. रक्तगान्धारी जाति

९१ ग-९४. (अ०) रक्तगान्धार्यां रक्तगान्धारी में ध-ऋषभवर्जिताः ध (और) ऋषभ को छोड़कर पञ्च अंशाः स्युः पाँच अंश होते हैं। रिम् अतिक्रम्य रि का अतिक्रमण (लंघन) करके स-गयोः स और ग की संनिधिमेलने कार्ये संनिधि और मेलन करना चाहिए। रिलोप-रिधलोपाभ्यां रि लोप और रि-ध लोप से (क्रम से) षाडव-औडुवम् इष्यते षाडव-औडव जाना जाता है। नि-धयोः बहुत्वं नि-ध का बहुत्व (होता है)। अंशः पञ्चमः अंश पंचम षाडवं द्वेष्टि षाडव से द्वेष करता है। षड्ज नि-म-पाः षड्ज-नि-म-प औडुवितं द्विषन्ति औडुवित से द्वेष करते हैं। स-गौ संगतौ स-ग संगति वाले (हैं)। पञ्चपाणि-आदि पंचपाणि आदि षाड्जीवत् षाड्जी के समान (हैं)। ऋषभादिः तु मूर्च्छना ऋषभादि तो मूर्च्छना (है)। तृतीयप्रेक्षणगतध्रुवायां तीसरे अंक की ध्रुवा में विनियोजनं विनियोग (है)।

अस्यां रक्तगान्धार्यां इस रक्तगान्धारी में गान्धारः न्यासः गांधार न्यास, मध्यमः अपन्यासः मध्यम अपन्यास (है)। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) स-ग की संगति में 'संनिधि' और 'मेलन'—इन दो विशेष शब्दों का प्रयोग हुआ है जो विशिष्ट क्रियाएँ हैं। कल्लि० ने भिन्न लघुकाल में दो स्वरों की निरन्तरता होने पर 'संनिधि' और एकलघुकाल में दो या तीन स्वरों में निरन्तरता को 'मेलन' कहा है। नि के अंश होने के कारण उसे बहुत्व प्राप्त होते हुए भी विशेष रूप से बहुत्व कहा है क्योंकि अत्यधिक बहुत्व विवक्षित है। ध औडवकारी है इसलिये सामान्यतः उसका अल्पत्व होगा लेकिन पूर्णावस्था में उसका बहुत्व दिखाने के

लिये विशेष रूप से बहुत्व कहा। मध्यमग्रामिक जाति होने से पंचम अलोपी है इसलिये पंचम के लोप से षाडव नहीं बन सकता। ग-नि परस्पर संवादी हैं इसलिये इनमें से किसी एक के अंश होने पर उसके लोप से षाडव या दूसरे के लोप से औडव संभव न होने के कारण इन दोनों को षाडव-औडवद्वेषी कहा है।

अंश स-ग-म-प-नि में से पंचम के अंशत्व में षाडव नहीं बन सकता और स-म-प-नि के अंश रहते रि-ध के लोप से औडव नहीं बन सकते यानी केवल गांधार अंश रहते ही औडव भेद बन सकता है।

कल्लि० ने भरत को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि कुछ षाडव जातियों में षाडवनिषेध अंश के संवादी का लोप न करने के सामान्य नियम से होता है। लेकिन इस नियम की प्राप्ति न होने पर षाडवत्व भरत के वचन से नियत कर दिया जाता है। इसी प्रकार औडव की प्राप्ति होने पर भी भरत के विधान के आधार पर निषेध हो जाता है।

प्रस्तार रक्तगांधारी की पंचमांश अवस्था का है।

१३. कैशिकी जातिः

कैशिक्यामृषभान्येंऽशा निधावंशौ यदा तदा।
न्यासः पञ्चम एव स्यादन्यदा द्विश्रुती मतौ॥ ९५॥

अन्ये तु निगपान्यासान्निधयोरंशयोर्विदुः।
रिलोपरिधलोपेन षाडवौडुवितं मतम्॥ ९६॥

रिरल्पो निपबाहुल्यमंशानां संगतिर्मिथः।
षाडवौडुविते द्विष्टः क्रमात्पञ्चमधैवतौ॥ ९७॥

षाड्जीवत्पञ्चपाण्यादि गान्धारादिस्तु मूर्च्छना।
पञ्चमप्रेक्षणगतध्रुवायां विनियोजनम्॥ ९८॥

अस्यां कैशिक्यां गान्धारपञ्चमनिषादा न्यासाः। रिवर्ज्याः षट् सप्त वा स्वरा अपन्यासाः। अस्याः प्रस्तारः—

१३. कैशिकी

१.	प	धनि	प	धनि	ग	ग	ग	ग
	के		ली		ह		त	
२.	प	प	म	निध	निध	प	प	प
	का		म	त	नु			
३.	ध	नि	सं	स	रि	रि	रि	रि
	वि		भ्र	म	वि	ला		सं
४.	स	स	स	रि	ग	म	म	म
	ति	ल	क	यु	तं			
५.	मं	धं	निं	धं	मं	धं	मं	पं
	मू		र्धौ		र्ध्व	बा		ल

६.	ग	रि	स	धनि	रि	रि	रि	रि
	सो		म	नि	भं			
७.	ग	रि	स	स	ध	ध	म	म
	मु	ख	क	म	लं			
८.	ग	ग	ग	म	म	निधनि	नि	नि
	अ	स	म		हा		ट	
९.	ग	ग	नि	नि	ग	ग	ग	ग
	क	स	रो		जं			
१०.	ग	ग	नि	नि	निध	प	प	प
	ह	दि	सु	ख	दं			
११.	म	प	म	प	प	प	म	म
	प्र	ण	मा		मि	लो	च	
१२.	स	म	ग	निधनि	नि	नि	म	ग
	न	वि	शे		षं			

१३. कैशिकी जाति

९५-८८. (अ०) कैशिक्यां कैशिकी में ऋषभ-अन्ये अंशाः ऋषभ से अन्य अंश (होते हैं)। यदा निधौ अंशौ जब नि-ध अंश (होते हैं) तदा तब पञ्चमः एव पंचम ही न्यासः स्यात् न्यास होता है। अन्यदा अन्य समय (अर्थात् नि-ध अंश न होने पर) द्विश्रुती मतौ द्विश्रुति (ग-नि) (न्यास) माने जाते हैं। अन्ये तु अन्य (मत) में तो नि-धयोः अंशयोः नि-ध अंशों के नि-ग-पान् न्यासान् विदुः नि-ग-प को न्यास जाना जाता है। रिलोप-रि-धलोपेन रि लोप (और) रि-ध लोप से षाडव-औडुवितं मतं षाडव-औडव माना गया है। रिः अल्पः रि अल्प, नि-प-बाहुल्यं नि-प का बाहुल्य (है)। अंशानां अंशों की मिथः संगतिः परस्पर संगति (होती है)। पञ्चमधैवतौ पंचम-धैवत क्रमात् क्रम से षाडव-औडुविते द्विष्टः षाडव-औडव से द्वेष करते हैं। षाड्जीवत् पञ्चपाणि-आदि षाड्जी के समान पंचपाणि आदि (होते हैं)। गान्धारादिः तु मूर्च्छना गांधारादि तो मूर्च्छना (है)। पञ्चमप्रेक्षणगतध्रुवायां पाँचवें अंक की ध्रुवा में विनियोजनं विनियोग (है)।

अस्यां कैशिक्यां इस कैशिकी में गान्धारपञ्चमनिषादाः न्यासाः गांधार-पंचम-निषाद न्यास (हैं)। रिवर्ज्याः रि को छोड़ कर षट् सप्त वा स्वराः ६ अथवा सात स्वर अपन्यासाः अपन्यास (होते हैं)। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सरं०) कैशिकी में न्यास के बारे में दो मत हैं। भरत के अनुसार नि-ध अंश होने पर केवल पंचम न्यास होता है और शेष अंशों में ग-नि न्यास होते हैं। मतंग के मत से नि-ध के अंश रहते नि-ग-प तीनों न्यास होते हैं। नि-ध के अंश होने पर पंचम भी न्यास होता है, मतंग के इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नि-ध के अंशत्व में ही पंचम न्यास होता है।

रि का अल्पत्व पूर्णावस्था में होता है। नि-प के अंश होने पर भी उनका बाहुल्य कहने में विशेष बाहुल्य विवक्षित है। पंचम इस कारण षाडवद्वेषी है कि मध्यमग्रामिक जाति होने से उसके अंश रहते ऋषभ का लोप संभव नहीं है। धैवत औडवद्वेषी इसलिये है कि उसके अंश रहते उसका लोप संभव नहीं है।

कैशिकी में रि के अलावा शेष ६ स्वर अपन्यास होते हैं लेकिन कभी-कभी रि भी अपन्यास हो सकता है, ऐसा भरत का वचन है। इसीलिये श्लोक ४७ में अपन्यासों की संख्या बताते समय कहा गया है कि कैशिकी में ७ अपन्यास मानें तो ५७ अन्यथा ५६ न्यास होते हैं।

प्रस्तार पंचमांश कैशिकी जाति का है।

१४. मध्यमोदीच्यवा जातिः

पञ्चमांशा सदा पूर्णा मध्यमोदीच्यवा मता।
लक्ष्म शेषं विजानीयाद् गान्धारोदीच्यवागतम्॥ ९९॥

मूर्च्छना मध्यमादिः स्यात्तालश्चच्चत्पुटो मतः।
चतुर्थस्य प्रेक्षणस्य ध्रुवायां विनियोजनम्॥ १००॥

अस्यां मध्यमोदीच्यवायां मध्यमो न्यासः। अस्याः प्रस्तारः—

१४. मध्यमोदीच्यवा

१.	प	धनि	नि	नि	म	प	नि	प
	दे		हा		र्ध	रू		प
२.	रि	रि	रि	ग	स	रिग	ग	ग
	म	ति	कां		ति	म	म	ल
३.	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि
	म	म	लें		दु	कुं		द
४.	नि	नि	धप	म	निध	निध	प	प
	कु	मु	द	नि	भं			
५.	प	प	रि	रि	रि	रि	रि	रि
	चा		मी		क	रां		बु
६.	म	रिग	स	सधं	निं	निं	निं	निं
	रु	ह	दि			व्य	कां	ति
७.	म	प	नि	स	प	प	ग	ग
	प्र	व	र	ग	ण	पू		जि
८.	ग	पं	मं	निंधं	निं	निं	स	स
	त	म	जे		यं			
९.	पं	पं	मं	धंनिं	पं	पं	पं	पं
	सु	रा	भि	ष्टु	त	म	नि	ल

१०.	मं	पं	मं	रिग	ग	ग	ग	ग
	म	नो	ज		व		मं	.बु
११.	ग	प	म	प	नि	नि	नि	नि
	दो		द	धि	नि	ना		द
१२.	म	प	म	परिग	ग	ग	ग	ग
	म	ति	हा		सं			
१३.	गं	गं	गं	गं	मं	निंधं	निं	निं
	शि	वं	शां		त	म	सु	र
१४	नि	नि	धप	म	निध	निध	प	प
	च	मू	म	थ	नं			
१५.	रिं	गं	सं	सं	मं	निंधंनिं	निं	निं
	वं		दे		त्रै	लो	क्य	
१६.	निं	निं	धं	पं	ध	पं	मं	मं
	न	त	च	र	णं			

१४. मध्यमोदीच्यवा जाति

९९-१००. (अ०) पञ्चमांशा मध्यमोदीच्यवा पंचम अंश वाली मध्यमोदीच्यवा सदा पूर्णा मता नित्यपूर्णा मानी गई है। शेषं लक्ष्म शेष लक्षण गान्धारोदीच्यवागतं विजानीयात् गांधारोदीच्यवा के जानने चाहिएँ। मूर्च्छना मध्यमादिः स्यात् मूर्च्छना मध्यमादि होती है। तालः चच्चत्पुटः मतः ताल चच्चत्पुट माना गया है। चतुर्थस्य प्रेक्षणस्य ध्रुवायां चौथे अंक की ध्रुवा में विनियोजनं विनियोग (होता है)।

अस्यां मध्यमोदीच्यवायां इस मध्यमोदीच्यवा में मध्यमः न्यासः मध्यम न्यास (है)। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) मध्यमोदीच्यवा का प्रस्तार पंचमांश रूप का है और चच्चत्पुट ताल के चार आवर्तनों में पूरा हुआ है।

१५. कार्मारवी जातिः

कार्मारव्यां भवन्त्यंशा निषादरिपधैवताः।
बहवोऽन्तरमार्गत्वादनंशाः परिकीर्तिताः॥ १०१॥

गान्धारोऽत्यन्तबहुलः सर्वांशस्वरसंगतिः।
चच्चत्पुटः षोडशात्र कलाः षड्जादिमूर्च्छना॥ १०२॥

पञ्चमस्य प्रेक्षणस्य ध्रुवायां विनियोजनम्।

अस्यां कार्मारव्यां पञ्चमो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः। अस्याः प्रस्तारः—

१५. कार्मारवी

१.	रि	रि	रि	रि	रि	रि	रि	रि
	तं		स्था		णु	ल	लि	त
२.	म	ग	स	ग	स	नि	नि	नि
	वा		मां		ग	स		क्त
३.	निं	मं	निं	मं	पं	पं	ग	ग
	म	ति	ते		जः	प्र	स	र
४.	ग	प	म	प	नि	नि	नि	नि
	सौ		धां		शु	कां		ति
५.	रि॑	ग॑	स॑	नि॑	रि॑	ग॑	रि॑	म॑
	फ	णि	प	ति	मु	खं		
६.	रि	ग	रि	स	नि	धनि	प	प
	उ	रो	वि	पु	ल	सा		ग
७.	म॑	प॑	म॑	प॑रि॑ग॑	ग	ग	ग	ग
	र	नि	के		तं			
८.	रि	रि	ग	सम	म	म	प	प
	सि	त	पं		न	गें		द्र
९.	म	प	म	परिग	ग	ग	ग	ग
	म	ति	कां		तं			
१०.	ध	नि	प	म	ध	नि	स	स
	ष		ण्मु	ख	वि	नो		द
११.	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि
	क	र	प		ल्ल	वां		गु
१२.	मं	मं	धं	निं	सनिनि	ध	प	प
	लि	वि	ला		स	की		ल
१३.	म	प	म	परिग	ग	ग	ग	ग
	न	वि	नो		दं			
१४.	नि	नि	प	धनि	ग	ग	ग	ग
	प्र	ण	मा		मि	दे		व
१५.	स॑	रि॑	ग॑	स॑	नि॑	नि॑	नि॑	नि॑
	य		ज्ञो		प	वी		त
१६.	नि॑	नि॑	ध॑	ध॑	प॑	प॑	प॑	प॑
	कं							

१५. कार्मारवी जाति

१०१-१०३ ख. (अ०) कार्मारव्यां कार्मारवी में निषाद-रि-प-धैवताः निषाद-रि-प-धैवत अंशाः भवन्ति अंश होते हैं। अन्तरमार्गत्वात् अन्तरमार्गत्व होने से अनंशाः अनंश बहवः परिकीर्तिताः बहुत्वयुक्त होते हैं। गान्धारः अत्यन्तबहुलः गांधार अत्यन्त बहुत्व वाला (तथा) सर्व-अंशस्वर-संगतिः सब अंश स्वरों से संगति वाला (है)। चच्चत्पुटः चच्चत्पुट (ताल है)। अत्र इसमें षोडश कलाः सोलह कलाएँ (तथा) षड्जादि मूर्च्छना षड्जादि मूर्च्छना (है)। पञ्चमस्य प्रेक्षणस्य ध्रुवायां पाँचवें अंक की ध्रुवा में विनियोजनं विनियोग (होता है)।

अस्यां कार्मारव्यां इस कार्मारवी में पञ्चमः न्यासः पंचम न्यास (और) अंशाः एव अपन्यासाः अंश ही अपन्यास (होते हैं)। अस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) नित्यपूर्णा जाति है। स-ग-म अनंश हैं इसलिये अल्पत्व होना चाहिए लेकिन इनका अन्तरमार्गत्व भी है इसलिए अंशों के साथ बार-बार संगति होने से इनका बहुत्व होता है। इस प्रकार तो अंश और अनंश दोनों का बहुत्व हो जाने से दोनों में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा—यह शंका उठा कर कल्लि० ने समाधान किया कि स्थायी के रूप में जिस स्वर का बहुत्व हो वह अंश है और संचारित्व से जिसका बहुत्व हो वह अन्तरमार्ग के आश्रित अनंश होता है। लेकिन व्यापक रूप में बहुत्व ही अंश का लक्षण कहा गया है तब अनंश का बहुत्व कहने से विसंगति होती है, इस शंका का समाधान इस तरह किया कि रक्ति जिस स्वर के स्थायित्व से व्यंजित हो वही अंश हो सकता है।

गांधार अंश नहीं है फिर भी अंश और पर्यायांशों के साथ उसकी संगति होने के कारण अंशों के समान ही उसका बाहुल्य रहता है। गांधार की सर्वांशसंगति में भरत की विधि है।

प्रस्तार ऋषभांश कार्मारवी का है।

१६. गान्धारपञ्चमी जातिः

अंशो गान्धारपञ्चम्यां पञ्चमः संगतिः पुनः॥ १०३॥

कर्तव्याऽत्रापि गान्धारीपञ्चम्योरिव भूरिभिः।
चच्चत्पुटः षोडशात्र कला गादिश्च मूर्च्छना॥ १०४॥

तुर्यप्रेक्षणसंबन्धिध्रुवागाने नियोजनम्।

अस्यां गान्धारपञ्चम्यां गान्धारो न्यासः। ऋषभपञ्चमावपन्यासौ। अस्याः प्रस्तारः—

१६. गान्धारपञ्चमी

१.	प कां	मप	मध	नि	धप	म	ध	नि
२.	सनिनि	ध	प तं	प	प	प	प	प
३.	ध वा	नि	स मै	स	म क	म दे	प	प श

४.	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि
	प्रें		खो		ल	मा		न
५.	नि	नि	धप	म	निध	निध	प	प
	क	म	ल	नि	भं			
६.	प	प	रि	रि	रि	रि	रि	रि
	व	र	सु	र	भि	कु	सु	म
७.	म	रिग	स	सध	नि	नि	नि	नि
	गं		था		धि	वा		सि
८.	नि	नि	स॑	रि॑स॑	रि॑	रि॑	रि॑	रि॑
	त	म	नो		ज्ञ			
९.	नि	ग	स	निग	स	निं	निं	निं
	न	ग	रा		ज	सू		नु
१०.	निं	मं	निं	मं	पं	पं	ग	ग
	र	ति	रा		ग	र	भ	स
११.	ग	पं	मं	पं	निं	निं	निं	निं
	के		ली		कु	च		ग्र
१२.	म	प	म	परिग	ग	ग	ग	ग
	ह	ली	लं		तं			
१३.	निं	निं	पं	धं	निं	ग	ग	ग
	प्र	ण	मा		मि	दे		वं
१४.	निं	निं	निं	निं	निं	निं	निं	निं
	चं		द्रा		र्ध	मं		डि
१५.	मं	मं	धं	निं	सनिनि	ध	प	प
	त	वि	ला		सकी	ल		
१६.	म	प	म	परिग	ग	ग	ग	ग
	न	वि	नो		दं			

१६. गान्धारपंचमी जाति

१०३ ग-१०५ ख. (अ०) गान्धारपञ्चम्यां गांधारपंचमी में पञ्चमः अंशः पंचम अंश (है)। संगतिः पुनः संगति तो अत्र-अपि यहाँ भी गान्धारीपञ्चम्योः इव गांधारी और पंचमी के समान भूरिभिः कर्तव्या बहुल स्वरों से करनी चाहिए। चच्चत्पुटः चच्चत्पुट (ताल है)। अत्र इसमें कलाः षोडश कलाएँ सोलह (हैं)। गादिः च मूर्च्छना और गान्धारादि मूर्च्छना (है)। तुर्यप्रेक्षणसंबन्धिध्रुवागाने चौथे अंक संबंधी ध्रुवागान में नियोजनं नियोजन (होता है)।

अस्यां गान्धारपञ्चम्यां इस गांधारपंचमी में गान्धारः न्यासः गांधार न्यास (है)। ऋषभपञ्चमौ ऋषभ और पंचम अपन्यासौ अपन्यास (हैं)। आस्याः प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) गांधारपंचमी में गांधारी और पंचमी के समान संगति की जाती है। गांधारी में न्यास गांधार की अंशों तथा अनंशों से और पंचमी में रि-म की संगति का विधान है। अतः गांधारपंचमी में भी इन सबकी संगति करनी चाहिए। यह नित्यपूर्णा जाति है इसलिए इसमें लोप विधि नहीं कही गई है।

प्रस्तार पंचमांश गांधारपंचमी का है जो चच्चत्पुट के चार आवर्तनों में है।

१७. आन्ध्री जातिः

आन्ध्र्यामंशा निरिगपा रिगयोर्निधयोस्तथा॥ १०५॥

संगतिर्न्यासपर्यन्तमंशानुक्रमतो व्रजेत्।
षाडवं षड्जलोपेन मध्यमादिस्तु मूर्च्छना॥ १०६॥

पूर्ववत्तु कलातालविनियोगाः प्रकीर्तिताः।

अस्यामान्ध्र्यां गान्धारो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः। अस्याः प्रस्तारः—

१७. आन्ध्री

१.	ग	रि	रि	रि	रि	रि	रि	रि
	त	रु	णें		दु	कु	सु	म
२.	रि	ग	रि	ग	रि	रि	रि	रि
	ख	चि	त	ज	टं			
३.	रि	रि	ग	ग	रि	रि	म	म
	त्रि	दि	व	न	दी	स	लि	ल
४.	रि	ग	स	धनि	निं	निं	निं	निं
	धौ		त	मु	खं			
५.	निं	रि	निं	रि	धंनिं	धंनिं	प	प
	न	ग	सू		नु	प्र	ण	य
६.	मं	पं	मं	रिग	ग	ग	ग	ग
	वे		द	नि	थिं			
७.	रि	रि	ग	सस	म	म	प	प
	प	रि	णा		हि	तु	हि	न
८.	मं	पं	मं	रिग	ग	ग	ग	ग
	शै		ल	गृ	हं			

९.	धं	निं	ग	ग	ग	ग	ग	ग
	अ	मृ	त	भ	वं			
१०.	प	प	म	रिग	ग	ग	ग	ग
	गु	ण	र	हि	तं			
११.	नि	नि	नि	नि	रि	रि	रि	रि
	त	म	व	नि	र	वि	श	शि
१२.	रि	रि	ग	नि	स	स	नि	नि
	ज्व	ल	न	ज	ल	प	व	न
१३.	पं	पं	मं	रिंगं	गं	गं	गं	गं
	ग	ग	न	त	नुं			
१४.	रिं	रिं	गं	संमं	मं	मं	पं	पं
	श	र	णं		व्र	जा		मि
१५.	मं	मं	निं	निं	सं	रिं	गं	पं
	शु	म	म	ति	कृ	त	नि	ल
१६.	रिंगं	गं	गं	गं	गं	गं	गं	गं
	यं							

१७. आन्ध्री जाति

१०५ ग-१०७ ख. (अ०) आन्ध्र्यां आन्ध्री में **नि-रि-ग-पाः अंशाः** नि-रि-ग-प अंश है। **रि-गयोः नि-धयोः** तथा रि-ग की और नि-ध की **संगतिः** संगति (होती है)। **अंश-अनुक्रमतः** अंश से अनुक्रम से **न्यासपर्यन्तं व्रजेत्** न्यास तक जाना चाहिए। **षड्जलोपेन षाडवं** षड्जलोप से षाडव (भेद होता है)। **मध्यमादिः तु मूर्च्छना** मध्यमादि तो मूर्च्छना (है)। **कलातालविनियोगाः तु** कला, ताल और विनियोग तो **पूर्ववत् प्रकीर्तिताः** पूर्ववत् प्रसिद्ध हैं।

अस्यां आन्ध्र्यां इस आन्ध्री में **गान्धारः न्यासः** गांधार न्यास (है)। **अंशाः एव अपन्यासाः** अंश ही अपन्यास हैं। **अस्याः प्रस्तारः** इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) नि-रि-ग-प इस जाति में पर्याय से अंश और ग्रह भी होते हैं। रि-ग और नि-ध में 'संनिधि' और 'मेलन' संगति की जाती है। अंश के अनुक्रम से यानी जब जो स्वर अंश हो तब पहले उसका उच्चारण करके तब पर्याय अंशों अथवा अनंशों का बार-बार उच्चारण करते हुए अन्त में गीत की समाप्ति न्यास पर करनी चाहिए। सिंह०के अनुसार अंश से न्यास तक आरोह करना चाहिए।

गांधारी के सदृश चच्चत्पुट ताल, १६ कलाएँ और चौथे अंक की ध्रुवा में विनियोग होता है। इस जाति में सिर्फ़ षाडव भेद होता है, औडव नहीं।

प्रस्तुत प्रस्तार गान्धारांश आन्ध्री का है।

१८. नन्दयन्ती जातिः

नन्दयन्त्यां पञ्चमोंऽशो गान्धारस्तु ग्रहः स्मृतः॥ १०७॥

कैश्चित्तु पञ्चमः प्रोक्तो ग्रहोऽस्यां गीतवेदिभिः।
मन्द्रर्षभस्य बाहुल्यं षाडवं षड्जलोपतः॥ १०८॥

हृष्यका मूर्च्छना तालः पूर्ववद् द्विगुणः कलाः।
विनियोगो ध्रुवागाने प्रथमप्रेक्षणे भवेत्॥ १०९॥

अस्यां नन्दयन्त्यां गान्धारो न्यासः। मध्यमपञ्चमावपन्यासौ। अस्याः प्रस्तारः—

१८. नन्दयन्ती

१.	ग	ग	ग	ग	प	प	धप	म
	सौ							
२.	ध	ध	ध	ध	ध	नि	सनिनि	ध
	०							
३.	पं	पं	पं	पं	पं	पं	पं	पं
	म्यं							
४.	धं	निं	मं	पं	गं	गं	गं	गं
	वे		दां		ग	वे		द
५.	म	रि	ग	ग	ग	ग	ग	ग
	क	र	क	म	ल	यो		निं
६.	म	म	प	प	ध	निध	प	प
	त	मो	र	जो	वि	व		
७.	ध	नि	म	प	ग	ग	ग	ग
	र्जि	तं						
८.	गम	प	प	प	म	म	ग	ग
	हरं							
९.	ध	नि	म	प	ग	ग	ग	ग
	भ	व	ह	र	क	म	ल	गृ
१०.	म	म	म	म	म	म	म	म
	हं							
११.	रि	ग	म	प	पम	प	प	नि
	शि	वं	शां		तं	सं		नि

१२.	रिं	रिं	रिं	रिं	पं	पं	मं	मं
	वे		श	न	म	पू		वँ
१३.	धं	निं	सनिंनिं	धं	पं	पं	पं	पं
	भू	ष		ण	ली		लं	
१४.	धं	निं	मं	पं	गं	गं	गं	गं
	उ	र	गे		श	भो		ग
१५.	ग	प	प	प	ध	म	ग	म
	भा		सु	र	शु	भ	पृ	थु
१६.	ध	ध	नि	ध	प	प	प	प
	लं							
१७.	रि	ग	म	प	पम	प	प	नि
	अ	च	ल	प	ति	सू	नु	
१८.	रिं	रिं	रिं	रिं	पं	पं	पं	पं
	क	र	पं		क	जा		म
१९.	प	प	प	प	ध	म	म	म
	ल	वि	ला		स	की		ल
२०.	निं	पं	गं	गंमं	गं	गं	गं	गं
	न	वि	नो		दं			
२१.	रिं	रिं	गं	गं	मं	मं	मं	मं
	स्फ	टि	क	म	णि	र	ज	त
२२.	नि	प	नि	म	नि	ध	प	प
	सि	त	न	व	दु	कू		ल
२३.	सं	सं	धनि	ध	प	प	प	प
	क्षी		रोद		सा			ग
२४.	म	प	म	परिग	ग	ग	सं	सं
	र	नि	का		शं			
२५.	रि	रि	ग	ग	म	म	प	प
	अ	ज	शि	रः	क	पा		ल
२६.	रि	रि	रि	ग	म	रिग	म	म
	पृ	थु	भा			ज	नं	

२७.	म	नि	प	नि	ग	ग	ग	ग
	वं		दे		सु	ख	दं	
२८.	म	म	प	प	ध	धनि	निध	म
	ह	र	दे		ह	म	म	ल
२९.	ध	ध	स	नि	ध	नि	प	प
	म	धु	सू		द	न		सु
३०.	रिं	रिं	रिं	रिं	म	प	ध	म
	ते		जो		धि	क		सु
३१.	नि	नि	नि	नि	ध	प	म	म
	ग	ति	यो					
३२.	म	परिग	ग	ग	ग	ग	ग	ग
			निं					

१८. नन्दयन्ती जाति

१०७ ग-१०९. (अ०) नन्दयन्त्यां नन्दयन्ती में **पञ्चमः अंशः** पंचम अंश (और) **गान्धारः तु** गांधार तो **ग्रहः स्मृतः** ग्रह माना गया है। **कैश्चित् गीतवेदिभिः तु** कुछ गीतवेत्ताओं के द्वारा तो **अस्यां** इसमें **पञ्चमः ग्रहः प्रोक्तः** पंचम ग्रह कहा गया है। **मन्द्र-ऋषभस्य बाहुल्यं** मन्द्र ऋषभ का बाहुल्य (है)। **षाडवं** षाडव **षड्जलोपतः** षड्ज लोप से (होता है)। **हृष्यका मूर्च्छना** हृष्यका मूर्च्छना (है)। **तालः पूर्ववत्** ताल पूर्ववत् (और) **द्विगुणाः कलाः** दुगनी कलाएँ (हैं)। **प्रथमप्रेक्षणे ध्रुवागाने** प्रथम अंक में ध्रुवागान में **विनियोगः भवेत्** विनियोग होता है।

अस्यां नन्दयन्त्यां इस नन्दयन्ती में **गान्धारः न्यासः** गांधार न्यास (है)। **मध्यमपञ्चमौ अपन्यासौ** मध्यम और पंचम अपन्यास (होते हैं)। **अस्याः प्रस्तारः** इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) इसमें अंश पंचम और ग्रह गान्धार है जो भरत के अनुसार विहित है। नन्दयन्ती ही एकमात्र ऐसी जाति है जिसमें ग्रह स्वर अंश से भिन्न है। कुछ लोगों के मत में ग्रह भी पंचम ही है।

नन्दयन्ती मध्यमग्राम की जाति है। कल्लि० के अनुसार इसमें मूल मन्द्र ऋषभ तक मन्द्रगति प्राप्त नहीं है इसलिये मन्द्र ऋषभ के बाहुल्य वाला लक्षण उपपत्त नहीं होता। लेकिन नन्दयन्ती में हृष्यका मूर्च्छना कही है जो मन्द्र पंचम से आरंभ होती है और मध्यमग्रामिक होने से इस पंचम का एकमात्र संवादी स्वर मन्द्र ऋषभ ही है इसलिये ऋषभ तक स्थान प्राप्ति न होते हुए भी मन्द्र ऋषभ का बाहुल्य भरत के वचनानुसार कहा गया है।

एकमात्र नन्दयन्ती जाति में मूर्च्छना का निर्देश आरंभक स्वर से न करके नाम से किया गया है।

आन्ध्री के समान चच्चत्पुट ताल है। कलाएँ दुगनी यानी ३२ हैं इसलिये प्रस्तार दक्षिण मार्ग में चच्चत्पुट के ८ आवर्तनों में समाप्त होता है। प्रस्तार गान्धारांश नन्दयन्ती का है।

जातियों के प्रस्तार उनके कई अंशों में से केवल एक-एक स्वर के अंशत्व के और जातियों की पूर्णावस्था के उदाहरण हैं। इनमें से षाड्जी, धैवती, षड्जमध्यमा, कैशिकी, रक्तगान्धारी और षड्जोदीच्यवा—इन ६ जातियों के प्रस्तार १२ कला वाले

हैं। गान्धारी, नैषादी, गान्धारोदीच्यवा, कार्मारवी, गान्धारपंचमी, मध्यमोदीच्यवा, आन्ध्री और षड्जकैशिकी—इन ८ में १६ कला के प्रस्तार हैं। ८ कला वाले प्रस्तार आर्षभी, मध्यमा और पंचमी में हैं। नन्दयन्ती एकमात्र जाति है जिसमें ३२ कलाओं का प्रस्तार है। प्रस्तारों की स्वरयोजना में दो क्रमिक स्वरों के बीच ४-५ से लेकर एक सप्तक तक के अन्तर वाले स्वरों का बाहुल्य दिखाई देता है।

जातिविषयकसामान्यनिर्देशाः

अनुक्ताविह तालः स्यात्त्रिधैवैककलाऽऽदिकः।
मार्गाः क्रमाच्चित्रवृत्तिदक्षिणा गीतयः पुनः॥ ११०॥

मागधी संभाविता च पृथुलेत्युदिताः क्रमात्।

जातिसंबंधी सामान्य निर्देश

११०-१११ ख. (अ०) इह इन (जातिलक्षणों) में अनुक्तौ अनुक्त होने पर तालः ताल, एककला-आदिकः एककल आदि त्रिधा एव स्यात् तीनों प्रकार का होता है। मार्गाः क्रमात् मार्ग (एककल आदि के) क्रम से चित्रवृत्तिदक्षिणाः चित्र, वार्तिक और दक्षिण गीतयः पुनः (और) गीतियाँ तो मागधी संभाविता पृथुला च मागधी, संभाविता और पृथुला इति क्रमात् उदिताः इस क्रम से कही गई हैं।

(सर०) ताल, उनके एककल आदि भेद और गीतियों का पूरा निर्देश केवल षाड्जी जाति में किया गया है, शेष में कहीं इनमें से कुछ का किया है और अन्यों में 'षाड्जीवत्' या 'पूर्ववत्' कह दिया है। ऐसे स्थानों पर क्या करना चाहिए इसके लिये ग्रंथकार ने यहाँ सामान्य निर्देश किया है कि ताल के एककल आदि तीनों भेद और उनमें क्रम से तीनों गीतियों का प्रयोग करना चाहिए।

सिंह० ने 'अनुक्तौ' को सीधे 'तालः' के साथ अन्वित करके यह अर्थ किया है कि जहाँ ताल न कहा हो वहाँ चच्चत्पुट को ही एककल आदि में प्रयुक्त करना चाहिए। ग्रंथकार ने ताल का तो स्पष्टतः या संकेत रूप में निर्देश किया है लेकिन एककल आदि और गीतियों का नहीं। इसलिये 'अनुक्तौ' को ताल विशेष के लिए नहीं बल्कि श्लोक में कहे गए एककल आदि भेदों और मागधी आदि गीतियों के साथ ही अन्वित करना चाहिए।

योक्ताऽस्माभिः कलासंख्या सा दक्षिणपथे स्थिता॥ १११॥

वार्त्तिके द्विगुणा ज्ञेया सैव चित्रे चतुर्गुणा।
सर्वजातिषु जानीयादंशस्वरगतं रसम्॥ ११२॥

१११ ग-११२. (अ०) अस्माभिः हमारे द्वारा या कलासंख्या जो कलासंख्या उक्ता कही गई सा वह दक्षिणपथे स्थिता दक्षिण मार्ग में स्थित है। स एव वही वार्तिके द्विगुणा वार्तिक में दुगनी (और) चित्रे चतुर्गुणा ज्ञेया चित्र (मार्ग) में चौगुनी जाननी चाहिए। सर्वजातिषु सब जातियों में रसम् अंशस्वरगतं रस को अंशस्वरगत जानीयात् जानना चाहिए।

(सर०) षाड्जी आदि जातियों के लक्षणों में कलाओं की संख्या बताई गई है। कला का परिमाण श्लोक ६४ में 'अष्टलघुः कला' के द्वारा कहा गया है। उसकी व्याख्या में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ८ लघु मात्राओं वाली एक कला यानी तालभाग है। ऐसी ८, १२, १६ या ३२ कलाएँ प्रस्तारों में हैं।

ग्रन्थकार के 'कलासंख्या' शब्द को दोनों टीकाकारों ने भिन्न रूप में समझा है। यहाँ दोनों के आधार पर स्पष्ट किया जा रहा है। कल्लि० की टीका इस प्रकार है। पंचपाणि ताल में १२ और चच्चत्पुट में ८, १६ या ३२ कलासंख्या कही गई है

जो दक्षिण मार्ग के अनुसार है। इसलिए इसमें चतुष्कल ताल और पृथुला गीति का प्रयोग होता है। वार्तिक मार्ग में कला में लघुओं की संख्या ४ हो जाने से कलासंख्या दुगनी यानी पंचपाणि में २४ और चच्चत्पुट में १६, ३२ या ६४ हो जायगी और द्विकल भेद तथा संभाविता गीति प्रयुक्त होगी। चित्र मार्ग का प्रयोग होने पर पादभाग में लघुओं की संख्या २ रह जाने के कारण कलासंख्या चौगुनी यानी पंचपाणि में ४८ और चच्चत्पुट में ३२, ६४ या १२८ हो जायगी तथा एककल भेद और मागधी गीति का प्रयोग होगा। इसका कारण यह है कि आठलघु वाली कला विभक्त होकर वार्तिक मार्ग में ४ लघु की और चित्रमार्ग में २ लघु की हो जाती है।

कल्लि० ने ६४ वें श्लोक की टीका में भी इसका उल्लेख किया है। उसने कहा है कि यहाँ १२ कलाएँ हैं इसलिये चतुष्कल पंचपाणि की दो आवृत्ति समझनी चाहिएँ। जब वार्तिक मार्ग के आश्रित होकर ये कलाएँ २४ हो जाती हैं तो ४ आवृत्ति समझनी चाहिएँ और जब चित्रमार्ग के आश्रित ४८ कलाएँ हो जायँगी तो ८ आवृत्ति होंगी। इसका भी यही अभिप्राय है कि मार्ग बदल जाने से प्रस्तार में तालभागों की संख्या दुगनी-दुगनी हो जायगी इसलिये आर्वतन भी दुगने हो जायँगे। लेकिन पूरे प्रस्तार में कुल समय उतना ही लगेगा।

श्लोक ६४ की व्याख्या में यह कहा जा चुका है कि सिंह० ने वहाँ 'अष्टगुरुः' पाठ रखा है। प्रस्तुत श्लोक की टीका से यह समझ सकते हैं कि उसने 'कलासंख्या' को प्रत्येक तालभाग में गुरुओं की संख्या के रूप में समझा है और दक्षिण मार्ग में हर तालभाग में ८ गुरु मान कर वार्तिक में उससे दुगनी यानी १६ गुरु और चित्रमार्ग में चौगुनी अर्थात् ३२ गुरु वाली एक कला होगी—यह अर्थ किया है। लेकिन यह ग्रंथकार के अभिप्राय से विरोध करता है।

ग्रंथकार ने श्लोक में 'कला' शब्द का प्रयोग तालभाग के अर्थ में किया है। तदनुसार दक्षिण मार्ग की अपेक्षा वार्तिक में तालभागों की संख्या दुगनी और चित्र मार्ग में चौगुनी हो जाती है क्योंकि दक्षिण मार्ग में आवर्तन सबसे लम्बा होता है और वार्तिक तथा चित्र में आवर्तन की लम्बाई क्रमशः आधी-आधी हो जाती है। सिंह० का अर्थ ग्रहण करने पर इसके ठीक विपरीत स्थिति होगी क्योंकि तब दक्षिण की अपेक्षा वार्तिक और चित्र मार्ग के आवर्तनों की लम्बाई दुगनी-दुगनी हो जायगी, जो ग्रंथकार का अभिप्रेत नहीं है।

जातियों के लक्षण में हरेक का रस नहीं बताया गया है। यहाँ संक्षेप में कह दिया है कि अंश स्वर के रस समझ लेने चाहिएँ। तीसरे प्रकरण के श्लोक ५९-६० में अंश स्वरों के रस कहे जा चुके हैं। तदनुसार जिस जाति में जो स्वर अंश हो उसी का रस उस जाति में समझ लेना चाहिए। इसके अनुसार स-रि अंश वाली जातियों में वीर, रौद्र, अद्‌भुत, ध अंश होने पर बीभत्स, भयानक, ग-नि के अंशत्व में करुण और म-प अंश हो तो हास्य, शृंगार रस होगा। 'विजानीयात्' में यह अर्थ भी है कि रसानुकूल पद की भी योजना करनी चाहिए।

दृश्यन्ते जन्यरागांशास्तज्ज्ञैर्जनकजातिषु।
ब्रह्मप्रोक्तपदैः सम्यक्प्रागुक्ताः शङ्करस्तुतौ॥ ११३॥

अपि ब्रह्महणं पापाज्जातयः प्रपुनन्त्यमूः।
ऋचो यजूंषि सामानि क्रियन्ते नान्यथा यथा॥ ११४॥

तथा सामसमुद्‌भूता जातयो वेदसंमिताः।

इति प्रथमे स्वरगताध्याये सप्तमं जातिप्रकरणम्॥ ७॥

११३-११५ ख. (अ०) जनकजातिषु जनक जातियों में तज्ज्ञैः उनके ज्ञाताओं के द्वारा जन्यरागांशाः जन्यों (जातियों अथवा रागों) के रागांश दृश्यन्ते दिखाई देते हैं। प्राक् पहले शङ्करस्तुतौ शंकर की स्तुति में ब्रह्मप्रोक्तपदैः ब्रह्मा के द्वारा कहे

गए पदों से सम्यक् उक्ताः ठीक उसी रूप में प्रयुक्त की गईं अमूः जातयः ये जातियाँ ब्रह्महणं पापात् अपि ब्रह्महत्या के पाप से भी प्रपुनन्ति पवित्र कर देती हैं। यथा जैसे ऋचः यजूंषि सामानि ऋक्, यजुः और सामों को अन्यथा न क्रियन्ते अन्यथा नहीं किया जाता तथा उसी प्रकार सामसमुद्भूता साम से उत्पन्न वेदसंमिताः जातयः वेदसदृश जातियाँ (भी अन्यथा नहीं की जा सकतीं)।

(सर०) जातियों में ग्रंथकार ने यह उल्लेख किया है कि उस जाति में अमुक राग दिखाई देते हैं, जैसे—षड्जकैशिकी जाति में गांधारपंचम, हिन्दोल, देशी, वेलावेली। इससे यह सूचित होता है कि जातियों से उत्पन्न अर्थात् जन्यरागों के अवयव उनकी जनक जातियों में दिखाई देते हैं। जाति वे मूल रूप हैं जिनसे रागों का विकास हुआ। पहले कहा जा चुका है कि जो अनेकों में सामान्य हो वह जाति है। इसलिये जाति का अंश रागों में होना सहज है। लेकिन जाति से उत्पन्न रागों के अंशों का जाति में यत्र-तत्र दिखाई देना भी स्वाभाविक है। इसी तथ्य का संकेत ग्रंथकार के इस कथन में है कि जन्य रागों के अंश जनक जातियों में दिखाई देते हैं।

ग्रंथकार द्वारा प्रयुक्त 'रागांश' शब्द विशेष है। संगीतरत्नाकर के तीसरे अध्याय में 'स्थाय' के अन्तर्गत रागांश स्थाय का लक्षण ग्रंथकार ने स्वयं यह दिया है—*'रागान्तरस्यावयवो रागांशः'* अर्थात् अन्य राग का अवयव रागांश है। इसका कुछ दर्शन वर्तमान कर्णाटक संगीत में किया जा सकता है। उत्तर भारतीय संगीत की भाँति उठान, ठहराव, अल्पत्व, बहुत्व आदि के भेद से उन्हीं स्वरों में रागभेद न होने से उत्तर भारतीय संगीत की दृष्टि से श्रोता को एक ही राग में अनेक रागों के दर्शन होते हैं। जैसे—मोहनम् में वही स्वर हैं जो उत्तर की भूपाली में। लेकिन मोहनम् में कहीं भूपाली, कहीं देशकार, कहीं शुद्धकल्याण दिखाई देता है।

सिंह० के अनुसार 'दृश्यन्ते जन्यरागांशाः' का अर्थ यह है कि जिस जन्य जाति में रागांश नहीं बताए गए उसमें उसकी जनक जाति का रागांश मान लेना चाहिए।

ऋक्, यजु और साम से जो फल प्राप्त होते हैं वही फल इन जातियों के सम्यक् गान से भी होते हैं। लेकिन स्वर, ताल, पद में से किसी में भी प्रत्यवाय हो तो विपरीत फल भी हो सकता है।

प्रथम स्वरगताध्याय का जाति नामक सातवाँ प्रकरण समाप्त॥ ७॥

अथाष्टमं गीतिप्रकरणम्

आठवाँ गीतिप्रकरण

कपालोत्पत्तिः

शुद्धजातिसमुद्भूतकपालान्यधुना ब्रुवे।
रागा जनकजातीनां तत्कपालेषु संमिताः॥ १॥

कपालोत्पत्ति

१. (अ०) अधुना अब शुद्धजातिसमुद्भूतकपालानि शुद्धा जातियों से उत्पन्न कपालों को ब्रुवे कहता हूँ। जनकजातीनां रागाः जनक जातियों के राग तत्-कपालेषु उन कपालों में संमिताः सदृश आकार वाले प्रतीत होते हैं।

(सर०) शिवस्तुति में प्रयुक्त विशिष्ट लक्षणों से युक्त शुद्धा जातियों के गीत कपाल कहलाते हैं। इनके बारे में कहा जाता है कि शिवजी के गले में पड़ी कपालों की माला में पिरोए हुए कपालों के द्वारा ये गाए गए थे। ऐसी कथा है कि जटाजूट बाँधते समय जटाएँ ज्यादा कस जाने से उनमें रहने वाला चन्द्रमा भी कस गया। फलस्वरूप उससे अमृत झरने लगा और वह कपालमाल के नरमुण्डों पर गिरने लगा जिससे कपाल जीवित हो उठे और शिवजी की स्तुति करने लगे। स्तुति में उन्होंने जो गीत गाए वही कपालगान कहलाए (सं०राज, प्र० खण्ड पृ० २४२, श्लोक ४१७-२४)। कल्लि० ने भी इस कथा को थोड़े से भेद से इस प्रकार कहा है। प्राचीन काल में भिक्षाटन के समय शम्भु के द्वारा षाड्जी आदि जातियों को गाए जाने पर उनसे जो अतिशय रस की अभिव्यक्ति हुई उससे उनके भूषणस्वरूप चन्द्रमा की कलाओं से रस (अमृत) बहने लगा और उस अमृत रस से सिक्त होने पर ब्रह्मा की बनाई कपालमाला के कपाल सजीव होकर उस गान का अनुकरण करते हुए गाने लगे। कपालों के द्वारा गाए जाने से उनकी कपाल संज्ञा हुई। अथवा बड़े घड़े के ऊपर और नीचे के दो हिस्से कपाल (खप्पर) कहलाते हैं। उनमें से एक हिस्सा भी हो तो उसे देख कर घड़े का ज्ञान हो जाता है उसी तरह इन गीतों में राग का एकदेशत्व यानी एक अंश होने से इनमें घड़े की तरह सम्पूर्ण राग की प्रतीति होती है इसलिये घड़े के कपालों की तरह इन्हें भी कपाल कहा जाता है।

इन गीतों में पाटाक्षर (अवनद्ध वाद्यों के अक्षर) और स्तोभाक्षरों (कल्याणप्रद निरर्थक अक्षर) का प्रयोग है और इनके केवल पद ही दिए गए हैं, स्वरांकन नहीं हुआ है। सं०र० की अपेक्षा सं० राज में ज्यादा कपालगान दिए गए हैं।

कपाल सिर्फ़ शुद्धा जातियों में हैं, संसर्गजाओं में नहीं। इसीलिए श्लोक में 'शुद्धजातिसमुद्भूत' कहा है। यद्यपि जातित्व दोनों में है लेकिन कपाल और संसर्गजा जातियाँ—ये दोनों ही शुद्धा जातियों से सीधे उत्पन्न हैं इसलिये संसर्गजाओं में कपाल की उत्पत्ति का कारणत्व नहीं रहता। 'जनकजाति' का तात्पर्य शुद्धा जातियों से है। 'रागाः' का अर्थ है शुद्धा जातियों से उत्पन्न राग। यद्यपि कपाल शुद्धाओं में हैं लेकिन उन जातियों से उत्पन्न रागों का बोध भी कपालों से होता है। इस संदर्भ में भ०भा० (६/५३०-६१) के कपालों का उल्लेख किया जा सकता है। नान्य० ने आर्षभी कपाल में देशी व मधुकरी का, गान्धारी कपाल में देशी तथा वेलावली का, मध्यमाकपाल में शुद्धषाडव, देशी, आन्धाली का, पंचमीकपाल में शुद्धपंचम का, धैवतीकपाल में बोट्टकैशिक, देशी, सिंहली का तथा नैषादीकपाल में शुद्धसाधारित, देशी तथा वेलावली का उल्लेख किया है।

तल्लक्षणानि

१. षाड्जीकपालम्

षड्जो ग्रहोंऽशोऽपन्यासो गो न्यासोऽतिबहू गमौ।
अल्पा रिपनिधा लङ्घ्यो रिः कला द्वादशोदिताः॥ २॥
यस्मिन्षाड्जीकपालं तद्गदितं गीतवेदिभिः।

कपाललक्षण

१. षाड्जी कपाल

२-३ ख. (अ०) षड्जः ग्रहः अंशः अपन्यासः षड्ज ग्रह, अंश (और) अपन्यास, गः न्यासः ग न्यास, ग-मौ अतिबहू ग-म अत्यन्त बहुल, रि-प-नि-धाः अल्पा रि-प-नि-ध अल्प, रिः लङ्घ्यः रि लंघनीय, कलाः यस्मिन् द्वादश उदिताः कलाएँ जिसमें बारह कही गई हैं तत् वह गीतवेदिभिः गीतवेत्ताओं के द्वारा षाड्जीकपालं गदितं षाड्जी कपाल कहा गया है।

(सर०) लक्षण से यह स्पष्ट है कि शुद्धा जातियों के न्यास नियम का इसमें भंग है।

२. आर्षभीकपालम्

यत्रर्षभोंऽशोऽपन्यासो मोऽन्तो गनिपधाल्पता॥ ३॥
सोऽत्यल्पोऽष्टकलं तत्स्यात्कपालं त्वार्षभीगतम्।

२. आर्षभी कपाल

३ ग-४ ख. (अ०) यत्र जहाँ ऋषभः अंशः अपन्यासः ऋषभ अंश (और) अपन्यास (हो), मः अन्तः म न्यास (हो), ग-नि-प-ध-अल्पता ग-नि-प-ध (की) अल्पता (हो), सः अत्यल्पः स अति अल्प (हो), अष्टकलं आठ कला वाला (हो) तत् कपालं तु वह कपाल तो आर्षभीगतं स्यात् आर्षभीगत होता है।

३. गान्धारीकपालम्

मध्यमोंऽशो ग्रहो न्यासोऽपन्यासो धैवतो बहुः॥ ४॥
यत्राल्पाः सरिगा लोपाद्रिपयोरौडुवं भवेत्।
तद्गान्धारीकपालं स्यात्कलाऽष्टकविनिर्मितम्॥ ५॥

३. गान्धारी कपाल

४ ग-५. (अ०) मध्यमः ग्रहः अंशः न्यासः अपन्यासः मध्यम ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, धैवतः बहुः धैवत बहुल, यत्र जहाँ सरिगाः अल्पाः स-रि-ग अल्प (हों), रि-पयोः लोपात् रि-प के लोप से औडुवं भवेत् औडुव होता है, कला-अष्टक विनिर्मितं आठ कलाओं से निर्मित (होता है) तत् गान्धारीकपालं स्यात् वह गांधारी कपाल होता है।

(सर०) मध्यमग्रामिक गान्धारी जाति में रि-प लोप्य कहा गया है।

४. मध्यमाकपालम्

मध्यमोंऽशो निरिगपाः स्वल्पा यत्र कला नव।
तन्मध्यमाकपालं स्यादिति निःशङ्कसंमतम्॥ ६॥

४. मध्यमा कपाल

६. (अ०) यत्र जहाँ मध्यमः अंशः मध्यम अंश, नि-रि-ग-पाः स्वल्पाः नि-रि-ग-प अल्प, कलाः नव कलाएँ नौ (हों) तत् वह मध्यमाकपालं स्यात् मध्यमा कपाल होता है इति ऐसा निःशङ्कसंमतं निःशङ्क (शार्ङ्गदेव) संमत है।

५. पञ्चमीकपालम्

ऋषभांशं सग्रहं च निधषड्जगमाल्पकम्।
कपालं पञ्चमीजातिजातमष्टकलं विदुः॥ ७॥

५. पंचमी कपाल

७. (अ०) ऋषभ-अंशं ऋषभ अंश स-ग्रहं च और स ग्रह, नि-ध-षड्ज-ग-म-अल्पकं नि-ध-स-ग-म अल्प, अष्टकलं आठ कला वाला पञ्चमीजातिजातं पंचमी जाति से उत्पन्न कपालं विदुः (पंचमी) कपाल जाना जाता है।

६. धैवतीकपालम्

अत्यल्पर्षभगान्धारं पन्यासं मधभूरि च।
षाड्ज्या इव कपालं तद्धैवत्याः सकलाऽष्टकम्॥ ८॥

६. धैवती कपाल

८. (अ०) अत्यल्प-ऋषभगान्धारं ऋषभ-गांधार अति अल्प, प-न्यासं प न्यास, म-ध-भूरि च और म-ध बहुल सकला-अष्टकं आठ कलाओं सहित तत् षाड्ज्या इव वह षाड्जी के समान धैवत्याः कपालं धैवती के द्वारा कपाल (होता है)।

७. नैषादीकपालम्

ग्रहांशन्यासषड्जं च रिगाल्पमतिभूरिभिः।
निधमैरष्टकलकं स्यान्नैषादीकपालकम्॥ ९॥

७. नैषादी कपाल

९. (अ०) ग्रह-अंश न्यास षड्जं च ग्रह, अंश और न्यास षड्ज, रि-ग-अल्पं रि-ग अल्प, अतिभूरिभिः नि-धमैः अत्यन्त बहुल नि-ध-म के द्वारा अष्टकलकं आठ कलाओं वाला नैषादीकपालकं स्यात् नैषादी कपाल होता है।

कपालगानफलम्

इति सप्त कपालानि गायन्ब्रह्मोदितैः पदैः।
स्वरैश्च पार्वतीकान्तस्तुतौ कल्याणभाग्भवेत्॥ १०॥

कपालगान का फल

१०. (अ०) पार्वतीकान्तस्तुतौ पार्वतीकान्त (शिव) की स्तुति में ब्रह्मा-उदितैः पदैः ब्रह्मा द्वारा कहे गए पदों स्वरैः च और स्वरों के द्वारा इति सप्त कपालानि गायन् इन सात कपालों को गाते हुए (अर्थात् गाने वाला) कल्याणभाक् भवेत् कल्याण का भाजन होता है।

कम्बललक्षणम्

यत्र ग्रहोंऽशोऽपन्यासः पञ्चमो बहुलस्तु रिः।
सो न्यासो मधगान्धारास्त्वल्पास्तत्कम्बलं मतम्॥ ११॥

कम्बललक्षण

११. (अ०) यत्र जहाँ पञ्चमः ग्रहः अंशः अपन्यासः पंचम ग्रह, अंश, अपन्यास, रिः तु बहुलः रि तो बहुल, सः न्यासः स न्यास, म-ध-गान्धाराः तु अल्पाः म-ध और गान्धार तो अल्प (हों) तत् कम्बलं मतं वह कम्बल माना गया है।

पञ्चमीजातिसंजातमल्पताबहुतावशात्।
स्वराणां बहवो भेदास्तस्य पूर्वैरुदीरिताः॥ १२॥

१२. (अ०) पञ्चमीजातिसंजातं पंचमी जाति से सम्यक् रूप से उत्पन्न स्वराणाम् अल्पता-बहुतावशात् स्वरों की अल्पता बहुलता के वश से पूर्वैः पूर्व (आचार्यों) के द्वारा तस्य उसके बहवः भेदाः उदीरिताः बहुत से भेद कहे गए हैं।

(सर०) सिंह० ने यह उल्लेख किया है कि भरतादि पूर्वाचार्यों ने कम्बल के बहुत से भेद कहे हैं लेकिन आज उपलब्ध इन पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में कम्बल के भेद नहीं मिलते।

कम्बलोत्पत्तिः

प्रीतः कम्बलगानेन कम्बलाय वरं ददौ।
पुरा पुरारिरद्यापि प्रीयते तैरतः शिवः॥ १३॥

कम्बलोत्पत्ति

१३. (अ०) पुरा प्राचीन काल में कम्बलगानेन प्रीतः कम्बल के गान से प्रसन्न हुए पुरारिः शिव ने कम्बलाय वरं ददौ कम्बल के लिये वर दिया। अतः इसलिए तैः उन (कम्बल गानों) के द्वारा शिवः शिव अद्य-अपि-प्रीयते आज भी प्रसन्न होते हैं।

(सर०) टीकाकारों ने कम्बलगान की उत्पत्ति के बारे में एक कथा की ओर संकेत किया है। उसके अनुसार नागयोनि के दो गन्धर्वों, कम्बल और अश्वतर, ने शिव की स्तुति करके यह वर प्राप्त कर लिया था कि वे दोनों शिवजी के कुण्डल बन कर सदा उनके साथ रहेंगे। उनके द्वारा गाये गए गान ही कम्बल कहलाए।

कपालपदानि

कपालानां क्रमाद् ब्रूमो ब्रह्मप्रोक्तां पदावलीम्।

कपालों के पद

१४ क-ख. (अ०) कपालानां कपालों की ब्रह्मप्रोक्त पदावलीं ब्रह्मप्रोक्त पदावली को क्रमाद् ब्रूमः क्रम से कहते हैं।

(सर०) कपाल के पदों में 'झण्टुम्' आदि पाटाक्षर और 'हौ', 'ॐ' आदि स्तोभाक्षरों का प्रयोग हुआ है। वाद्यों के अक्षरों का गीतों में प्रयोग हो तो वे 'पाटाक्षर' कहलाते हैं। सामगान में मन्त्रों के बीच-बीच में कर्षण करने के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले अक्षर स्तोभाक्षर कहलाते हैं। ना०शा० के भिन्न संस्करणों में कहीं-कहीं 'झण्टुं' के बजाय 'ऋन्दुं' पाठ भी मिलता है। आज के लक्ष्य में दिरि, नुं, तों आदि अक्षरों का जो प्रयोग होता है वह पाटाक्षरों का ही रूप कहा जा सकता है। सामगान में आज भी 'हौ', 'हुं' आदि स्तोभाक्षरों का प्रयोग होता है।

१. षाड्जीकपालपदानि

१. षाड्जी-कपालपद

झण्टुं झण्टुम् ॥ १ ॥ खट्वाङ्गधरम् ॥ २ ॥ दंष्ट्राकरालम् ॥ ३ ॥ तडित्सदृशजिह्वम् ॥ ४ ॥ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ ॥ ५ ॥ बहुरूपवदनं घनघोरनादम् ॥ ६ ॥ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ ॥ ७ ॥ ॐ ॐ ह्रां रौं हौं हौं हौं हौं ॥ ८ ॥ नृमुण्डमण्डितम् ॥ ९ ॥ हूं हूं कह कह हूं हूं ॥ १० ॥ कृतविकटमुखम् ॥ ११ ॥ नमामि देवं भैरवम् ॥ १२ ॥ इति षाड्जीकपालपदानि ॥ १ ॥

२. आर्षभीकपालपदानि

२. आर्षभी-कपालपद

झण्टुं झण्टुं खट्वाङ्गधरम् ॥ १ ॥ दंष्ट्राकरालम् ॥ २ ॥ तडित्सदृशजिह्वम् ॥ ३ ॥ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ ॥ ४ ॥ वरसुरभिकुसुम ॥ ५ ॥ चर्चितगात्रम् ॥ ६ ॥ कपालहस्तम् ॥ ७ ॥ नमामि देवम् ॥ ८ ॥ इत्यार्षभीकपालपदानि ॥ २ ॥

३. गान्धारीकपालपदानि

३. गान्धारी कपालपद

चलत्तरङ्ग ॥ १ ॥ भङ्गुरम् ॥ २ ॥ अनेकरेणु ॥ ३ ॥ पिङ्गरं सु ॥ ४ ॥ रासुरैः सुसेवितं पु ॥ ५ ॥ नातु जाह्न ॥ ६ ॥ वीजलम् ॥ ७ ॥ मां बिन्दुभिः ॥ ८ ॥ इति गान्धारीकपालपदानि ॥ ३ ॥

४. मध्यमाकपालपदानि

४. मध्यमा-कपालपद

शूलकपाल ॥ १ ॥ पाणित्रिपुरविनाशि ॥ २ ॥ शशाङ्कधारिणम् ॥ ३ ॥ त्रिनयनत्रिशूलम् ॥ ४ ॥ सततमुमया सहि ॥ ५ ॥ तं वरदम् ॥ ६ ॥ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ ॥ ७ ॥ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ हौ ॥ ८ ॥ नौमि महादेवम् ॥ ९ ॥ इति मध्यमाकपालपदानि ॥ ४ ॥

५. पञ्चमीकपालपदानि

५. पंचमी-कपालपद

जय विषमनयन ॥ १ ॥ मदनतनुदहन ॥ २ ॥ वरवृषभगमन ॥ ३ ॥ त्रिपुरदहन ॥ ४ ॥ नतसकलभुवन ॥ ५ ॥ सितकमलवदन ॥ ६ ॥ भव मे भयहरण ॥ ७ ॥ भव शरणम् ॥ ८ ॥ इति पञ्चमीकपालपदानि ॥ ५ ॥

६. धैवतीकपालपदानि

६. धैवती-कपालपद

अग्निज्वाला॥ १॥ शिखावली॥ २॥ मांसशोणित॥ ३॥ भोजिनि॥ ४॥ सर्वाहारि॥ ५॥ णि निर्मांसे॥ ६॥ चर्ममुण्डे॥ ७॥ नमोऽस्तु ते॥ ८॥ इति धैवतीकपालपदानि॥ ६॥

७. नैषादीकपालपदानि

७. नैषादी-कपालपद

सरसगजचर्मपटम्॥ १॥ भीमभुजङ्गमानद्धजटम्॥ २॥ कहकहहुंकृतिविकृतमुखम्॥ ३॥ नम तं शिवं हरमजितम्॥ ४॥ चण्डतुण्डमजेयम्॥ ५॥ कपालमण्डितमुकुटम्॥ ६॥ कामदर्पविध्वंसकरम्॥ ७॥ नम तं हरं परमशिवम्॥ ८॥ इति नैषादीकपालपदानि॥ ७॥ इति सप्त कपालपदानि॥

सात कपालपद समाप्त

(सर०) भ०भा० में इन कपालों के स्वर भी दिये हैं लेकिन स्वर और पद अलग-अलग दिए हैं और स्वर व पदरूपों का पाठ बहुत भ्रष्ट और खण्डित है इसलिये उनका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

गीतिलक्षणं तद्भेदाश्च

वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता॥ १४॥

गीतिरित्युच्यते,

गीति का लक्षण और भेद

१४ ग-१५ क. (अ०) वर्णादि-अलङ्कृता वर्ण आदि से अलंकृत पद-लय-अन्विता गानक्रिया (तथा) पद (और) लय से अन्वित गानक्रिया गीतिः इति उच्यते गीति (है) ऐसा कहा जाता है।

(सर०) जातियों के लक्षणों में षड्जोदीच्यवा के प्रस्तार (प्रकरण ७, श्लो० ८१-८५ ख) में अर्धमागधी गीति का प्रयोग ग्रंथकार ने दिखाया है। कल्लि० ने वहाँ कहा कि ग्रंथकार आगे इन गीतियों के लक्षण देने वाले हैं। यहाँ गीति का सामान्य लक्षण और विभिन्न गीतियों के विशेष लक्षण देने का उपक्रम ग्रंथकार कर रहे हैं।

ये गीतियाँ पदाश्रित हैं। स्वराश्रित गीतियों (शुद्धा, भिन्ना आदि) का निरूपण 'रागविवेकाध्याय' नामक दूसरे प्रकरण में हुआ है।

सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा।
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी॥ १५॥

संभाविता च पृथुलेत्येतासां लक्ष्म चक्ष्महे।

१५ ख-१६ख (अ०) सा च और वह बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा चतुर्विधा उक्ता चार प्रकार की कही गई है। मागधी प्रथमा ज्ञेया मागधी पहली जानी गई है द्वितीया च अर्धमागधी और दूसरी अर्धमागधी (है)। संभाविता च पृथुला इति संभाविता और पृथुला ये (तीसरी और चौथी हैं)। एतासां इनके लक्ष्म चक्ष्महे लक्षण कहते हैं।

(सर०) इन चार गीतियों में से पहली दो—मागधी और अर्धमागधी पदों की आवृत्तियुक्त गानक्रिया पर आधारित हैं और संभाविता तथा पृथुला क्रम से गुरु और लघु अक्षरों की प्रधानतायुक्त शब्द रचना वाली गीति से संबद्ध हैं।

तत्र १. मागधीलक्षणम्

गीत्वा कलायामाद्यायां विलम्बितलयं पदम्॥ १६॥

द्वितीयायां मध्यलयं तत्पदान्तरसंयुतम्।
सतृतीयपदे ते च तृतीयस्यां द्रुते लये॥ १७॥

इति त्रिरावृत्तपदां मागधीं जगदुर्बुधाः।

यथा—

मा	गा	मा	धा
दे		वं	
धनि	धनि	सनि	धा
दे	वं	रु	द्रं
रिस	रिग	मग	रिस
देवं	रुद्रं	वं	दे

१. मागधी-लक्षण

१६ ग-१८ ख (अ०) आद्यायां कलायां प्रथम कला में विलम्बितलयं पदं गीत्वा विलंबित लययुक्त पद गाकर द्वितीयायां दूसरी (कला) में तत् वही (पद) मध्यलयं पदान्तरसंयुतं मध्य लय के अन्य पद से संयुक्त (करके) तृतीयस्यां तीसरी (कला) में द्रुते लये द्रुत लय में सतृतीयपदे तीसरे पद के सहित ते च वही दोनों पद (गाये जाने पर) इति इस प्रकार त्रिः-आवृत्तपदां (पहले) पद की तीन बार आवृत्ति वाली मागधीं मागधी (गीति) को बुधाः जगदुः बुधजन जानते हैं। यथा जैसे।

(सर०) मागधी गीति में प्रथम पद की विशेष प्रकार से तीन बार आवृत्ति होती है जिसमें विलंबित, मध्य और द्रुत—इस क्रम से तीनों लयों का प्रयोग होता है। मागधी के उदाहरण में तीन पद हैं—देवं रुद्रं वंदे। इनमें से पहले पद 'देवं' की आवृत्ति हुई है। प्रस्तार में अकेले-अकेले स्वर दीर्घ रूप में (मा, गा आदि) अर्थात् गुरु काल में हैं और जहाँ दो-दो स्वर एकसाथ हैं वहाँ ह्रस्व रूप में (धनि, रिग आदि) यानी लघुकाल में दिए हैं। इसके अनुसार पहली कला में हर स्वराक्षर का काल १-१ गुरु का और दूसरी और तीसरी कलाओं में शिरोरेखा जुड़े हर स्वर का काल १-१ लघु के बराबर है। प्रत्येक कला (तालभाग) में ४-४ गुरु होने से इस उदाहरण को दक्षिण मार्ग तथा चतुष्कल ताल में समझना होगा। कल्लि० द्वारा प्रयुक्त 'चतुर्मात्रिकाः कलाः' में मात्रा का अर्थ गुरुमात्रा है।

कल्लि० ने प्रथम कला में चतुर्गुणित विश्रान्तिकाल, दूसरी कला में द्विगुण विश्रान्तिकाल और तीसरी कला में उन दोनों की अपेक्षा 'शीघ्रतम क्रियाविश्रान्ति' कही। यहाँ तृतीयकला की द्रुतलय की अपेक्षा से दूसरी और पहली कला में दुगनी और चौगुनी विश्रान्ति कही गई है। नीचे उदाहरण को फिर से देखने से यह स्पष्ट होगा।

मा	गा	मा	धा
दे		वं	
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
धनि	धनि	सनि	धा
दे	वं	रु	द्रं
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
रिग	रिग	मग	रिस
देवं	रुद्रं	वं	दे
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ

यहाँ 'देवं' के हर अक्षर का काल पहली कला में २-२ गुरु, दूसरी कला में १-१ गुरु और तीसरी कला में $\frac{१}{२}$ - $\frac{१}{२}$ गुरु है। इस प्रकार तीसरी कला की अपेक्षा दूसरी कला में दुगनी और पहली कला में चौगुनी विश्रान्ति होने से पहली, दूसरी, तीसरी कलाओं में क्रम से विलंबित, मध्य, द्रुत लय हैं।

मगध देश में उत्पन्न होने के कारण इस गीति की संज्ञा मागधी है, ऐसी निरुक्ति मतंग ने दी है (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० ११२)।

२. अर्धमागधीलक्षणम्

पूर्वयोः पदयोरर्धे चरमे द्विर्यदोदिते॥ १८॥

तदाऽर्धमागधीं प्राहुः,

यथा—

मा	री	गा	सा
दे		वं	
सा	सा	धा	नी
वं	रु	द्रं	
पा	धा	पा	मा
द्रं	वं	दे	

२. अर्धमागधी-लक्षण

१८ ग-१९ क (अ०) पूर्वयोः पदयोः पूर्व के दो पदों के चरमे अर्धे अन्तिम आधे (अंश) को यदा द्विः उदिते जब दो बार कहा जाता है तदा तब अर्धमागधीं प्राहुः अर्धमागधी कही जाती है। यथा जैसे।

(सर०) मागधी में पूरे पद की आवृत्ति होती है और अर्धमागधी में पद के अन्तिम आधे अंश की। यही दोनों में अन्तर है। उदाहरण में 'देवं' के अन्तिम आधे 'वं' की दूसरी कला में और दूसरी कला के 'रुद्रं' के अन्तिम आधे 'द्रं' की तीसरी कला में आवृत्ति हुई है।

द्विरावृत्तपदां परे।

यथा—

मा	मा	मा	मा
दे		वं	
धा	सा	था	नी
दे	वं	रु	द्रं
पा	निध	मा	मा
रु	द्रं	वं	दे

१९ ख. (अ०) परे अन्यों (के मत) में द्विः-आवृत्तपदां पदों की दो बार आवृत्ति वाली को (अर्धमागधी कहते हैं)। यथा जैसे।

(सर०) अर्धमागधी के उपर्युक्त दो उदाहरणों में यह अन्तर है कि पहले में अन्तिम पद के अन्तिम आधे की आवृत्ति है और दूसरे में पूरे अन्तिम पद की आवृत्ति है।

सिंह० ने इस अंश को संभाविता गीति से जोड़ कर व्याख्या की है। उसके अनुसार जिसमें दो बार आवृत्त होने वाले अन्य पद हों और गुरु अक्षरों की बहुलता से जो संक्षिप्त पद वाली हो वह संभाविता गीति है। लेकिन ग्रंथकार ने 'द्विरावृत्तपदां परे' कह कर अर्धमागधी का ही अलग से उदाहरण दिया है जिसकी पहली कला के पूरे पद 'देवं' की दूसरी कला में और दूसरी कला के अन्य पद 'रुद्रं' की तीसरी कला में आवृत्ति हुई है। ग्रंथकार ने संभाविता का अलग से उदाहरण दिया है।

मतंग ने इसे मागधी का भेद कहा है और यह भी स्पष्ट किया कि आवृत्ति में पदभंग होने से अर्थभंग होना, गीति की प्रधानता के कारण, दोष नहीं माना जाता। वेदों के गान में भी ऐसा होना दोष नहीं माना गया। इसलिए सामवेद से उत्पन्न संगीत में भी पदों की उक्त पुनरुक्ति या अर्ध-उक्ति दोष नहीं है (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० ११२)।

३. सम्भावितालक्षणम्

संक्षेपितपदा भूरिगुरुः सम्भाविता मता॥ १९॥

यथा—

धा	मा	मा	रिग
भ		क्त्या	
री	गा	सा	सा
दे		वं	
नी	धा	सा	नी
रु		द्रं	
धा	नी	मा	मा
वं		दे	

३. संभाविता-लक्षण

१९ ग-घ. (अ०) संक्षेपितपदा संक्षेप किए हुए पदों वाली भूरिगुरुः गुरु बहुल वाली सम्भाविता मता संभाविता मानी गई है।

यथा—जैसे।

(सर०) संभाविता में गुरु अक्षर ज्यादा होने से पद कम रहते हैं इसीलिए 'संक्षेपितपदा' कही गई है।

४. पृथुलालक्षणम्

भूरिलघ्वक्षरपदा पृथुला संमता सताम्।

यथा—

मा	गा	री	गा
सु	र	न	त
सा	धनि	धा	धा
ह	र	प	द
धा	सा	धा	नी
यु	ग	लं	
पा	निधप	मा	मा
प्र	ण	म	त

४. पृथुला-लक्षण

२० क-ख. (अ०) भूरिलघु-अक्षर पदा बहुल लघु अक्षर (युक्त) पदों वाली सतां विद्वानों के मत में पृथुला संमता पृथुला मानी गई है।

यथा जैसे।

(सर०) ग्रंथकार ने संभाविता और पृथुला गीतियों में केवल पदरचना से संबंधित लक्षण दिए हैं। सिंह० ने गीति कैसी हो यह भी बताया है। उसके अनुसार पहली कला में चारों पद गाकर, दूसरी कला में बीच के दो पदों को दो-दो बार गाना चाहिए।

तासां च तालाश्रितलक्षणानि

तत्र १. मागधीलक्षणम्

यद्वा यथाऽक्षरे युग्मे गुर्वोः प्रथमयोर्यदा॥ २०॥

एकैकं चित्रमार्गादि प्रयुज्य चगणात्मकम्।
मात्राभिरष्टभिर्युक्तं दक्षिणे ध्रुवकाऽऽदिभिः॥ २१॥

प्रयुज्यते तदा गीतिर्मागधीत्यभिधीयते।

उनके तालाश्रित-लक्षण

१. मागधी-लक्षण

२० ग-२२ ख. (अ०) यत् वा अथवा **यथा-अक्षरे युग्मे** यथाक्षर चच्चत्पुट में **यदा प्रथमयोः गुर्वोः** जब प्रथम दो गुरुओं में (से) **एक-एकं** एक-एक को **चित्रमार्गार्हं प्रयुज्य** चित्रमार्ग के योग्य (मात्राओं द्वारा) प्रयुक्त करके **चगणात्मकं** चार मात्रा वाले गण के रूप में (तथा) **दक्षिणे** दक्षिण (मार्ग) में **ध्रुवका-आदिभिः** ध्रुवका आदि **अष्टभिः मात्राभिः युक्तं** आठ मात्राओं से युक्त **प्रयुज्यते** प्रयोग किया जाता है **तदा** तब **मागधी गीतिः** मागधी गीति **इति अभिधीयते** इस प्रकार कही जाती है।

(सर०) चारों गीतियों के पदाश्रित लक्षण देकर तालाश्रित लक्षण भी दिए हैं। यथाक्षर ताल, ध्रुवका आदि क्रियाओं के लक्षण तालाध्याय में और चगण आदि मात्रिक गणों के लक्षण प्रबन्धाध्याय में दिए जायँगे। लेकिन यहाँ इतना जरूर समझ लेना चाहिए कि ताल के नाम में अक्षरों में जैसा लघु-गुरु क्रम हो ठीक उसके अनुरूप ताल की क्रियाएँ होने पर ताल का यथाक्षर रूप होता है। ध्रुवका आदि ताल में हाथ से की जाने वाली ८ प्रकार की क्रियाएँ हैं। निश्चित मात्रा संख्या के आधार पर बनने वाले समूह मात्रिक गण कहलाते हैं जिनमें से ४ मात्रा वाला गण चगण कहलाता है।

यहाँ मागधी गीति का तालाश्रित लक्षण दिया है। इसमें यथाक्षर चच्चत्पुट ताल की शुरू की दो गुरु कलाओं (ताल इकाइयों) में मागधी का और अन्तिम दो कलाओं में अर्धमागधी का प्रयोग होता है। मागधी में विशेष प्रकार से आवृत्ति होनी चाहिए। तदनुसार पहली बार दोनों गुरु कलाओं में चित्रमार्ग में यथाक्षर में प्रयोग होता है। इनमें ध्रुवका और पतिता—ये दो क्रियाएँ होती हैं। दूसरी बार इन दो गुरुओं को 'चगणात्मक' यानी हर गुरु को दुगना करके चतुर्मात्रिक बना दिया जाता है और तब ये कलाएँ वार्तिक मार्ग के आश्रित हो जाती हैं। इन चार मात्राओं में ध्रुवका, सर्पिणी, पताका और पतिता—इन ४ क्रियाओं का प्रयोग होता है। फिर उन गुरु कलाओं को चौगुना करके यानी हर गुरु को ८ लघु बना कर दक्षिण मार्ग के आश्रित करके उनमें ध्रुवकादि आठों क्रियाओं—ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता—का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इन दो गुरुओं की ताल के चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्ग के आश्रित होकर ३ बार आवृत्ति होती है इसलिए यह तालाश्रित मागधी गीति है। तालाश्रित मागधी का स्वरूप नीचे देखा जा सकता है—

मागधी

चित्रमार्गाश्रित

ताल	च		च च	
कला	ऽ		ऽ	
मान	।	।	।	।
क्रियाएँ	ध्रु०	पति०	ध्रु०	पति०
कलाविधि	सं		श	

वार्तिकमार्गाश्रित

।	।	।	।	।	।	।	।
ध्रु०	सर्पि०	पता०	पति०	ध्रु०	सर्पि०	पता०	पति०
सं				श			

दक्षिण मार्गाश्रित

।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
ध्रु०	सर्पि०	कृ०	पद्मि०	विस०	विक्षि०	पता०	पति०	ध्रु०	सर्पि०	कृ०	पद्मि०	विस०	विक्षि०	पता०	पति०
सं								श							

२. अर्धमागधीलक्षणम्

तृतीयं लघु युग्मस्य च्छगणार्धयुतं यदा॥ २२॥

आद्याभ्यामन्तिमाभ्यां च मात्राभ्यां संप्रयुज्यते।
ततः प्लुतं सार्धगणयुक्तं कृत्वा प्रयुज्यते॥ २३॥

ध्रुवकाऽऽदिभिरष्टाभिर्द्विरुक्तान्त्यद्वयेन च।
तदाऽर्धमागधी ते द्वे तद्वत्तालान्तरेष्वपि॥ २४॥

२. अर्धमागधी-लक्षण

२२ ग-२४ (अ०) युग्मस्य चच्चत्पुट का तृतीयकं लघुः तीसरा (अवयव) लघु यदा जब छगण-अर्धयुतं ६ मात्रा वाले गण के आधे से युक्त होने पर आद्याभ्याम् अन्तिमाभ्यां च मात्राभ्यां शुरू की दो और अन्तिम दो मात्राओं से संप्रयुज्यते सम्यक् रूप से प्रयुक्त किया जाता है, ततः उसके बाद (चौथे अवयव) प्लुतं प्लुत को सार्धगणयुक्तं कृत्वा छगण और उसके आधे गण से युक्त करके प्रयुज्यते प्रयुक्त किया जाता है (तथा इनमें) ध्रुवका-आदिभिः अष्टाभिः ध्रुवका आदि आठ (मात्राओं) के द्वारा द्विः उक्त-अन्त्यद्वयेन च और अन्तिम दो को दो-दो बार कहने पर तदा तब अर्धमागधी अर्धमागधी (गीति होती है)। ते द्वे वे दो (मागधी और अर्धमागधी) तद्वत् उसी प्रकार तालान्तरेषु-अपि अन्य तालों में भी (प्रयुक्त की जाती है)।

(सर०) यथाक्षर चच्चत्पुट की ऽ ऽ । ऽ́ कलाओं में से ऽ ऽ में मागधी गीति के प्रयोग की विधि के बाद अब शेष दो कलाओं । ऽ́ में अर्धमागधी के प्रयोग को दिखा रहे हैं। पदाश्रित अर्धमागधी में आधे शब्द की आवृत्ति होती है तद्वत् तालाश्रित अर्धमागधी में आधे गण की विशेष प्रकार से आवृत्ति होती है। लघु को 'छगणात्मक' यानी ६ मात्रा का बना कर उसके आधे गण यानी ३ मात्राओं को मूल लघु के साथ मिला देने से आधे गण की आवृत्ति भी हो जाती है और कला वार्तिक मार्गाश्रित चतुर्मात्रिक भी हो जाती है जिसमें ध्रुवका, सर्पिणी, पताका और पतिता का प्रयोग होता है। अन्तिम प्लुत, जो डेढ़ गण के बराबर है, को भी इसी तरह छगणात्मक बना कर उसका आधा अर्थात् ९ मात्राओं में प्लुत की ३ मात्रा मिलाकर मूल को चौगुना करके प्लुत को दक्षिण मार्गाश्रित कर दिया जाता है। इन १२ मात्राओं में क्रम से आठों का प्रयोग और फिर पताका पतिता की आवृत्ति की जाती है। यहाँ लघु और प्लुत दोनों चौगुने हो जाते हैं इसलिये यह दक्षिण मार्गाश्रित होता है। नीचे इसका स्वरूप दिया गया है।

अर्धमागधी

		तु		टः					
		।			ऽ́				
		।		।	।	।			
		ता			श				
वार्तिक		मार्गाश्रित		दक्षिण		मार्गाश्रित			
।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
				ध्रु०	सर्पि०	कृ०	पद्मि०	विस०	विक्षि०
				।	।	।	।	।	।
				पता०	पति०	पता०	पति०	पता०	पति०

३. संभावितालक्षणम्

संभाविता भूरिगुरुर्द्विकले वार्तिके पथि।

३. संभाविता-लक्षण

२५ क-ख. (अ०) द्विकले द्विकल (चच्चत्पुट) में वार्तिके पथि वार्तिक मार्ग में भूरिगुरुः बहुल गुरु वाली संभाविता संभाविता (होती है)।

४. पृथुलालक्षणम्

चतुष्कले भूरिलघुर्दक्षिणे पृथुला मता॥ २५॥

इति प्रथमे स्वरगताध्यायेऽष्टमं गीति प्रकरणम्॥ ८॥

४. पृथुला-लक्षण

२५ ग-घ. (अ०) चतुष्कले चतुष्कल (चच्चत्पुट) में दक्षिणे दक्षिण (मार्ग) में भूरिलघुः भूरि लघुओं वाली पृथुला मता पृथुला मानी गई है।

इति श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढल-
देवनन्दननिःशङ्कश्रीशार्ङ्गदेवविरचिते संगीतरत्नाकरे
स्वरगताध्यायः प्रथमः।

श्रीमत् अनवद्य-विद्याविनोद श्रीकरणाधिपति
श्रीसोढलदेवनन्दन निःशङ्क श्रीशार्ङ्गदेव द्वारा विरचित
संगीतरत्नाकर का प्रथम
स्वरगताध्याय समाप्त।

*

परिशिष्ट—क
सारणाविधि

भारतीय संगीत में श्रुति का सिद्धान्त आधारशिला के समान है। एक स्थान में २२ श्रुतियों को सिद्ध करने के लिये भरत ने जो विधि बताई वह सरल, स्वतःपूर्ण और वैज्ञानिक है। इसे क्रियात्मक रूप से करने पर श्रुतिसंख्या के अलावा श्रुति और स्वर संबंधी कई तथ्य स्पष्ट होते हैं। लेकिन यह केवल सैद्धान्तिक चर्चा का विषय नहीं है बल्कि क्रियात्मक विधि अथवा प्रक्रिया है इसीलिए भरत ने इसे 'निदर्शन' कहा। इस विधि को बाद के ग्रंथकारों के द्वारा 'सारणाचतुष्टय' या 'चतुःसारणा' भी कहा गया।

सारणाविधि के बारे में निम्न तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए—

१. ना०शा० संक्षिप्त ग्रंथ है इसलिये दूसरे विषयों की तरह सारणा की विधि भी बहुत संक्षेप में कही गई है। सं०र० की तत्संबन्धी भाषा और निरूपण का ढंग कुछ भिन्न ज़रूर है लेकिन प्रयोजन और परिणाम एक जैसे हैं।

२. यह 'निदर्शन' है यानी क्रियात्मक रूप से करने (demonstration) की विधि है, सिर्फ़ शब्दों से समझने या समझाने की नहीं। क्रियात्मक रूप से किए बिना इसे समझना असंभव है। इस विधि और उसके परिणामों के बारे में फैली भ्रान्तियों का कारण यही है कि इसे करके नहीं देखा गया।

३. भरत, मतंग और शार्ङ्गदेव ने इस विधि को स्पष्ट करने के लिए जिन विशेष शब्दों का प्रयोग किया उनका व्याकरण के नियमों, प्रयोग के सन्दर्भों और क्रिया के वांछित परिणामों को ध्यान में रखकर ही अर्थ लगाना उचित है। मनमाना अर्थ करके मूल अभिप्राय को तोड़ना-मरोड़ना ठीक नहीं है।

४. सारणा प्रक्रिया बुधजनों यानी स्वरसंवाद के ज्ञान से सम्पन्न व्यक्तियों के लिये है, स्वरज्ञानविहीन व्यक्तियों के लिए नहीं। इस विधि के अधिकारी वे ही हैं जो कान से सुन कर स्वरसंवाद को समझ सकते हों और उन संवादों के आधार पर स्वरों की स्थापना कर सकते हों।

'सारणाचतुष्टय' का अर्थ

सारणा शब्द 'सरकाना' अर्थ वाली 'सृ' धातु (सृ सरणे) से णिच् + युच् + टाप् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। संगीत में इस शब्द का अर्थ, विशेष रूप से इस प्रक्रिया के संदर्भ में, 'सरकाना' या 'यथास्थान स्थापित करना' है, केवल उतारना नहीं। सारणा करते समय तारों को उतारना ही नहीं चढ़ाना भी पड़ता है।

'चतुष्टयं' शब्द चतुः + तयप् से बनता है जिसका अर्थ है 'चत्वारः अवयवाः इति चतुष्टयं' अर्थात् जिसके चार अवयव हैं। यानी जो चार का समूह है वह चतुष्टय हुआ। सारणाविधि में सारणा की क्रिया चार के समूह में ही पूरी होती है, उनमें से किसी अकेली में या हरेक में स्वतंत्र रूप से नहीं। इसीलिये इस प्रक्रिया को सारणाचतुष्टय या चतुःसारणा कहा जाता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि इस प्रक्रिया में वीणा पर षड्जग्रामिक स्वरों की स्थापना को भी एक सारणा मान कर अभिनव ने 'सारणापञ्चक' कहा है (अभि०, खण्ड ४, पृ० २२, पं० २४-२५)

सारणा-संबंधी समस्याएँ

सारणा के बारे में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से १९वीं-२०वीं सदी के लेखकों के सामने निम्न समस्याएँ रही हैं—

१. पहली सारणा शुरू करने से पहले वीणा पर षड्जग्राम के स्वर कैसे स्थापित किए जायँ?

२. प्रथम सारणा में पंचम को मध्यमग्रामिक बनाने के लिए किस विधि से अथवा कितना उतारा जाय?

३. दूसरी, तीसरी और चौथी सारणाओं में अपकर्ष कहाँ से शुरू किया जाय?

४. दो वीणाओं का क्या उपयोग अथवा ज़रूरत है?

५. 'प्रमाणश्रुति' का अर्थ क्या है?

६. भरत के 'श्रुतिनिदर्शन' में प्रयुक्त 'पुनरपि', 'तद्वदेव' और 'यथा' शब्दों का सही अथवा संदर्भप्राप्त अर्थ क्या है?

७. एक स्थान के अन्तर्गत श्रुतियों की २२ संख्या सिद्ध करने के अलावा सारणा का और भी कोई प्रयोजन है क्या?

भरत, मतंग या शार्ङ्गदेव ने इनके बारे में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा इसलिये ये समस्याएँ बनी रही हैं। इस परिशिष्ट में इन सभी शंकाओं और समस्याओं का समाधान किया जायगा।

यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि, अभिनव के अनुसार, भरत की दोनों वीणाएँ एक स्थान में सात स्वरों के लिये ७-७ तारों वाली हैं। लेकिन शार्ङ्गदेव की वीणाओं में २२ श्रुतियों के लिए २२-२२ तार हैं। मतंग ने तारों की संख्या का उल्लेख तो नहीं किया है लेकिन भरत के शब्दों का ही आधार लिया है इसलिये यह समझा जा सकता है कि उसे भी ७-७ तारों वाली वीणा ग्राह्य है। षड्जग्राम के स्वर स्थापित करते समय यह याद रखना चाहिए कि भरत के ७ स्वर सातों तारों पर स्थापित हो जायँगे लेकिन शार्ङ्गदेव के सात स्वर अपनी-अपनी आधारश्रुति की संख्या के सूचक तारों पर स्थित होंगे। साथ ही सारणाओं में अपकर्ष करने के लिए भरत की वीणा में हर बार सातों तारों पर क्रिया होगी जबकि शार्ङ्गदेव की सारणाओं में क्रमशः पिछले-पिछले तारों पर ध्वनियाँ मिला कर श्रुतियाँ सिद्ध की जायँगी।

भरत की वीणा में ७ ही तार होने के कारण एक सारणा करने के बाद अगली सारणा करने पर पिछली सारणा के स्वरों के नष्ट हो जाने से पिछली सारणा की श्रुतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं इसलिये अन्त में एक क्रम से २२ श्रुतियों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस सारी विधि और उसके परिणामों का आँखों से भी प्रत्यक्ष हो सके इस दृष्टि से शार्ङ्गदेव ने २२ तारों वाली वीणा पर प्रक्रिया बताई। इस परिशिष्ट में २२ तारों के अनुसार ही विधि को स्पष्ट किया जायगा।

वीणाओं को षड्जग्रामाश्रित करने का उपाय

वीणाओं पर षड्जग्राम के स्वर कैसे स्थापित किए जायँ इसका निरूपण शास्त्रकारों ने नहीं किया। इसका मुख्य कारण यह है कि उस काल में अपने आधार स्वरों को संगीतज्ञ उसी तरह सहज रूप से स्थापित करते रहे होंगे जिस तरह वर्तमान स्वरों को सरलता से स्थापित कर लिया जाता है, उन्हें स्थापित करने की विधि बताने की ज़रूरत नहीं होती। एक कारण यह भी हो सकता है कि मध्ययुग की राजनैतिक परिस्थितियों में अनधिकारी व्यक्तियों के हाथों में विद्या को न जाने देने की दृष्टि से ग्रंथकार रहस्य की बातों में ऐसी गुत्थियाँ रख देते थे जिन्हें मर्मज्ञ तो हल कर लें लेकिन अपात्र न समझ सकें। लेकिन वर्तमान समय में षड्जग्राम के स्वर प्रयोज्य न होने और आज के आधार स्वर उनसे काफ़ी भिन्न होने के कारण प्राचीन स्वरों को सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये आज ये स्वर किस प्रकार स्थापित या प्राप्त किए जायँ इसकी विधि यहाँ दी जा रही है।

षड्जग्राम में षड्ज-पंचम, ऋषभ-धैवत, गांधार-निषाद और षड्ज-मध्यम तथा मध्यमग्राम में षड्ज-पंचम के स्थान पर ऋषभ-पंचम का संवाद है। षड्जग्राम के स्वरों की श्रुतिसंख्या इस प्रकार कही गई—षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति, गांधार द्विश्रुति, मध्यम चतुःश्रुति, पंचम चतुःश्रुति, धैवत त्रिश्रुति और निषाद द्विश्रुति।

भरत की संवादी स्वरजोड़ियों के साथ इसे मिलाकर देखने से यह समझ में आ जायगा कि षड्जग्राम के स-प, रि-ध, ग-नि में षड्ज-पंचम भाव है और स-म में षड्ज-मध्यम भाव। म-नि में ९ श्रुतियों का अन्तर होने से स-म भाव है और म-ध में ७ श्रुत्यन्तर होने के कारण षड्ज और अन्तर गांधार का संबंध है, इसमें संदेह नहीं है। मध्यम के तार से स्वयंभू ध्वनि के रूप में उत्पन्न होने वाली ध्वनि प्राचीनों का धैवत है। इस मध्यम को षड्ज मान लेने पर वह धैवत इसका अन्तर गान्धार बन जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि म-ध में वही सप्तश्रुति अंतर है जो षड्ज और अन्तर गान्धार में है। इस तथ्य की पुष्टि भरत के 'धैवतीकृते गान्धारे' के द्वारा होती है जिसमें षड्जग्राम के गांधार को दो श्रुति चढ़ा कर अंतर गांधार बनाने से स-ग ही म-ध बन जाता है।

यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि संवादी स्वरजोड़ियाँ भरत ने षड्जादि सात स्वरों के समूह यानी एक स्थान या सप्तक के अन्तर्गत ही कही हैं, दूसरे स्थान में जाने की कोई जरूरत नहीं है, न ही यह भरत को अभीष्ट है अन्यथा स-प संवाद पर आधारित जोड़ियों में म-स को भी गिनाया होता। भरत के स्वर एक सप्तक के भीतर ही षड्ज-पंचम, षड्ज-मध्यम या सप्तश्रुत्यन्तर षड्जान्तर भाव के आधार पर मिल जाते हैं। इसके लिये किसी अन्य प्रक्रिया का सहारा लेने की जरूरत नहीं होती। हालाँकि शास्त्रग्रन्थों में कहीं षड्जान्तर संवाद का उल्लेख नहीं है, न इस संज्ञा का कहीं प्रयोग हुआ है लेकिन ऊपर उल्लिखित 'धैवतीकृते गान्धारे' के द्वारा म-ध और स-ग का समभाव सिद्ध है। आज यह प्राकृतिक रूप से प्राप्त संवाद के रूप में जाना जाता है।

षड्जग्रामिक स्वरों की स्थापना की दृष्टि से स्वरजोड़ियों के निम्नलिखित क्रम और भरतोक्त श्रुत्यन्तरों पर ध्यान देना चाहिए—

स—प	१३ श्रुत्यन्तर	ग—नि	१३ श्रुत्यन्तर
स—म	९ श्रुत्यन्तर	म—ध	७ श्रुत्यन्तर
म—नि	९ श्रुत्यन्तर	रि—ध	१३ श्रुत्यन्तर

स्वरों को स्थापित करने के लिए स्वरों का क्रम, उनके संवादी श्रुत्यन्तर और तारों पर उनकी स्थिति इस प्रकार होगी—

स्वर	संवादी श्रुत्यन्तर	संवाद	तारों की संख्या	
			शार्ङ्गदेव के अनुसार	भरत के अनुसार
स	—	—	४	१
प	स से १३ श्रुति	षड्ज-पंचम	१७	५
म	स से ९ श्रुति	षड्ज-मध्यम	१३	४
नि	म से ९ श्रुति	षड्ज-मध्यम	२२	७
ग	नि से १३ श्रुति (उल्टे क्रम से)	षड्ज-पंचम	९	३
ध	म से ७ श्रुति	षड्ज-अं० गान्धार	२०	६
रि	ध से १३ श्रुति (उल्टे क्रम से)	षड्ज-पंचम	७	२

ऊपर स्वर जिस क्रम में दिए हैं उसी क्रम से उन्हें स्थापित किया जायगा। यहाँ से सारणाविधि में सर्वत्र शार्ङ्गदेव के अनुसार तारों की संख्या बताई जायगी। अगर भरत के तारों की संख्या देखनी हो तो ऊपर की सारिणी में देख कर समझ लेनी चाहिए।

चौथे तार की ध्वनि को स मानकर षड्ज स्थापित करें। इस षड्ज से सत्रहवें तार पर पंचम और तेरहवें तार पर मध्यम स्थापित होगा। मध्यम को षड्ज मान कर स-म भाव से २२वें तार पर उसका मध्यम स्थापित करने से मूल सप्तक का निषाद मिल जायगा। इस निषाद को पंचम मानकर उल्टे क्रम से स-प भाव के आधार पर नवें तार पर उस पंचम का षड्ज स्थापित करने से मूल सप्तक का गान्धार प्राप्त हो जायगा। तेरहवें तार पर स्थित मध्यम को षड्ज मान कर बीसवें तार पर उसका अन्तर गान्धार स्थापित करने पर वह मूल सप्तक का धैवत बन जायगा। अन्त में इस धैवत को पंचम मानकर उल्टे क्रम में स-प भाव से सातवें तार पर षड्ज-स्थापित करने से वह मूल सप्तक का ऋषभ बन जायगा। इस तरह वीणा के चौथे, सातवें, नवें, तेरहवें, सत्रहवें, बीसवें और बाईसवें तारों पर क्रम से षड्जग्रामिक स रि ग म प ध नि स्थित हो जायँगे। यह प्रक्रिया नीचे की सारिणी से स्पष्ट होगी।

तारसंख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२
स्वरों के स्थान				स			रि		ग				म				प			ध		नि

स्वरों की स्थापना का क्रम व आधार-भूत श्रुति-अन्तराल

(१) स ——————→ (२) प
त्रयो० श्रुत्यन्तर संवाद

स ——————→ (३) म
नव० श्रुत्य० संवाद

स ——————→ (४) म
(गृहीत) नव० श्रुत्यं० संवाद प्राप्तस्वर नि

(५) स ←—————— प
प्राप्त स्वर ग त्रयो० श्रुत्यं० संवाद (गृहीत)

स ——————→ (अं०) (६) ग
(गृहीत) सप्त श्रुत्य० संवाद प्राप्त स्वर ध

(७) स ←—————— प
प्राप्त स्वर रि त्रयो० श्रुत्यं० संवाद (गृहीत)

पंचम के अपकर्ष का प्रमाण

इस संबंध में ना०शा० का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें दोनों ग्रामों के पंचम का भेद स्पष्टतः कहा गया है—

संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च।
षड्जग्रामे तु षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च॥ (ना० शा०, २८/२३)

इसमें कहा गया है कि मध्यमग्राम में पंचम का संवाद ऋषभ से होता है और षड्जग्राम में षड्ज से। कुछ आगे चल कर यह कहा—'*तयोरन्यतरस्यां पञ्चमस्यापकर्षे श्रुतिं मध्यमग्रामिकीं कृत्वा.......*' (वही, पृ० २०)। अर्थात् पंचम का अपकर्ष करके मध्यमग्रामिकी श्रुति कर लेनी चाहिए। स्पष्ट है कि अगर वीणा पर स्थापित पंचम को इतना उतार दें जिससे वह ऋषभ के साथ संवाद करने लगे तो वह पंचम मध्यमग्रामिक बन जायगा। इसके लिए शार्ङ्गदेव की चलवीणा के १६वें तार को ऐसी ध्वनि में मिलाना होगा जो ध्रुववीणा के ७वें तार पर स्थित ऋषभ के साथ स-म भाव से संवाद करे। इससे १७वें तार पर स्थित षड्जग्रामिक पंचम एक श्रुति उतर कर मध्यमग्रामिक बन कर १६वें तार पर स्थापित हो जायगा। यह अन्तर या प्रमाण इस सारणा में अन्य स्वरों को उतारने का भी आधार है।

अन्य सारणाओं में अपकर्ष आरंभ करने का स्थान

ना०शा० के निम्न अंश में दूसरी, तीसरी और चौथी सारणाओं के अपकर्ष के आरंभक स्थान का संकेत है—

पुनरपि तद्वदेवापकर्षेत्, यथा गान्धारनिषादवन्तावितरस्यामृषभधैवतौ प्रवेक्ष्यतः द्विश्रुत्यधिकत्वात्। पुनरपि तद्वदेवापकृष्टायां धैवतर्षभावितरस्यां पञ्चमषड्जौ प्रवेक्ष्यतः त्रिश्रुत्यधिकत्वात्। तद्वत्पुनरपकृष्टायां पञ्चममध्यमषड्जा इतरस्यां मध्यमगान्धारनिषादान् (दवन्तः) प्रवेक्ष्यन्ति चतुःश्रुत्यधिकत्वात्। (वही, पृ० २०)

अर्थ यह है कि (दूसरी सारणा में) फिर से उसी प्रकार या उसी रीति से अपकर्ष करना चाहिए जिससे चलवीणा के 'गान्धार-निषादवान्', दो श्रुति अधिक होने के कारण, दूसरी यानी ध्रुववीणा के ऋषभ-धैवत में प्रविष्ट हो जायँ। उसी प्रकार फिर से (तीसरी सारणा में) अपकृष्ट की हुई चलवीणा के धैवत और ऋषभ, त्रिश्रुति अधिक होने के कारण, ध्रुववीणा के पंचम में प्रविष्ट हो जायँगे। उसी प्रकार फिर से अपकृष्ट हुई चलवीणा के पंचम, मध्यम और षड्ज, ४-४ श्रुति अधिक होने के कारण, ध्रुववीणा के मध्यम, गान्धार और निषाद में प्रविष्ट हो जायँगे। इसमें यह संकेत है कि दूसरी सारणा में अपकर्ष नि से, तीसरी में ध से और चौथी में प से शुरू किया जाय। ऐसा करने पर ही ये स्वर पूर्ववर्ती स्वरों में मिल सकते हैं अन्यथा नहीं। यदि हर बार पंचम से ही सारणा शुरू की जाय तो उपर्युक्त परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते और उस स्थिति में चार सारणाओं में श्रुतियों की २२ संख्या भी सिद्ध नहीं हो सकती।

ऊपर के उद्धरण में 'गान्धारनिषादवन्तौ' में 'वन्तौ' 'वान्' का प्रथमा विभक्ति में द्विवचन रूप है जिसका प्रयोग 'वाला' अर्थ में हुआ है। इसलिये अर्थ यह है कि गान्धारत्व-निषादत्व वाले स्वर ऋषभ-धैवत में मिल जाते हैं। पहली सारणा करने के बाद मूल गान्धार-निषाद एक-एक श्रुति उतर जाते हैं इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि ये वही गान्धार-निषाद हैं। लेकिन इनमें वही दूरी अथवा संबंध रहता है जो मूल गान्धार-निषाद में था इसलिये इनमें भी गान्धार-निषाद का स्वरूप बना रहता है इसीलिये 'गान्धारनिषादवान्' कहा है। इन्हीं का ऋषभ-धैवत में मिलना अपेक्षित है।

मतंग ने भरत के ही शब्दों में अपनी ओर से कुछ शब्द जोड़ दिए हैं जिससे सारणा विधि ज्यादा स्पष्ट हुई है। भरत के 'गान्धारनिषादवान्' के संदर्भ में उसने कहा—'*पुनरपि तद्वदेवापकर्षयेत् यथा गान्धारनिषादौ कर्तारौ पुनरन्यतरस्यां स्थिरवीणायां धैवतर्षभौ कर्मतामापन्नौ प्रवेक्ष्यतः*' (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० ८)। अर्थात् फिर से उसी प्रकार अपकर्ष करना चाहिए जिससे कर्तारूप गांधार-निषाद दूसरी स्थिर (ध्रुव) वीणा में ऋषभ-धैवत में कर्मता को प्राप्त होकर प्रविष्ट हो जाते हैं। यहाँ कर्तारूप गांधार-निषाद ऋषभ-धैवत में कर्म बन जाते हैं। कर्ता की अपेक्षा से क्रिया की जाती है किसी अन्य की अपेक्षा से नहीं। इसलिये

मतंग के इस कथन के द्वारा भी यही सूचित होता है कि निषाद-गांधार से ही क्रिया को शुरू करना चाहिए, किसी अन्य स्वर से नहीं।

इस अंश के स्पष्टीकरण के लिए अभिनवगुप्त की टीका बहुत सहायक है। दूसरी सारणा पर टीका इस प्रकार है—

पुनरपि च तद्वदेवापकर्षेदिति चलवीणायां पञ्चमोपक्रमं सर्वस्वराणामेकां श्रुतिं पातयेत् येषु चलवीणागतौ गान्धारनिषादौ ध्रुववीणागताभ्यां धैवतर्षभाभ्यां समस्थानतयापकर्षत्वं गच्छतः यतो ध्रुवकवीणायां द्वाभ्यां श्रुतिभ्यां सर्वे स्वरा अधिकाः। एवं धैवतवैलक्ष्येण गान्धारनिषादयोरन्यवीणागतधैवतर्षभसाम्यं जायते। तदेव श्रुतिरित्युक्तं भवति। (अभि०, चतुर्थ खण्ड, पृ० २३)। अर्थात् 'फिर से उसी प्रकार अपकर्ष करना चाहिए' का अर्थ यह है कि पंचम के उपक्रम से सब स्वरों की एक-एक श्रुति कम कर देनी चाहिए जिन स्वरों में चलवीणा के ग-नि ध्रुववीणा के ऋषभ-धैवत से मिल जाने के कारण अपकर्ष को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि ध्रुववीणा में सभी स्वर दो-दो श्रुति अधिक हैं। इस प्रकार धैवत की विलक्षता (अनोखेपन या वैशिष्ट्य अथवा क्रम) के द्वारा निषाद और गान्धार का दूसरी यानी ध्रुववीणा के ऋषभ और धैवत से साम्य हो जाता है। इसी को श्रुति कहा जाता है।

यहाँ धैवत की विलक्षता या क्रम के द्वारा नि-ग के ध-रि में मिलने का स्पष्ट उल्लेख इस सारणा की प्रथम क्रिया के आरंभक स्थान को सूचित करता है। इसलिये दूसरी सारणा का आरंभ धैवत में निषाद को मिलाने की क्रिया से होना चाहिए। लेकिन टीका के शुरू के अंश में प्रयुक्त 'पञ्चमोपक्रमं' बाधक बनता है। इस पद का अर्थ है 'पंचम के उपक्रम से' जो क्रम का आरंभ करने के अर्थ में आता है। अगर दूसरी सारणा पंचम से ही शुरू की जाय तो वांछित परिणाम यानी नि-ग का ध-रि में मिलना, प्राप्त नहीं होता। हमारी दृष्टि में 'पञ्चमोपक्रमं' प्रक्षिप्त अंश है क्योंकि धैवत की विशिष्टता के आधार पर क्रिया करने का जो उल्लेख अभिनव ने किया है उसके साथ इस अंश की संगति नहीं बैठती। अथवा संभवतः 'पञ्चमोपक्रमं' के स्थान पर 'पञ्चमापक्रमं' पाठ रहा हो। 'अपक्रम' का अर्थ है क्रमरहित या भिन्नक्रमवाला। तदनुसार 'पञ्चमापक्रमं' का अर्थ हुआ 'पंचम से भिन्न क्रम से' या 'पंचम के क्रम से रहित'। आगे धैवत की विलक्षणता से क्रिया करने की बात कही है इसलिये पंचम के क्रम का विशेष रूप से निषेध करने के लिये 'पञ्चमापक्रमं' कहा हो, यह संभव है, यद्यपि अभिनवगुप्त जैसे आचार्य के लिए यह असाधारण (अनावश्यक) प्रयोग ही कहा जायगा। हमारी दृष्टि में इसे प्रक्षिप्त मान कर उद्धृत अंश में से छोड़ना आवश्यक है।

तीसरी सारणा के बारे में अभिनव का कथन है—

पुनरपि चलवीणायां श्रुतिर्यदापकृष्यते सर्वस्वरेभ्यस्तदा चलवीणागतौ धैवतर्षभौ ध्रुववीणागताभ्यां पञ्चमषड्जाभ्यां यथाक्रमं साम्यं गच्छतः। (वही)

अर्थात् फिर से जब चलवीणा में स्वरों से श्रुति का अपकर्ष किया जाता है तब चलवीणा के धैवत-ऋषभ का ध्रुववीणा के पंचम-षड्ज से यथाक्रम साम्य हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ धैवत से क्रिया शुरू की जायगी, पिछली सारणाओं की तरह पंचम या निषाद से नहीं। ऐसा करने पर चलवीणा का धैवत पंचम में प्रविष्ट हो जाता है।

चतुर्थ सारणा पर अभिनव ने कहा—

त्रयो (ततोऽ) ध्रुववीणायां सर्वस्वरेभ्यः श्रुतिमवकर्षणेन तद्गताः पञ्चममध्यमषड्जा ध्रुववीणागतैर्यथाक्रमं मध्यमगान्धारनिषादैः स्थानसाम्यं मिलन्ति। (वही)

अर्थात् इसके बाद अध्रुव (चल) वीणा में सब स्वरों से एक श्रुति का अवकर्षण करने से उस वीणा के पंचम-मध्यम-षड्ज यथाक्रम ध्रुववीणा के मध्यम-गांधार-निषाद के साथ स्थानसाम्य होने से मिल जाते हैं। यहाँ पिछली सारणा से भिन्न स्थान से यानी पंचम से अपकर्ष प्रारंभ करना है। ऐसा करने से पंचम मध्यम में मिल जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार सारणाओं में अपकर्ष की क्रिया की शुरूआत क्रमशः पंचम, निषाद (या गांधार), धैवत (या ऋषभ) और पंचम (या मध्यम या षड्ज) से होती है।

शार्ङ्गदेव के अनुसार प्रत्येक सारणा में सब स्वरों को एक-एक श्रुति उतारने के लिये उन्हें पूर्व-पूर्व तारों पर स्थापित किया जाता है। इसके अनुसार दूसरी सारणा में ग-नि क्रम से रि-ध के ७वें और २०वें तारों पर आने वाले ही हैं। लेकिन अगर पिछली सारणा की तरह फिर से पंचम का ही अपकर्ष किया जाय तो ग-नि ऋषभ-धैवत में मिलते नहीं, उनसे बहुत ऊँचे रहते हैं। इसलिये यह निश्चित है कि अपकर्ष की क्रिया पंचम से शुरू नहीं की जा सकती। इसीलिये विशेष रूप से यह कहा गया कि स्वरों को इस तरह उतारा जाय जिससे गांधार-निषाद ध्रुववीणा के ऋषभ-धैवत में मिल जायँ। इसके लिये ग-नि को उतना उतारना होगा जिससे ध्रुववीणा के रि-ध ही चलवीणा के ग-नि बन जायँ अर्थात् चलवीणा के ७वें और २०वें तारों पर स्थित रि-ध की ध्वनियों को ही दूसरी सारणा में ग-नि कहा जायगा।

इसी तरह रि-ध, जो दूसरी सारणा में ५वें और १८वें तारों पर स्थित हुए, तीसरी सारणा में एक श्रुति उतरने पर चौथे और १७वें तारों पर आने ही वाले हैं फिर भी यह कहा कि उन्हें इस तरह उतारा जाय कि वे ध्रुववीणा के स-प में मिल जायँ क्योंकि पंचम से अपकर्ष करने पर वांछित परिणाम नहीं आता। स्पष्ट है कि इस सारणा की प्रथम क्रिया पिछली दोनों सारणाओं से भिन्न है।

इसी तरह स-म-प, जो तीसरी सारणा में पहले, दसवें और चौदहवें तारों पर स्थित थे, चौथी सारणा में एक-एक श्रुति उतरने पर क्रमशः २२वें, ९वें और १३वें तारों पर आते हैं लेकिन पिछली सारणा की तरह धैवत से अपकर्ष शुरू करने पर यह परिणाम नहीं आता। इसीलिए विशेष रूप से यह कहा कि प-म-स को इस तरह उतारा जाय कि वे क्रम से म-ग-नि में मिल जायँ।

हर सारणा को पंचम से शुरू करने से अभीष्ट सिद्ध न होने की जो बात ऊपर कही गई है उसे एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। 'सेवर्ट' की भाषा में कहें तो एक सप्तक को बिल्कुल बराबर के ३०१ भागों में बाँटे तो चतुःश्रुति, त्रिश्रुति और द्विश्रुति स्वरों का नाप क्रमशः लगभग ५१, ४६ और २८ सेवर्ट के बराबर होता है। प्रथम सारणा के अपकर्ष का नाप ५ सेवर्ट है। अगर हर बार पंचम से ही अपकर्ष शुरू करें तो हर बार ५-५ सेवर्ट का ही अपकर्ष होगा और चार सारणाओं में कुल मिला कर चतुःश्रुति स्वर में २० सेवर्ट का ही अपकर्ष होगा जबकि चतुःश्रुति स्वरों को पिछले-पिछले स्वरों में मिलने के लिये ५१ सेवर्ट उतरना पड़ता है। पंचम से ही अपकर्ष करें तो ४ के स्थान पर १० सारणा करनी होंगी और फिर भी स्वर पूर्ववर्ती स्वर में मिल नहीं सकेंगे। तीसरे, ऐसा होने पर चतुःश्रुति स्वरों में ४ के बजाय लगभग १०-१० श्रुतियों की कल्पना करनी होगी जो वांछनीय नहीं है। ऐसी स्थिति में चतुःसारणा निष्प्रयोजन सिद्ध होगी।

इसी तरह त्रिश्रुति स्वरों में भी ५ सेवर्ट का अपकर्ष होने से तीन सारणाओं में केवल १५ सेवर्ट का ही अपकर्ष होगा, पिछले स्वरों में मिलने के लिए कम से कम ९ सारणा करनी होंगी, फिर भी वे पूर्ववर्ती स्वरों में नहीं मिलेंगे और उन स्वरों में ३ के बजाय ९-९ श्रुतियाँ माननी होंगी।

द्विश्रुति स्वरों में भी २८ सेवर्ट के कुल अपकर्ष के स्थान पर १० सेवर्ट का ही अपकर्ष होगा, कम से कम ५ सारणा करने पर भी वे स्वर पूर्ववर्ती स्वरों में नहीं मिलेंगे और उन स्वरों में २ के बजाय ६-६ श्रुतियाँ माननी होंगी।

इससे यह प्रमाणित होता है कि सारणा की एक निश्चित और सिद्ध प्रक्रिया है और उसके द्वारा श्रुतियों के क्रम, नाप और संख्या को सिद्ध किया जा सकता है।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि सारणा प्रक्रिया में हर सारणा की पहली क्रिया भिन्न है और उनके परिणाम भी भिन्न हैं। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि सारणा की विधि, प्रयोजन, श्रुतियों के माप आदि आचार्यों के लिए बिल्कुल स्पष्ट थे और चार सारणाओं में भिन्न नाप वाली २२ श्रुतियों को सिद्ध करना उनका मूल प्रयोजन था।

दो वीणाओं का प्रयोजन

जिस वीणा में सारणाक्रिया की जायगी उसके लिए भरत ने सर्वत्र 'अन्यतरस्यां' शब्द का प्रयोग किया है और दूसरी वीणा के लिए 'इतरस्यां' का। इनके द्वारा यह संकेत दिया गया है कि एक में स्वरों का अपकर्ष किया जायगा और दूसरी वीणा पहली वीणा के परिणामों की तुलना करके उनकी जाँच करने के लिये होगी। जिसे जाँचा जाता है उसमें परिवर्तन किए जा सकते हैं लेकिन जिसके आधार पर जाँचा जाता है वह प्रमाणभूत होने के कारण स्थिर, अचल या अपरिवर्तनीय होता है। इसलिए जिस वीणा में श्रुतियों को जाँचना-परखना है उसमें परिवर्तन किए जायँगे और दूसरी में तारों पर एक बार क्रिया करने के बाद उन तारों की ध्वनियाँ अचल रहेंगी और उनमें फिर कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। इसीलिए यह 'ध्रुव' या 'अचल' कही गई। शार्ङ्गदेव की तीसरी और चौथी सारणाओं में वांछित स्वर प्राप्त करने के लिए चलवीणा में दो-दो तारों को फिर से मिलाना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उन तारों पर पहले से स्थापित स्वर नष्ट हो जाते हैं। अगर एक ही वीणा हो तो पिछली क्रियाओं के नष्ट हो जाने पर उन्हें बाद वाली क्रियाओं के साथ मिलाकर जाँचना-परखना संभव नहीं है जो 'निदर्शन' के लिए अनिवार्य है। इसीलिए दो वीणाओं की अनिवार्यता है। शार्ङ्गदेव ने स्पष्टतः दो वीणाओं को 'चलवीणा' और 'ध्रुववीणा' कहा है। मतंग ने चलवीणा शब्द का प्रयोग करते हुए 'इतरस्यां' और 'स्थित' या 'स्थिर' के द्वारा ध्रुववीणा का ही संकेत दिया है।

प्रमाणश्रुति

ना०शा० में यह शब्द है और उसके दो पाठ मिलते हैं, एक बंबई संस्क० में और दूसर बड़ौदा संस्क० में। पाठ इस प्रकार हैं—

पञ्चमश्रुत्युत्कर्षादपकर्षाद्वा यदन्तरं मार्दवायतत्वाद्वा तत्प्रमाणश्रुतिः। (ना० शा०, अ० २८, बंबई संस्क०)

एवं स्वश्रुत्युत्कर्षादपकर्षाद्वा यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तत्प्रमाणं श्रुतिः। (ना० शा०, अ० २८, पृ० २० बड़ौदा संस्क०) बड़ौदा संस्क० में अभि० टीका में ये दोनों पाठ उपलब्ध हैं—

एवं तीव्रत्वमन्दत्वहेतुभ्यां मार्दवायतत्वाभ्यां यदन्तरं यो विशेषावबोधः प्रमाणं निश्चायकं यस्याः सा श्रुतिः। (वही, पृ० २१)

यहाँ 'प्रमाणं' पाठ है लेकिन आगे चलकर 'प्रमाणेति' में 'प्रमाण' का ग्रहण हुआ है।

पंचम का अपकर्ष होने के बाद दोनों पंचमों में जो अन्तर दिखाई देता है उस अन्तररूप प्रमाण को अभिनव ने श्रुति कहा। अथवा यह कहा कि उस प्रमाण वाली श्रुति है। दोनों पाठों में उस अपकर्ष विशेष से प्राप्त अंतर के लिए ही 'प्रमाण' और 'श्रुति' का अन्वय है। 'तत्प्रमाणश्रुतिः' को समासयुक्त पद मान कर यह अर्थ भी किया जा सकता है कि जो अंतर (भेद) श्रुत (श्रुति) हो रहा है वह (भेद) प्रमाणभूत ही है।

षड्जग्राम और मध्यमग्राम के पंचम का जो 'अन्तर' अथवा 'प्रमाण' है उसे 'प्रमाणश्रुति' शब्द के द्वारा भी कहा जा सकता है। प्रथम सारणा की प्रथम क्रिया के द्वारा श्रुति का यह प्रथम नाप प्राप्त होता है जिसके द्वारा दो ग्रामों का अन्तर प्रमाणित होता है। यही एकमात्र ऐसा माप है जिसके द्वारा चतुःसारणा शुरू की जा सकती है, इसी पर 'श्रुतिनिदर्शन' अवलम्बित है और इसी के द्वारा श्रुतियों की 'इयत्ता' सिद्ध करने की प्रक्रिया शुरू की जा सकती है। जिस प्रमाण (माप) का इतना महत्व हो उसे प्रमाणश्रुति संज्ञा दी गई तो यह सर्वथा उचित और सार्थक है।

'उस प्रमाणवाली श्रुति' अर्थ लिया जाय तो भी संगत है क्योंकि प्रथम अपकर्ष से जो अन्तर प्राप्त हुआ उस प्रमाण से अथवा उस प्रमाण को ही श्रुति मानकर इस सारणा में शेष स्वरों को उतारने का विधान किया गया है।

उपर्युक्त अंश पर अभिनव की व्याख्या प्रमाणश्रुति के अर्थ को विशेष रूप से स्पष्ट करती है। वे कहते हैं—

अथ केयं श्रुतिर्निर्मित्याशङ्क्याह—एवं श्रुत्युत्कर्षापकर्षाच्चेति। मार्दवं तन्त्र्याः शिथिलीकरणं विपरीतत्वमायतत्वं क्रियत

इत्याह। श्रुतेः शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यस्य उत्कर्षस्तीव्रता अपकर्षो मन्दता, तद्धेतुत्वान्मार्दवायते तु द्वे अपि तथोक्ते। एवं तीव्रमन्दत्वहेतुभ्यां मार्दवायतत्वाभ्यां यदन्तरं यो विशेषावबोधः प्रमाणं निश्चायकं यस्याः सा श्रुतिः। प्राक्तनस्य ध्वनेर्वैलक्षण्यं यावता हीनेनाधिकेन या तीव्रमन्दात्मना रूपेण लक्ष्यते सा श्रुतिरिति यावत्। यद्यपि परमाणुतोऽप्युत्कर्षापकर्षौ वा भवेद् ध्वनेर्विशेषस्तथापि नासौ गृहीतुं पार्यते। (वही, पृ० २१)

इसका अर्थ यह है—यह श्रुति क्या है ? ऐसी शंका के उत्तर में भरत 'इस प्रकार श्रुति के उत्कर्ष-अपकर्ष से' ऐसा कह कर स्पष्ट कर रहे हैं। 'मार्दव' का अर्थ है तार को ढीला करना और इसके विपरीत (अर्थात् तार को कसना) 'आयतत्व' है। 'श्रुति' अर्थात् शब्द (ध्वनि) के 'उत्कर्ष' यानी 'तीव्रता' और 'अपकर्ष' यानी 'मन्दता' को स्पष्ट करने के लिये मार्दव और आयतत्व (तार को ढीला करना या कसना)—ये दोनों भी कह दिए। इस प्रकार ध्वनि की मन्दता और तीव्रता के कारण तंत्री के मार्दव और आयतत्व की क्रिया के द्वारा जो 'अन्तर' (अनुभव होता है) यानी विशेष बोध होता है वह अन्तर जिसका 'प्रमाण' यानी निश्चायक (निश्चय कराने वाला) है वह श्रुति है। (इस प्रकार पंचम के अपकर्ष या उत्कर्ष की क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विशेष अन्तर के द्वारा निश्चित होने वाली ध्वनिविशेष को श्रुति कहा गया।) पिछली ध्वनि की विलक्षणता (यानी अपकृष्ट ध्वनि की अपेक्षा से उसका अन्तर) जितने कम-ज्यादा या तीव्र-मन्द्र रूप से लक्षित होती है वह श्रुति है (यहाँ भी पंचम की पूर्वध्वनि और अपकृष्ट परवर्ती ध्वनि में जो कमी-बेशी सुनाई देती है उसी को श्रुति कहा है)। यद्यपि परमाणु रूप में भी ध्वनि का विशेष उत्कर्ष या अपकर्ष होता है लेकिन उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। (इसलिए उन ध्वनियों को श्रुति नहीं कहेंगे)।

आगे अभिनव ने कहा—

प्रमाणेति वदन्न कालकला श्रुतिर्नापि नादांशो न चायुर्न स्थानं न करणमिति दर्शयति। तेन वक्ष्यमाणोच्चनीचविभागो ध्वनिरेका श्रुतिरिति तात्पर्यम्। एवमेकस्याः श्रुतेः स्वरूपमभिधाय श्रुतिसंख्यास्वरूपं यथालक्षणीयं यथा भवति तथा दर्शयितुमुपक्रमते निदर्शनं त्वासामिति। (वही, पृ० २२)

अर्थ—'प्रमाण' कह कर न कालकला, न श्रुति, न ध्वनि का अंश, न आयु, न स्थान, न करण ही दिखाना चाहते हैं बल्कि आगे कही जाने वाली उच्चनीचविभागरूप ध्वनि एक श्रुति है, यह तात्पर्य (व्यक्त किया) है। इस प्रकार एक श्रुति का स्वरूप बताकर श्रुति की संख्या व स्वरूप जिस तरह यथालक्षण होता है (अर्थात् जिस तरह से वह ठीक-ठीक लक्षण के अनुसार सिद्ध हो सके) उस तरह (उस रीति के अनुसार) दिखाने के लिए 'इनका निदर्शन' कहकर आरंभ किया है।

यहाँ यह स्पष्ट करना अभिनव का प्रयोजन है कि भरत 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग करके सिद्ध श्रुतियों को नहीं दिखाना चाहते बल्कि ऊँचे-नीचेपन का जो अनुभव उस प्रथम क्रिया के द्वारा होता है केवल उस ऊँचे-नीचेपन वाली ध्वनि को यहाँ श्रुति कहा है और ध्वनि के उसी प्रथम स्वरूप के द्वारा श्रुतियों की संख्या (यानी श्रुतियाँ २२ हैं) और उनका स्वरूप (यानी छोटे बड़े नाप जो चार सारणाओं में प्राप्त होते हैं और जिनके द्वारा स्वर का स्वरूप बनता है) स्पष्ट रूप से दर्शनीय बनाने के लिए 'श्रुति का निदर्शन' कह कर विधि शुरू कर रहे हैं।

अगर प्रथम क्रिया से प्राप्त श्रुति से भरत को सभी श्रुतियाँ अभिप्रेत होतीं तो बहुवचन 'श्रुतयः' का प्रयोग किया जा सकता था जैसा कि 'तत्प्रमाणश्रुतिः' में एकवचन 'श्रुति' कहने के बाद २२ श्रुतियों के प्रत्यक्षीकरण का आरंभ करते हुए 'निदर्शनं त्वासां' में श्रुतियों के लिये 'आसां' में बहुवचन प्रयोग किया।

अभिनव की टीका से यह बार-बार उभरता है कि पंचम के अपकर्ष से होने वाले अन्तर को ही भरत ने 'प्रमाणश्रुति' के द्वारा सूचित किया है अर्थात् अन्य सारणाओं से प्राप्त होने वाले अन्तररूप सभी श्रुतियों को नहीं।

इस संदर्भ में मतंग के निरूपण पर दृष्टि डालना उपयोगी होगा। मतंग ने 'श्रुतेः किं मानं' कह कर प्रश्न उठाया कि श्रुति का नाप क्या है ? और इसके उत्तर में भरत का 'तत्प्रमाणश्रुतिः' संबंधी अंश लगभग उसी रूप में दिया। यहाँ भी इस प्रश्न के

द्वारा मतंग ने भरत के कथन का ही स्पष्टीकरण किया है। 'श्रुतेः' में एकवचन है इसलिये इसका संबंध केवल पंचम के अपकर्ष से प्राप्त होने वाले अन्तर से ही है अन्यथा बहुवचन 'श्रुतीनां' रखा जा सकता था।

'पुनरपि', 'तद्वदेव' और 'यथा' शब्दों का अभिप्राय

'पुनरपि'—पुनः + अपि की संधि से बनने वाले 'पुनरपि' शब्द के अर्थ, कोश के अनुसार, 'फिर', 'एकबार और', 'फिर से' हैं। इनमें से किसी का भी ग्रहण यहाँ प्रसंगप्राप्त है। तदनुसार यहाँ 'फिर से' या 'एक बार और' अपकर्ष की क्रिया करनी चाहिए—यह अर्थ समझना चाहिए। 'पुनरपि' का संबंध सामान्य रूप से अपकर्ष की क्रिया से है, पंचम के अपकर्ष से नहीं। 'उसी प्रकार अपकर्ष करें जिससे'—यह अंश यह सूचित करता है कि पिछली सारणा से भिन्न क्रिया यहाँ अपेक्षित है इसीलिये भिन्न परिणाम कहा गया है अन्यथा 'जिससे' (यथा)—इस शब्द के प्रयोग की ज़रूरत न होती।

'तद्वदेव'—तद्वदेव में तद्वत् + एव की सन्धि हुई है। 'तद्' (तत्) का अर्थ है 'वह' और 'तद्' के साथ समान या सदृश अर्थ में 'वत्' प्रत्यय लगाकर 'तद्वत्' शब्द बना है। पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५/१/११५) सूत्र से यह प्रत्यय 'तद्' में लगा है जिसका अर्थ है—उससे (किसी से) क्रिया की समानता होने पर 'वत्' प्रत्यय लगता है। इस सूत्र की व्याख्या में यह स्पष्ट कहा गया है कि क्रिया की समानता में 'वत्' का प्रयोग होता है, गुण की समानता में नहीं, जैसे—ब्राह्मण के समान पढ़ाता है इसलिये 'ब्राह्मणवत् अधीते' होगा लेकिन पुत्र के समान मोटा है—इसमें 'पुत्रवत् स्थूलः' नहीं होगा।

'वत्' प्रत्यय के कारण 'तद्वत्' का क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। 'एव' लगने से 'तद्वदेव अपकर्षेत्' का अर्थ है—उसी प्रकार से अपकर्ष करना चाहिए। यह वाक्य अधूरा है जिसकी पूर्ति भरत के इस अगले अंश से होती है—*यथा गान्धारनिषादवन्तौ इतरस्यां ऋषभधैषतौ प्रवेक्ष्यतः।*

'वत्' का प्रयोग 'बिल्कुल वही' या 'ठीक उसी प्रकार' के लिए नहीं, उपमा या सादृश्य के लिए होता है। इन दोनों में उपमेय (जिसे उपमा दी जाय) और उपमान (जिससे उपमा दी जाय) में भेद रहता है, वे एक नहीं हो जाते। 'वत्' क्रिया के सादृश्य के लिये ही प्रयुक्त होता है इसलिये यह जिसके साथ लगता है उसकी क्रिया और पूर्व क्रिया बिल्कुल एक सी नहीं हो सकती। अतः 'पुनरपि तद्वदेवापकर्षेत्' का अर्थ हुआ—फिर से उसी प्रकार अपकर्ष करना चाहिए।

'यथा'—'प्रकार' अर्थ वाले 'यद्' सर्वनाम शब्द से 'थाल्' प्रत्यय लगाने से 'यथा' शब्द बनता है जिसके अर्थ हैं—जैसा कि आगे आता है, जिससे, ताकि, जिससे कि। इन अर्थों में 'यथा' ऐसे दो वाक्यों को जोड़ता है जिनमें से पहला साकांक्ष हो और दूसरा उसकी पूर्ति करता हो। इस तरह एक वाक्य में 'तथा' या 'तद्वत्' और दूसरे में 'यथा' होता है। तब अर्थ यह होता है—उस प्रकार, उस ढंग से, उस रीति से (कार्य हो) जिससे अथवा ताकि (अन्य कार्य सम्पन्न हो)। भरत के संबद्ध अंश में *'पुनरपि तद्वदेवापकर्षेत्'*—इस पहले वाक्य को *'गान्धारनिषादवन्तावितरस्यामृषभधैवतौ प्रवेक्ष्यतः द्विश्रुत्यधिकत्वात्'*—इस दूसरे वाक्य से जोड़ने वाला 'यथा' है।

व्याकरण के नियमों के द्वारा इन शब्दों के जों अर्थ ऊपर बताए गए उनके अनुसार भरत के इस वाक्य का सही अर्थ यह है—फिर से उसी रीति से अपकर्ष करना चाहिए जिससे गान्धार-निषादवान्, दो-दो श्रुति अधिक होने के कारण, दूसरी वीणा के ऋषभ-धैवत में प्रविष्ट हो जायँ।

सारणा के प्रयोजन

भरत ने ७ स्वर, स्वरों की वादी-संवादी आदि चतुर्विधता, दोनों ग्रामों की संवादी स्वरजोड़ियाँ, संवाद, विशेष रूप से मध्यमग्राम में पंचम और ऋषभ का संवाद, हर स्वर की श्रुतिसंख्या और अन्तराल—इतना विषय कहने के बाद श्रुतिनिदर्शन शुरू करते हुए *'निदर्शनं त्वासामभिव्याख्यास्यामः'* अर्थात् इनका निदर्शन तो संपूर्ण रूप से व्याख्यासहित कहते हैं—कहा। 'आसां'

के द्वारा मुख्य रूप से श्रुति का ही ग्रहण होता है क्योंकि निदर्शन से पहले श्रुति की ही चर्चा हुई है। लेकिन इससे पहले के ऊपर कहे गए सभी विषय और श्रुति परस्पर इतने जुड़े हैं कि श्रुति के निदर्शन में उन सबका ग्रहण होना स्वाभाविक है। इसलिये केवल २२ श्रुतियों के प्रत्यक्ष का उल्लेख किए जाने के बावजूद स्वरों की श्रुतिसंख्या, उनका क्रम, नाप, स्वरों में उनका विभाजन, परस्पर संवाद, दो ग्रामों के पंचमों का अन्तर आदि भी श्रुतिनिदर्शन के द्वारा सिद्ध होते हैं, यद्यपि इन्हें अलग से कहा नहीं गया।

भरत ने श्रुतिनिदर्शन के अन्त में कहा—*'एवमेतेन श्रुतिनिदर्शनेन द्वौ ग्रामिक्यौ द्वाविंशतिश्रुतयः प्रत्यवगन्तव्या'* (ना० शा०, अ० २८, पृ० २०)। इस प्रकार इस विधि के द्वारा मुख्यतः तो दोनों ग्रामों की २२ श्रुतियाँ ही प्रत्यक्ष की गईं लेकिन दो ग्रामों के पंचम का अन्तर भी इसके द्वारा सिद्ध होता है। वास्तव में सारणा की पहली क्रिया के द्वारा सबसे पहले यह अंतर ही सिद्ध होता है।

मतंग ने 'श्रुतेः किं मानं' कहकर श्रुति के नाप से ही विधि का आरंभ किया। इसलिए श्रुतियों के विभिन्न नाप सिद्ध या स्पष्ट करना भी सारणा का प्रयोजन है।

पंचम के अपकर्ष संबंधी भरत के वाक्य की व्याख्या करते हुए अभिनव ने स्पष्टतः श्रुतियों की संख्या और स्वरूप की स्पष्टता का उल्लेख किया जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

अभिनव ने टीका में कहा—

तथाहि तावन्न्यूनाधिकत्वे स्वरे विनाशो भवतीति विशिष्टप्रत्युपयोगाच्छ्रुतिरिति कथ्यते। पूर्वादिषु नैवमिति। एवं श्रुतेश्च स्वरूपं ज्ञातम्। (अभि०, खण्ड ४, पृ० २३) दूसरी सारणा में निषाद-गांधार के धैवत-ऋषभ में मिल जाने से पहली सारणा की अपेक्षा जो विशेष परिणाम आता है उसे लक्ष्य करते हुए यहाँ कहा है कि स्वर के न्यूनाधिकत्व के कारण उसके पूर्वरूप का जो विनाश इस सारणा में होता है (यानी जो परिवर्तन आता है) वही श्रुति है। ऐसा विनाश पहली सारणा के स्वरों में नहीं होता (अर्थात् पहली सारणा की अपेक्षा दूसरी सारणा में बहुत बड़ा अन्तर है। इस प्रकार इस सारणा से प्राप्त श्रुति का स्वरूप ज्ञात हुआ।)

भरत के 'एवमेतेन श्रुतिनिदर्शनेन' से शुरू होने वाले ऊपर उद्धृत वाक्य की व्याख्या यद्यपि खंडित है लेकिन उपलब्ध अंश इस प्रकार है—

एवं श्रुतेः स्वरूपमुपलब्धम्। अत्र द्वे द्वयोरिति ताः श्रुतिषु त्रिषु। एवं ध्रुववीणाश्रुतेरियत्तात्र स्फुटीकृता भवति। द्विश्रुतिभिस्त्रिश्रुतिचतुःश्रुतिस्वरस्वरूपं च श्रुतेरियत्ता निर्धारणा स्फुटीकरणार्थं प्रस्तारादेव दृश्यते। (वही, पृ० २३-२४)

यहाँ श्रुति की 'इयत्ता' के स्फुट होने की बात कही गई है। इयत्ता के अर्थ, कोश के अनुसार, ये हैं—इतना, निश्चित माप, सीमित संख्या। श्रुतिनिदर्शन को क्रियात्मक रूप से करने पर श्रुतियों के विभिन्न नाप भी सिद्ध होते हैं इसीलिये अभिनव ने 'इयत्ता' शब्द का प्रयोग किया। शार्ङ्गदेव ने यहीं से इस शब्द का ग्रहण किया है।

सं० राज में सारणा के चार प्रयोजन कहे गए हैं—

श्रुतीयत्तापरिच्छेदस्तारतम्यं स्वराश्रयम्।
काकल्यादिपरिज्ञानं सारणानां प्रयोजनम्॥ (सं० राज, २/१/१/११५)

अर्थात् श्रुति की इयत्ता, परिच्छेद, स्वराश्रित तारतम्य और काकली आदि का परिज्ञान सारणाओं के प्रयोजन हैं।

'इयत्ता' के अर्थ बताए जा चुके हैं। कोश के अनुसार 'परिच्छेद' के अर्थ हैं विभाजन, निर्धारण; 'तारतम्य' के क्रम, अनुपात, तुलनात्मक मूल्य; 'परिज्ञान' का संपूर्ण ज्ञान। तदनुसार इस विधि के द्वारा श्रुति की संख्या, नाप, स्वरों में उनका विभाजन और क्रम का निर्धारण तथा अंतर-काकली स्वरों का सही बोध होता है।

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रकारों की चर्चा के आधार पर सारणा के द्वारा निम्न तथ्य सिद्ध होते हैं—

१. दोनों ग्रामों के पंचम का अन्तर जो एक प्रमाणश्रुति अथवा ५ सेवर्ट के बराबर है।

२. सभी स्वरों की अपनी-अपनी श्रुतिसंख्या अर्थात् ग-नि की द्विश्रुतिकता, रि-ध की त्रिश्रुतिकता और स-म-प की चतुःश्रुतिकता। इसे चतुःसारणा का प्रयोजन न कहकर भी सभी ने प्रत्येक स्वर की श्रुतियों की सिद्धि के द्वारा ही २२ श्रुतियों को सिद्ध किया है।

३. प्रत्येक स्वर की अभिव्यक्ति उसकी अन्तिम श्रुति पर होती है यानी ग-नि अपनी दूसरी श्रुति पर, रि-ध तीसरी पर और स-म-प चौथी श्रुति पर स्थित या अभिव्यक्त होते हैं।

४. सभी स्वरों की अन्तिम श्रुति प्रमाणश्रुति के नाप की है।

५. अन्तर-काकली स्वरों की स्थिति, जो अपने पूर्ववर्ती स्वरों मूल ग-नि और परवर्ती स्वरों म-स से २-२ श्रुतियों के अन्तर पर स्थित हैं।

६. पूर्ववर्ती और परवर्ती स्वरों से यानी दोनों ओर से २-२ श्रुतियों के अन्तर के बावजूद अन्तर-काकली का दोनों ओर का अन्तराल एक सा नहीं है यानी वे ठीक बीच में नहीं हैं। श्रुतिसंख्या की दृष्टि से ये दोनों ओर से एकसी दूरी पर प्रतीत होते हैं लेकिन ग-नि की अपेक्षा म-स से उनकी दूरी ज़्यादा है। ग्रामिक ग-नि से उनका अन्तर २३ सेवर्ट है और म-स से २८ सेवर्ट।

७. श्रुतियों के विषम प्रमाण यानी चार सारणाओं से प्राप्त श्रुतियाँ एक से नाप की नहीं, अलग-अलग नाप की हैं। अवरोह क्रम में पहली श्रुति सबसे छोटी (५ सेवर्ट), दूसरी सबसे बड़ी (२३ सेवर्ट), तीसरी मध्यवर्ती लेकिन दूसरी के नजदीक (१८ सेवर्ट) और चौथी पहली श्रुति की पुनरावृत्ति (५ सेवर्ट) है।

८. स्वरों में इन श्रुतियों का नियत क्रम है। अवरोह क्रम में द्विश्रुति स्वरों में प्रथम दो, त्रिश्रुति में प्रथम तीन और चतुःश्रुति स्वरों में चारों श्रुतियाँ रहती हैं।

वीणाओं पर सारणाक्रम और परिणाम

नीचे दी गई दो सारिणियों में से पहली में चलवीणा पर सारणाक्रम और दूसरी में ध्रुववीणा पर सारणा के परिणाम दिखाए गए हैं।

चलवीणा पर सारणाक्रम

तारसंख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२
मूलस्वर				स			रि		ग				म				प			ध		नि
प्रथम सारणा			स			रि		ग				म				प			ध		नि	
द्वितीय सारणा		स			रि		ग				म				प			ध		नि		
तृतीय सारणा	स			रि		ग				म				प			ध		नि			
चतुर्थ सारणा			रि		ग				म				प			ध		नि				स

ध्रुववीणा पर सारणा-परिणाम

तारसंख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२
मूलस्वर				स			रि		ग				म				प			ध		नि
प्रथम सारणा			स			रि		ग				म				प			ध		नि	
द्वितीय सारणा		स			रि		(ग)				म				प			ध		(नि)		
तृतीय सारणा	स			(रि)		[ग]				म				प			(ध)		[नि]			
चतुर्थ सारणा			△रि		[ग]				(म)				(प)			△ध		[नि]				(स)

ध्रुववीणा में किसी भी तार पर दुबारा कोई क्रिया नहीं की जाती इसलिये दूसरी सारिणी में ऐसे तारों को O, ▭, Δ— इन चिह्नों से अंकित किया है। O चिह्न के द्वारा वे तार अंकित हैं जिन पर ध्रुववीणा में स्थापित मूलस्वरों में चलवीणा के स्वरों के मिल जाने से स्वरों की और फलस्वरूप श्रुतिसंख्या की सिद्धि होती है। ▭ के द्वारा उन तारों का संकेत है जिन पर ध्रुववीणा में पहले से स्थापित ध्वनियों में अन्तर सुनाई देता है। Δ ऐसे तारों को सूचित करता है जिन पर चलवीणा में स्वर स्थापित करते समय कोई परिवर्तन किए बिना पूर्वस्थापित स्वरों के साथ ध्वनि स्वतः एकरूप हो जाती है लेकिन कोई नया स्वर सिद्ध नहीं होता।

चलवीणा के उल्लेखनीय तथ्य

१. ४, ७, ९, १३, १७, २०, २२ संख्यक तारों पर मूलस्वर स्थापित हुए।

२. प्रथम सारणा में ३, ६, ८, १२, १६, १९, २१वें तारों पर प्रथम अपकर्ष के द्वारा स्वर स्थित हुए और दोनों ग्रामों के पंचम का अंतर सिद्ध हुआ।

३. द्वितीय सारणा में २, ५, ७, ११, १५, १८, २०वें तारों पर द्वितीय अपकर्ष के परिणामस्वरूप स्वर स्थित हुए। ७वें और २०वें तारों पर जहाँ दोनों वीणाओं में मूल रि-ध स्थित हैं वहीं, उन्हीं ध्वनियों में इस सारणा के ग-नि मिल गए। इससे ग-नि की द्विश्रुतिकता सिद्ध हुई।

साथ ही ११वें तार पर स्थित मध्यम का ध्रुववीणा के चौथे तार पर स्थित षड्ज से सप्तश्रुत्यन्तर (षड्ज-अन्तर भाव) स्थापित हुआ। इसी तरह दूसरे तार पर स्थित षड्ज को एक सप्तक ऊपर यानी २२वें तार के निषाद के बाद दूसरे तार पर मान लें तो उस उतरे हुए षड्ज का ध्रुववीणा के १७वें तार पर स्थित पंचम से सप्तश्रुत्यन्तर हो जायगा। इस तरह ११वें और दूसरे तार पर प्राप्त अन्तरालों के रूप में अन्तर और काकली सिद्ध हुए।

४. तृतीय सारणा में १, ४, ६, १०, १४, १७ और १९वें तारों पर तृतीय अपकर्ष से स्वर स्थापित हुए तथा चौथे और १७वें तारों पर, जहाँ दोनों वीणाओं में मूल स-प हैं वहीं, इस सारणा के रि-ध मिल गए। इससे रि-ध की त्रिश्रुतिकता सिद्ध हुई। लेकिन इस सारणा में मध्यम से संवाद करके १९वें तार पर नि और उस नि से संवादी ग छठे तार पर स्थापित करने के लिए पहली सारणा के रि और ध में मिले इन तारों को काफ़ी उतारना पड़ा। संवाद तभी स्थापित होता है जब इस सारणा में निषाद-गांधार के तारों को उतारा जाय। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम सारणा की श्रुति की अपेक्षा तृतीय सारणा की श्रुति का नाप बड़ा है।

५. चतुर्थ सारणा में ३, ५, ९, १३, १६, १८ और २२ संख्यक तारों पर चतुर्थ अपकर्ष के द्वारा स्वर स्थित हुए तथा ९वें, १३वें और २२वें तारों पर स्थापित मूल ग, म, नि में इस सारणा के म-प-स मिल गए। इससे यह सिद्ध हुआ कि स-म-प

चतुःश्रुतिक हैं। लेकिन ५वें और १८वें तारों पर ग-नि स्थापित करने के लिए दूसरी सारणा के रि-ध में मिले इन तारों को काफ़ी चढ़ाना पड़ता है क्योंकि इन तारों की पूर्व ध्वनियाँ चौथी सारणा के लिए अपेक्षित ध्वनियों से काफ़ी उतरी हुई हैं। यहाँ भी तीसरी सारणा की तरह मध्यम से संवाद करके निषाद और निषाद से संवाद के द्वारा गान्धार प्राप्त किया जाता है। इन तारों को चढ़ाने पर ही संवाद स्थापित होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि दूसरी सारणा की अपेक्षा चौथी सारणा की श्रुति बहुत छोटी है।

ध्रुववीणा के उल्लेखनीय तथ्य

१. ४, ७, ९, १३, १७, २०, २२वें तारों पर षड्जग्रामिक स्वर स्थापित किए गए।

२. पहली सारणा में ३, ६, ८, १२, १६, १९, २१वें तारों पर अपकृष्ट स्वर स्थापित हुए। १७वें और १६वें तारों के अन्तर के रूप में दोनों ग्रामों के पंचम स्थित हुए।

३. दूसरी सारणा में २, ५, ११, १५, १८ संख्यक तारों पर सारणा के फलस्वरूप स्वर स्थापित हुए। ७वें और २०वें तारों पर रि-ध पहले से स्थापित होने के कारण उन्हें छेड़ा नहीं गया। इन तारों में चलवीणा के रि-ध लीन हो गए।

४. तीसरी सारणा में सिर्फ़ १, १० और १४वें तारों पर किया की गई; ४, ६, १७, १९वें तारों पर नहीं क्योंकि चौथे और १७वें तारों पर मूल स-प स्थित हैं जिनमें चलवीणा के रि-ध लीन हो गए। छठे और १९वें तारों पर पहली सारणा में क्रिया की जा चुकी है।

५. चौथी सारणा में किसी भी तार पर कोई क्रिया नहीं की गई क्योंकि सभी तारों पर पहले क्रिया हो चुकी है। लेकिन ९वें, १३वें और २२वें तारों पर स्थित ग-म-नि में चलवीणा के म-प-स लीन हो गए।

६. ध्रुववीणा के छठे और १९वें तारों पर पहली सारणा के रि-ध स्थित हैं। इन्हीं तारों पर तीसरी सारणा में चलवीणा के ग-नि स्थापित हुए। ध्रुववीणा के इन रि-ध को क्रम से चलवीणा के ग-नि के साथ छेड़ कर सुनने पर रि-ध चढ़े हुए सुनाई देते हैं। कारण यह है कि पहली सारणा की श्रुति सबसे छोटे नाप की है इसलिये स्वर बहुत कम उतरते हैं और तीसरी सारणा की श्रुति उससे बहुत बड़ी है (इसीलिए तीसरी सारणा में ग-नि मिलाते समय चलवीणा के तारों को उतारना पड़ता है)।

७. ध्रुववीणा में ५वें और १८वें तारों पर दूसरी सारणा के रि-ध स्थापित हैं। इन्हीं तारों पर चौथी सारणा में चलवीणा के ग-नि स्थित हुए। ध्रुववीणा के रि-ध को क्रमशः चलवीणा के ग-नि के साथ सुनने पर रि-ध काफ़ी उतरे हुए सुनाई देते हैं। इसका कारण यह है कि दूसरी सारणा की श्रुति सबसे बड़े प्रमाण की है इसलिए स्वर बहुत ज़्यादा उतरते हैं और चौथी सारणा की सबसे छोटे प्रमाण की है यानी दूसरी सारणा में तार को ज़्यादा उतरना पड़ता है और चौथी सारणा में बहुत कम (इसीलिये चलवीणा में चौथी सारणा में ग-नि मिलाते समय पहले उतारे गए इन तारों को फिर से चढ़ाना पड़ता है।)

८. ध्रुववीणा में पहली सारणा में तीसरे और छठे तारों पर स-प स्थित हुए। चलवीणा में इन्हीं तारों पर चौथी सारणा में रि-ध आते हैं जो त्रिश्रुतिक होने के कारण तीसरी सारणा में सिद्ध हो चुके हैं और ध्रुववीणा के चौथे और १७वें तारों के स-प में लीन हो चुके हैं। फिर भी चौथी सारणा में अपकर्ष करने पर ध्रुववीणा के तीसरे और १६वें तारों की ध्वनियों में फिर से मिल कर एकरूप हो जाते हैं, उन तारों में कोई परिवर्तन करने की जरूरत नहीं होती। इसका कारण यह है कि चौथी सारणा में रि-ध का जो अपकर्ष होता है वह वास्तव में मूल स-प की (अवरोह क्रम में) पहली श्रुति है जिसका प्रथम सारणा में अपकर्ष किया जा चुका है। चौथी सारणा में भी अपकर्ष का वही नाप है जो पहली सारणा का है। इसीलिये प्रथम सारणा के स-प के तारों में कुछ भी परिवर्तन किए बिना चतुर्थ सारणा के रि-ध उनमें स्वतः मिल जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम और चतुर्थ सारणा की श्रुति एक से नाप की है।

सारणा प्रक्रिया के निष्कर्ष

१. षड्जग्राम और मध्यमग्राम के स्वर संवादसिद्ध हैं क्योंकि इनमें हर स्वर का कम से कम एक संवादी स्वर मूल सप्तक में जरूर है।

२. एक स्थान में श्रुतियों की संख्या २२ ही है, न कम न ज्यादा। वे क्रम से अर्थात् एक के बाद दूसरी सुनी व पहचानी जा सकती हैं तथा उनका 'निदर्शन' संभव है।

३. ग-नि अपने पूर्ववर्ती स्वरों (रि-ध) से २-२ श्रुतियों के अन्तर पर, रि-ध अपने पूर्ववर्ती स-प से ३-३ श्रुतियों की दूरी पर और स-म-प अपने पूर्ववर्ती नि-ग-म से ४-४ श्रुतियों के अंतर पर हैं।

४. अंतर ग और काकली नि अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती स्वरों से २-२ श्रुतियों की दूरी पर स्थित हैं।

५. स्वर का सबसे छोटा अन्तराल २ श्रुतियों का और सबसे बड़ा ४ श्रुतियों का है।

६. षड्जग्राम के स-प में संवाद है, रि-प में नहीं। इस पंचम को जितना सा उतारने पर वह ऋषभ का संवादी बन जाता है वही प्रथम सारणा की श्रुति के अपकर्ष का प्रमाण है और वही दोनों ग्रामों के पंचम का अन्तर है।

७. सब श्रुतियाँ समप्रमाण की नहीं, तीन भिन्न प्रमाणों की हैं।

८. पहली सारणा से प्राप्त श्रुति का नाप सबसे छोटा, दूसरी का सबसे बड़ा और तीसरी का इनके बीच में है। चौथी सारणा की श्रुति पहली श्रुति के ही नाप की है। सेवर्ट में (अवरोह क्रम में) इनका नाप क्रमशः ५, २३, १८ और ५ सेवर्ट है और उनका क्रम यह है—

०	१८	२३	५	२३	५	५	१८	२३	५	५	१८	२३	५	१८	२३	५	२३	५	५	१८	२३	५
स	—	—	रि	—	ग	—	—	—	म	—	—	—	प	—	—	ध	—	नि	—	—	—	स

९. सभी स्वर अपनी अन्तिम श्रुति पर ही स्थित होते हैं।

श्रुतियों के मापों की भिन्नता सिद्ध करने के उपाय

श्रुतियों के तीन मापों के अन्तर को सारणा से प्राप्त परिणामों में तीन प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है—

१. छठे और १९वें तारों पर स्थित ध्रुववीणा की पहली सारणा के रि और ध के साथ इन्हीं तारों पर चलवीणा की तीसरी सारणा के ग-नि को सुन कर तथा ध्रुववीणा में द्वितीय सारणा के ५वें और १८वें तारों पर स्थित रि-ध के साथ क्रमशः उन्हीं तारों पर चलवीणा की चौथी सारणा के ग-नि को सुनकर। इसे 'चलवीणा के उल्लेख़नीय तथ्य' के पैरा ४ और ५ में तथा 'ध्रुववीणा के उल्लेखनीय तथ्य' के अन्तर्गत पैरा ६ और ७ में समझाया जा चुका है।

२. प्रत्येक सारणा के पंचम का पिछली सारणा के ऋषभ के साथ अन्तर सुन कर माप की भिन्नता अनुभव की जा सकती है। मूल सप्तक के ऋषभ और पंचम में संवाद नहीं है। मूल ऋषभ और पहली सारणा के पंचम में संवाद हो जाता है लेकिन पहली सारणा के ऋषभ के साथ दूसरी सारणा के पंचम में संवाद नहीं होता और इसी तरह दूसरी सारणा के ऋषभ के साथ तीसरी सारणा के पंचम में संवाद नहीं होता। तीसरी सारणा के ऋषभ और चौथी सारणा के पंचम का फिर संवाद हो जाता है। इसका कारण यह है कि पहली सारणा में पंचम को उतना ही उतारा जाता है जितना उतारने से वह ऋषभ के साथ संवाद करने लगे और चौथी सारणा में स-म-प को नि-ग-म में मिलाने के लिए भी उतना ही उतारना पड़ता है जितना पहली सारणा में अपकर्ष हुआ। लेकिन दूसरी और तीसरी सारणाओं में यह अपकर्ष पहली और चौथी सारणाओं से ज्यादा होने के कारण इन सारणाओं के पंचम का पिछली सारणाओं के ऋषभ से संवाद नहीं होता। साथ ही दोनों स्थानों पर ऋषभ-पंचम में अन्तर

एक सा भी नहीं सुनाई देता बल्कि कम-ज्यादा होता है। पहली और दूसरी सारणाओं के ऋषभ-पंचम में अन्तर कम है। उसकी तुलना में दूसरी और तीसरी सारणाओं के ऋषभ-पंचम में यह अन्तर बहुत ज्यादा सुनाई देता है। दूसरी भाषा में यों कह सकते हैं कि इनमें से पहले ऋषभ-पंचम के पंचम की अपेक्षा दूसरी ऋषभ-पंचम की जोड़ी का पंचम चढ़ा हुआ सुनाई देता है।

३. हर सारणा के पंचम का पिछली सारणा के पंचम के साथ अन्तर सुनकर—यह तीसरा उपाय है। अपकर्ष के भेद के कारण परिणाम में आने वाले भेद को केवल पंचमों के अन्तर के द्वारा भी समझा जा सकता है। मूल पंचम और पहली सारणा के पंचम में बाल भर का अन्तर सुनाई देता है (इसीलिये भरत ने अन्यत्र इसे 'केशाग्र' यानी बाल की नोक के बराबर अन्तर कहा है)। इसकी अपेक्षा पहली और दूसरी सारणा के पंचम में बहुत ज्यादा अन्तर सुनाई देता है। दूसरी और तीसरी सारणा के पंचम में प्रथम अंतर की अपेक्षा बहुत ज्यादा और द्वितीय अंतर की अपेक्षा कुछ कम अन्तर सुनाई देता है।

श्रुतियों के नाम

ना० शा० से लेकर बाद के किसी भी ग्रंथ में श्रुतियों के इन तीन भिन्न नापों को कोई नाम नहीं दिए गए। लेकिन वर्तमान शताब्दी में आचार्य बृहस्पति ने इन्हें भिन्न संज्ञाएँ दीं। ना० शा० में पहली सारणा की श्रुति के संदर्भ में उपलब्ध 'प्रमाण' शब्द के आधार पर सबसे छोटी श्रुति को 'प्रमाणश्रुति' नाम देकर उन्होंने भरतोक्त परिणाम को बनाए रखा है। दूसरी सारणा की श्रुति सबसे बड़े नाप की है इसलिये उसे 'महती' (बड़ी) संज्ञा दी और तीसरी सारणा की श्रुति महती के 'उप' (समीप) यानी नाप में उसके नज़दीक है इसलिए उसे 'उपमहती' कहा है। इस प्रकार तीनों संज्ञाएँ सार्थक हैं।

इस पूरी चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि 'श्रुतिनिदर्शन' या सारणा विधि में प्रयुक्त शब्दों के व्याकरणसम्मत अर्थ तथा प्रयोग और अपेक्षित परिणामों को ध्यान में रख कर इसे क्रियात्मक रूप से करने पर ही श्रुति-संबंधी विभिन्न शंकाओं व समस्याओं का निराकरण और रहस्यों का उद्घाटन-स्पष्टीकरण संभव है।

*

परिशिष्ट—ख

भरत और शार्ङ्गदेव के शुद्ध-विकृत स्वरों की वीणा पर एक स्थान में स्थापना के मध्ययुगीय दाक्षिणात्य ग्रन्थकारों के प्रयत्न और उसके परिणाम

भरत ने षड्जादि सात स्वरों के लिए शुद्ध संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है लेकिन 'स्वरसाधारण' के अन्तर्गत अन्तर और काकली स्वरों के संदर्भ में कहा कि विकृतत्व के कारण ये अंश नहीं बनते (ना०शा०, २८/३४, गद्यांश)। संभवतः षड्जग्राम और मध्यमग्राम दोनों को स्वतंत्र और पृथक् स्वरावली मानने के कारण दोनों ग्रामों के अपने-अपने पंचम भी मूल माने गए और इसीलिये उनमें से किसी को भरत ने विकृत नहीं कहा। ना०शा० में दोनों ग्रामों के षड्जादि सात स्वरों के अलावा जिन स्वरों का उल्लेख है वे हैं—१. अन्तर गान्धार, २. काकली निषाद, ३. साधारण गान्धार और ४. कैशिक निषाद। लेकिन भरत ने अन्तिम दो स्वरों के लिए इन संज्ञाओं का प्रयोग नहीं किया है।

शार्ङ्गदेव ने ही सबसे पहले स्वरों के लिए शुद्ध और विकृत संज्ञाओं का स्पष्टतः प्रयोग करके इनके अन्तर्गत शुद्ध-विकृत स्वरों का विभाजन किया। उसने षड्जग्राम के षड्जादि ७ मूल स्वरों को शुद्ध कहा और उनमें विकार से प्राप्त होने वाले १२ रूपों को विकृत कहा। इन १२ में से मध्यमग्रामिक पंचम, अन्तर गान्धार, काकली निषाद, साधारण गान्धार, कैशिक निषाद, च्युत मध्यम और च्युत षड्ज—इन ७ स्वरों में स्थान विकृति होती है और (मध्यमग्रामिक) चतुःश्रुति धैवत, (मध्यमग्रामिक) चतुःश्रुति पंचम, चतुःश्रुति ऋषभ, अच्युत षड्ज और अच्युत मध्यम—इन ५ स्वरों में स्थानविकृति नहीं होती बल्कि ये वैकल्पिक संज्ञा मात्र हैं और इन्हें एक स्थान में क्रम से स्थापित करना या प्रयोग करना संभव नहीं है।

रामामात्य, व्यंकटमखी, सोमनाथ जैसे मध्ययुगीय दाक्षिणात्य ग्रंथकार भरत और शार्ङ्गदेव के विकृत स्वरों को और शार्ङ्गदेव द्वारा प्रयुक्त स्वरनामों के प्रयोजन को समझ नहीं सके और अचल पर्दों वाली वीणा पर एक स्थान के अन्तर्गत उन्हें जिस तरह स्थापित किया उसके कारण ग्राम-मूर्च्छना पद्धति को समझने का उपाय उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। उपलब्ध ग्रन्थों में यह स्थापना सबसे पहले रामामात्य के 'स्वरमेलकलाविधि' में प्राप्त होती है। उसने षड्जग्राम के स्वरों को उस समय की ऐसी वीणा पर स्थापित करके दिखाया है जो वास्तव में ग्रामव्यवस्था से बिल्कुल भिन्न पर्दों की ठीक आज जैसी व्यवस्था वाली थी। लेकिन उसने अपने समय के स्वरों के लिए शार्ङ्गदेव की स्वरसंज्ञाओं का ही प्रयोग किया है जिससे यह भ्रम होता है कि वे शार्ङ्गदेवसम्मत स्वर हैं। आज उत्तर और दक्षिण की पद्धतियों में वीणा पर पर्दों की स्थिति एक सी है यद्यपि नाम भिन्न हैं। लेकिन उत्तर में वीणा के पर्दों पर स्वरों के श्रुत्यन्तर सही-सही समझे जाते हैं और ग्राम से भिन्न अन्तराल वाले वर्तमान स्वरों के लिए ग्रामपद्धति के स्वरनामों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसलिए विषय की स्पष्टता की दृष्टि से इस परिशिष्ट में रामामात्य के स्वरों को आज के उत्तर भारतीय स्वरों के साथ तुलना करके दिखाया जा रहा है। उसने स्वरों को जिस ढंग से स्थापित किया वह नीचे सारिणी में दिखाया है। विभिन्न तारों के नीचे जो स्वर स्थापित किए और उनमें जो विसंगतियाँ आईं उन्हें दिखाना ही इस सारिणी का प्रयोजन है इसलिये पूरी वीणा न दिखाकर सिर्फ़ तीन भिन्न स्वरों में मिले हुए तीन तारों के नीचे पर्दों पर स्वरों की स्थिति और उनके कल्पित और वास्तविक श्रुत्यन्तर ही यहाँ दिखाए हैं।

पर्दों की संख्या	मन्द्र म के तार पर स्वर	कल्पित श्रुत्यंतर	मन्द्र स के तार पर स्वर	कल्पित श्रुत्यंतर	अणुमन्द्र प के तार पर स्वर	कल्पित श्रुत्यंतर	पर्दों का वास्तविक श्रुत्यंतर
मेरु	मंद्र मध्यम	—	मन्द्र षड्ज	—	अणुमंद्र पंचम	—	—
१.	च्युत पंचम मध्यम	३	शुद्ध ऋषभ	३	शुद्ध धैवत	३	२
२.	शुद्ध पंचम	१	शुद्ध गान्धार	२	शुद्ध निषाद	२	२
३.	शुद्ध धैवत	३	साधारण गान्धार	१	कैशिक निषाद	१	२
४.	शुद्ध निषाद	२	च्युत मध्यम गान्धार	२	च्युत षड्ज निषाद	२	१
५.	कैशिक निषाद	१	शुद्ध मध्यम	१	शुद्ध षड्ज	१	२
६.	च्युत षड्ज निषाद	२	च्युत पंचम मध्यम	३	शुद्ध ऋषभ	३	२

इन स्वरों को देखने से यह समझ में आता है कि शार्ङ्गदेव के स्वरों की एक स्थान में क्रम से स्थापना के फलस्वरूप ये विसंगतियाँ आईं—

१. एक ही पर्दे पर भिन्न तारों के नीचे भिन्न श्रुत्यंतर कल्पित हुए।

२. जिन पर्दों पर वास्तव में स, द्विश्रुति रि, शुद्ध रि, शुद्ध म, प, द्विश्रुति ध और शुद्ध ध का स्थान है उन्हीं पर्दों के स्वरों को रामामात्य ने षड्जग्रामिक स, रि, ग, म, प, ध, नि मान लिया। इस कारण षड्जग्रामिक स्वरावली (उत्तर भारतीय स्वर संज्ञाओं में) ग्राम से बिल्कुल भिन्न स रि् रि म प ध् ध जैसी स्वरावली हो गई।

३. वास्तव में पर्दों पर मध्यम के तार के नीचे स्थापित स्वर क्रम से उत्तर भारतीय तीव्र म, प, कोमल ध, शुद्ध ध, कोमल नि, शुद्ध नि हैं जिन्हें च्युतपंचममध्यम, शुद्ध प, शुद्ध ध, शुद्ध नि, कैशिक नि और च्युतषड्जनिषाद कहा गया। षड्ज के तार के नीचे स्थित कोमल रि, शुद्ध रि, कोमल ग, शुद्ध ग, शुद्ध म और तीव्र म को शुद्ध रि, शुद्ध ग, साधारण ग, च्युतमध्यमगान्धार, शुद्ध म और च्युतपंचममध्यम मान लिया गया। इसी तरह पंचम के तार के नीचे स्थित कोमल ध, शुद्ध ध, कोमल नि, शुद्ध नि, स, कोमल रि को शुद्ध ध, शुद्ध नि, कैशिक नि, च्युतषड्जनिषाद, शुद्ध स, शुद्ध रि समझ लिया गया।

४. किसी एक पर्दे पर स, म और प के तारों से उत्पन्न होने वाले स्वरों में परस्पर संवाद होता है। लेकिन रामामात्य ने एक ही पर्दे पर भिन्न तारों के नीचे जिन स्वरों की कल्पना की उनमें संवाद नहीं हो सकता। जैसे—

(क) मध्यम और षड्ज के तारों के नीचे दूसरे पर्दे पर क्रमशः रामामात्य के शुद्ध पंचम और शुद्ध गान्धार में ग्रामव्यवस्था के अनुसार ८ श्रुतियों का अन्तर होने से संवाद नहीं हो सकता। वास्तव में इस पर्दे पर मेरु से ४-४ श्रुत्यन्तर वाले पंचम और ऋषभ हैं जिनमें ९ श्रुतियों का अन्तराल होने से उनमें परस्पर षड्ज-मध्यम संवाद है।

(ख) इन्हीं तारों के नीचे तीसरे पर्दे पर रामामात्य के कहे हुए क्रमशः शुद्ध धैवत और साधारण गान्धार में ग्राम की दृष्टि से १० श्रुतियों का अन्तराल होने से संवाद संभव नहीं है।

(ग) इन्हीं तारों के नीचे चौथे पर्दे पर शुद्ध निषाद और च्युतमध्यमगान्धार में भी संवाद संभव नहीं है क्योंकि अन्तर गांधार को रामामात्य ने च्युतमध्यमगांधार नाम दिया है जिसका शुद्ध निषाद से अन्तराल ग्रामव्यवस्था की दृष्टि से ११ श्रुतियों का होता है।

(घ) इसी तरह पाँचवें पर्दे पर कैशिक निषाद और शुद्ध मध्यम में भी ग्राम के स्वरों की दृष्टि से १० श्रुत्यंतर होने से संवाद नहीं हो सकता।

५. इन ६ पर्दों में वास्तव में २, २, २, १, २, २ श्रुतियों का अंतर है। सारिणी में रामामात्य के स्वरों में किसी भी पर्दे का श्रुत्यन्तर तीनों तारों के नीचे एक सा और सही नहीं है, या तो वास्तविक श्रुत्यंतर से भिन्न है या विभिन्न तारों के नीचे अलग-अलग श्रुत्यंतरों की कल्पना करनी पड़ी है।

६. वास्तव में केवल तीसरे और चौथे पर्दे का अन्तर एक श्रुति का है जबकि रामामात्य के स्वरों में विभिन्न तारों के नीचे इनसे भिन्न दो-दो पर्दे १-१ श्रुति के अन्तर वाले मान लिए गए हैं।

७. वीणा पर अन्तर-काकली के लिए जो पर्दे हैं उन्हीं पर क्रम से च्युतमध्यमगांधार और च्युतषड्जनिषाद की कल्पना की गई है। इसका कारण यह है कि रामामात्य ने च्युतमध्यम और च्युतषड्ज की स्थिति को नहीं समझा और अन्तर-काकली को, जो मध्यम और षड्ज से २-२ श्रुति नीचे हैं, च्युत मध्यम और च्युत षड्ज के साथ मिला दिया जो मूल मध्यम और षड्ज से १-१ श्रुति नीचे होते हैं। मेलों के स्वर बताते समय रामामात्य का कथन इसी स्थिति को व्यक्त करता है। उसने कहा कि अंतर और काकली के ही स्थान पर उनके प्रतिनिधि के रूप में च्युतमध्यमगांधार और च्युतषड्जनिषाद प्रयुक्त होते हैं (स्वरमेल०, पृ० ३७, संगीत कार्यालय संस्क०, मई १९५०)। स्पष्ट है कि अन्तर और काकली के पर्दों पर यह विकल्प दिया गया है कि इन पर्दों से उत्पन्न स्वरों को चाहे अन्तर-काकली कहें चाहें च्युतमध्यमगांधार-च्युतषड्जनिषाद।

८. अन्तर और काकली के साथ च्युत मध्यम और च्युत षड्ज को मिला देने की इस स्थिति से प्रभावित सोमनाथ ने उन्हें च्युतमध्यमगांधार और च्युतषड्जनिषाद मान कर कह दिया कि वीणा पर अन्तर-काकली के लिये पर्दे नहीं हैं, उन्हें पूर्ववर्ती साधारण गान्धार आदि के पर्दों पर तार को खींच कर निकालना पड़ता है (राग०, २/३८-३९)। दूसरी ओर व्यंकटमखी ने अन्तर-काकली को ग्राम के मूल ग-नि से ३-३ श्रुति आगे मान कर उन्हें च्युत म और च्युत स के साथ मिला दिया (चतु०, २/७-९, १४-१५, ३२-३३, ४२)।

९. इन ग्रंथकारों द्वारा ५-२-२-५-४-२-२ श्रुत्यंतर वाले अपने स रि ग म प ध नि (उत्तर के स ऱि रि म प ध़ ध) को षड्जग्रामिक ४-३-२-४-४-३-२ वाले स्वर समझ लेने और मेलों में संपूर्णता का नियम रखने की दृष्टि ने एक नई विसंगति को जन्म दिया। जिन मेलों में किसी स्वर के दो-दो रूप आते थे उनमें संपूर्णता के नियम का भंग होता था जिसे संगत बनाने के लिए नए स्वरनामों और उनके सांकेतिक स्वराक्षरों की कल्पना करनी पड़ी। ग्राम के मूल ग के लिये पंचश्रुति रि, साधारण गांधार के लिए षट्श्रुति रि, मूल निषाद के लिये पंचश्रुति ध, कैशिक नि के लिए षट्श्रुति ध जैसी वैकल्पिक संज्ञाएँ और व्यंकटमखी द्वारा दिए गए र, रि, रु, ध, धि धु आदि संकेताक्षर इसके प्रमाण हैं। इनकी ज़रूरत कहाँ और क्यों हुई इसे स्पष्ट करने के लिये नीचे कुछ ऐसे मेलों के उदाहरण दिए हैं जिनमें एक ही स्वर के दो-दो रूप एक साथ रहते हैं।

श्रीराग मेल—

स ग (षड्जग्रामिक) ग (साधा०) म प नि (षड्जग्रामिक) नि (कैशिक) स

इस मेल में षड्जग्राम के ग-नि का प्रयोग है जो क्रमशः षड्ज और पंचम से ५-५ श्रुतियों के अन्तर पर होते हैं। साथ ही साधारण ग और कैशिक नि भी हैं। संपूर्णता के नियम की रक्षा के लिए श्रीराग मेल में मूल ग-नि को क्रम से पंचश्रुति रि और पंचश्रुति ध कहा जाता है।

सामन्त मेल—

स ग (साधा०) ग (अंतर) म प नि (कैशिक) नि (काकली) स

इस मेल में अंतर ग और काकली नि के साथ साधारण ग और कैशिक नि का प्रयोग है जो क्रमशः स और प से ६-६ श्रुतियों की दूरी पर हैं। यहाँ इनकी संज्ञा क्रम से षट्श्रुति रि और षट्श्रुति ध है।

व्यंकटमखीं के ७२ मेलों में ऊपर के दोनों मेलों के स्वर क्रम से सरिगुमपधिनुस और सरुगुमपधुनुस कहलाते हैं (वही, ४/८-९, १२-१३, ३६-३७, ४०-४१)।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा कि रामामात्य, व्यंकटमखी, सोमनाथ आदि षड्जग्राम और मध्यमग्राम को यथातथ समझ नहीं सके और भिन्न स्वरव्यवस्था वाली वीणा पर ग्राम के स्वरों को स्थापित करने के आग्रह के कारण वे न तो उन स्वरों को स्थापित कर सके और न पर्दों पर बोलने वाले लक्ष्यसम्मत स्वरों को भरत, शार्ङ्गदेव आदि के स्वरों से भिन्न स्वरों के रूप में स्वीकार कर सके।

परिशिष्ट—ग

गान्धारग्राम संबंधी कतिपय तथ्य

नाट्यशास्त्र में गान्धारग्राम का उल्लेख नहीं है और नान्यदेव तथा शार्ङ्गदेव के अलावा अन्य शास्त्रकारों ने इसका नामोल्लेख ही किया है, कोई विवरण नहीं दिया। सभी ने इतना ही कहा कि इसका प्रयोग स्वर्गलोक में ही होता है। नान्यदेव ने यह बताया कि इस ग्राम में 'अतितारत्व' और 'अतिमन्द्रत्व' के कारण 'वैस्वर्य' है इसलिये पृथ्वी पर इसका प्रयोग नहीं होता (भ० भा०, ३/२/५४-५५)। लेकिन इसका कोई स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं है। फिर भी उपलब्ध विवरण के आधार पर इस ग्राम के बारे में कुछ तथ्यों पर प्रकाश डालने का और अन्य दो ग्रामों से उसका संबंध जोड़ने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है।

१. जिस प्रकार षड्जग्राम में स और मध्यमग्राम में म आरंभक स्वर है उसी प्रकार गान्धारग्राम का आरंभक स्वर ग है।

२. षड्जग्राम का स ही मध्यमग्राम में म और गांधारग्राम में ग बन जाता है।

३. षड्जग्राम के मूल गान्धार के बजाय अन्तर गान्धार का प्रयोग करके उसे ध मानने से मध्यमग्राम प्राप्त होता है और षड्जग्रामिक ग के स्थान पर साधारण ग का प्रयोग करके उसे प कहने से गान्धारग्राम प्राप्त हो जाता है। जैसे—

ग्राम	स्वर	श्रुत्यन्तर
षड्जग्राम	स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि — — — स	३ २ ४ ४ ३ २ ४
मध्यमग्राम	म — — प — — — ध — नि — — — स — — रि — ग — — — म	३ ४ २ ४ ३ २ ४
गान्धारग्राम	ग — — म — — प — — ध — — — नि — — स — रि — — — ग	३ ३ ३ ४ ३ २ ४

४. श्रुतिव्यवस्था की दृष्टि से मध्यमग्राम और गान्धारग्राम में पंचम की स्थिति समान है यानी षड्जग्रामिक पंचम से इन दोनों का पंचम एक श्रुति उतरा हुआ है अर्थात् षड्ज-पंचम की दूरी १२ श्रुति की है।

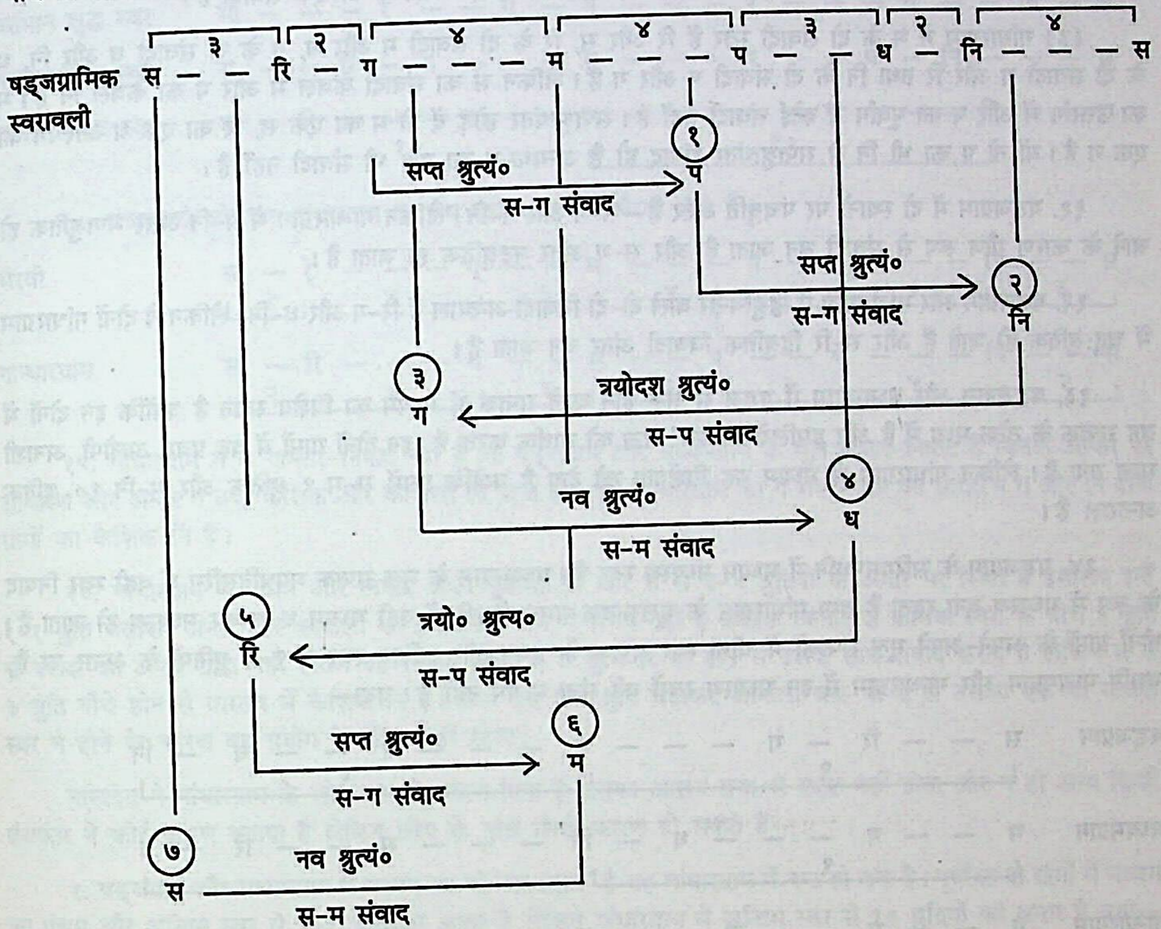
५. षड्जग्रामिक स्वरावली संज्ञाभेद किए बिना पंचम को सिर्फ़ एक प्रमाणश्रुति उतारने से मध्यमग्राम बन जाती है लेकिन बड़े परिवर्तन और संज्ञा भेद के बिना गान्धारग्राम नहीं बनती।

६. षड्जग्राम में पंचम का संवाद षड्ज से, मध्यमग्राम में रि से और गान्धारग्राम में नि से होता है। गान्धारग्राम में प-नि में संवाद वर्तमान ध्वनिविज्ञान के स-ग संवाद के आधार पर होता है जो भरत परंपरा में सप्त श्रुत्यन्तर म-ध अन्तराल के रूप में तो प्राप्त है लेकिन उसे स्वतंत्र संवाद नहीं माना गया।

७. षड्जग्राम के स-प में १३, मध्यमग्राम के रि-पं में ९ और गान्धारग्राम के प-नि में ७ श्रुत्यन्तर से संवाद है इसलिये षड्जग्राम में षड्ज-पंचम संवाद की, मध्यमग्राम में षड्ज-मध्यम संवाद की और गान्धारग्राम में षड्ज-गान्धार संवाद की प्रधानता कही जा सकती है।

८. षड्जग्राम के पंचम से उल्टे क्रम से सप्तश्रुत्यन्तर के आधार पर षड्जग्रामिक ग को एक श्रुति चढ़ा कर प कहने से संज्ञाभेद से गान्धार ग्राम प्राप्त हो सकता है। अथवा मध्यमग्राम के ध-स में सप्तश्रुत्यन्तर भाव स्थापित करके यानी ध को एक श्रुति उतार कर उस ध को प कह कर संज्ञाभेद से मध्यमग्राम की स्वरावली गान्धार ग्राम बन जाती है। यह क्रिया उसी तरह की है जैसी भरत की 'धैवतीकृते गान्धारे' की है।

९. गान्धारग्राम के स्वरों की प्राप्ति दो प्रकार से की जा सकती है—संज्ञाभेद के बिना और संज्ञाभेद से। इनकी विधि यह है। संज्ञाभेद के बिना—षड्जग्रामिक ग को आधार बनाकर उसका सप्तश्रुत्यंतर से संवादी प स्थापित करके उसे गान्धारग्राम का प मान लिया जाय। इस प से षड्जान्तर भाव से नि, नि से उल्टे क्रम में षड्ज-पंचम संवाद से ग, ग से षड्ज-मध्यम संवाद से ध, ध से उल्टे क्रम में स-प संवाद से रि, रि से षड्जान्तर संवाद से म और म से उल्टे क्रम से स प्राप्त हो सकता है। नीचे की सारिणी में स्वरों की प्राप्ति का क्रम, स्वरों के स्थान, आधार संवाद और उनके श्रुत्यन्तर देखे जा सकते हैं।



षड्जग्राम के स से शुरू करके यानी ऊपर की विधि के उल्टे क्रम से भी ये स्वर प्राप्त किये जा सकते हैं—स से म, म से रि, रि से ध, ध से ग, ग से नि और नि से प।

संज्ञाभेद से—षड्जग्रामिक ग को सप्त श्रुत्यंतर से प का संवादी बनाकर यानी एक श्रुति चढ़ा कर उस ग को प कहा जाय और तदनुसार शेष स्वरों की संज्ञा बदल ही जाय। इसे ऊपर (३) में दी गई सारिणी में दखा जा सकता है।

१०. गान्धारग्राम में स-प, रि-प और म-नि में से किसी में भी संवादी श्रुत्यंतर नहीं है जबकि षड्जग्राम में स-प और म-नि में तथा मध्यमग्राम में रि-प और म-नि में संवाद है। तीनों ग्रामों की षड्ज से शुरू होने वाली स्वरावलियों में संवाद की दृष्टि से निम्न द्रष्टव्य है—

(अ) षड्जग्राम में षड्ज के दो संवादी स्वर म और प हैं, ध के दो संवादी म और रि हैं, नि के दो संवादी म और ग हैं तथा म के तीन संवादी स्वर स, ध और नि हैं। रि और ग के क्रम से एक-एक संवादी ध और नि हैं। सप्तश्रुत्यन्तर संवाद छोड़ दें तो ध का एक संवादी रि और म के दो संवादी स और नि हैं।

(आ) मध्यमग्राम में षड्जग्राम की तरह म के तीन संवादी और ध तथा नि के दो-दो संवादी ज्यों के त्यों हैं। लेकिन रि के दो संवादी प और ध, ग के दो संवादी प और नि तथा प के दो संवादी ग और रि हैं। सिर्फ़ स का एक ही संवादी म है। सप्तश्रुत्यंतर का ग्रहण न करें तो म के दो, ध का एक, ग का एक और प का एक संवादी है।

(इ) गांधारग्राम में म के दो संवादी स्वर हैं रि और स, रि के दो संवादी म और ध, ग के दो संवादी ध और नि, ध के दो संवादी ग और रि तथा नि के दो संवादी प और ग हैं। लेकिन स का संवादी केवल म और प का केवल नि है। म का उत्तरांग में और प का पूर्वांग में कोई संवादी नहीं है। सप्तश्रुत्यंतर छोड़ दें तो म का एक स, रि का एक ध और नि का एक ग है। यों तो प का भी नि से सप्तश्रुत्यंतर संवाद ही है अन्यथा प का एक भी संवादी नहीं है।

११. षड्जग्राम में दो स्थानों पर पंचश्रुति अंतर है—स-ग और प-नि। लेकिन गान्धारग्राम में प-नि अंतर सप्तश्रुतिक हो जाने के कारण गौण रूप से संवादी बन जाता है और स-ग अंतर षट्श्रुतिक हो जाता है।

१२. षड्जग्राम और मध्यमग्राम में द्विश्रुत्यन्तर वाले दो-दो विवादी अन्तराल हैं रि-ग और ध-नि। लेकिन ये दोनों गांधारग्राम में चतुःश्रुतिक हो जाते हैं और स-रि द्विश्रुतिक विवादी अंतर बन जाता है।

१३. षड्जग्राम और मध्यमग्राम में षड्ज से शुरू होने वाले सप्तक में मध्यम का विशेष स्थान है क्योंकि इन दोनों में वह सप्तक के ठीक मध्य में है और इसलिये 'मध्यम' संज्ञा को सार्थक करता है। इन दोनों ग्रामों में वह प्रवर, अलोपी, अनाशी माना गया है। लेकिन गांधारग्राम में मध्यम यह विशेषता खो देता है क्योंकि इसमें स-म ९ श्रुतिक और म-नि १० श्रुतिक अन्तराल है।

१४. षड्जग्राम के सरिगमपधनि में मध्यम मध्यस्थ स्वर है। मध्यमग्राम के मूल सप्तक मपधनिसरिग में वही स्वर निषाद के रूप में मध्यस्थ बना रहता है तथा गांधारग्राम के मूलसप्तक गमपधनिसरि में वही मध्यम ध बनकर मध्यस्थ हो जाता है। तीनों ग्रामों के अपने-अपने मूल सप्तकों में चौथा स्वर सप्तक के प्रथम और अन्तिम स्वर से ९-९ श्रुतियों के अन्तर पर है, यद्यपि मध्यमग्राम और गान्धारग्राम में इन मध्यस्थ स्वरों की संज्ञा मध्यम नहीं है। यथा—

षड्जग्राम स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि
(स से म: ९) (म से नि: ९)

मध्यमग्राम म — — प — — — ध — नि — — — स — — रि — ग
(म से नि: ९) (नि से ग: ९)

गान्धारग्राम ग — — म — — प — — ध — — — नि — — स — रि
(ग से ध: ९) (ध से रि: ९)

१५. तीनों ग्रामों के आरंभक स्वर चतुःश्रुतिक हैं।

१६. तीन ग्रामों को क्रमशः स, म और ग से आरंभ करने पर उन ग्रामों के केवल तीसरे-तीसरे स्वरों के स्थान में अन्तर

आता है, शेष सारे स्वरों के श्रुत्यन्तर तीनों ग्रामों में एक से रहते हैं। षड्जग्राम का तीसरा स्वर ग पूर्ववर्ती स्वर से दो श्रुति के अन्तर पर, मध्यमग्राम का तीसरा स्वर ध पूर्ववर्ती स्वर से चार श्रुत्यन्तर पर और गान्धारग्राम का तीसरा प पूर्ववर्ती म से तीन श्रुतियों की दूरी पर स्थित है। परिणामस्वरूप तीसरे और चौथे स्वरों में श्रुत्यन्तर तो भिन्न हो जाता है लेकिन चौथे स्वर की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता और वह तीनों ग्रामों में प्रथम स्वर से ९ श्रुति की दूरी पर ही रहता है।

१७. आज के प्रयोगगत शुद्ध स्वरों की दृष्टि से गांधारग्राम के प और नि एक-एक श्रुति नीचे हैं। यह निषाद षड्जग्राम का कैशिक और आज का कोमल निषाद है जिसका मध्यम से १० श्रुति का अन्तर होता है इसलिए म-नि में संवाद नहीं है। जैसे—

वर्तमान शुद्ध स्वर सा — — — रे — — ग — म — — — प — — — ध — — नि — स

षड्जग्रामिक स्वर स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि — — — स

गांधारग्रामिक स्वर स — रि — — — ग — — म — — प — — ध — — — नि — — स

१० १०

१८. पंचम को छोड़कर गांधारग्राम के शेष स्वर आज की भैरवी जैसे हैं—

भैरवी स — रे॒ — — — ग॒ — — म — — — प — ध॒ — — — नि॒ — — स

२ ४ ३ ४ २ ४ ३

गान्धारग्राम स — रि — — — ग — — म — — प — — ध — — — नि — — स

२ ४ ३ ३ ३ ४ २

१९. गांधारग्राम में वे गान्धार-निषाद नहीं हैं जो षड्जग्राम और मध्यमग्राम के मूल गांधार-निषाद हैं जिनके आधार पर साधारण और अन्तर ग तथा कैशिक और काकली नि प्राप्त होते हैं। गान्धारग्राम का ग मध्यमग्राम का साधारण ग और नि दोनों ग्रामों का कैशिक नि है।

२०. गांधारग्राम में गांधार और निषाद अपने पूर्ववर्ती रि और ध से ४-४ श्रुतियों के अन्तर पर स्थित हैं इसलिए इन्हें १-१ श्रुति चढ़ाकर अन्तर और काकली का प्रयोग इस ग्राम में संभव नहीं है क्योंकि किन्हीं दो क्रमिक स्वरों के बीच ४ श्रुति से ज्यादा का अन्तर ग्राह्य नहीं होता। यह निषाद पंचम से ७ श्रुत्यन्तर पर होने से उसके साथ संवाद करता है लेकिन स से ३ श्रुति नीचे होने से वास्तव में कैशिक नि है। अगर इसे एक श्रुति चढ़ाकर काकली बना भी दें तो उसका एक भी संवादी स्वर न होने के कारण वह प्रयोग के योग्य नहीं रहेगा।

नान्यदेव ने गांधारग्राम के लोप का जो कारण दिया है उसका आशय ग्रन्थ से स्पष्ट नहीं होता और न ही अन्य किसी ग्रंथकार ने कोई कारण बताया है लेकिन लोप के नीचे लिखे कारण हो सकते हैं—

१. षड्जग्राम और मध्यमग्राम में मध्यम का जो 'मध्यमत्व' है वह गांधारग्राम में नष्ट हो गया है। पूर्वोक्त दो ग्रामों में मध्यम का प्रथम और अन्तिम स्वर से ९-९ श्रुति का अन्तर है लेकिन गांधारग्राम में अन्तिम स्वर से १० श्रुतियों का अन्तर है यथा—

षड्जग्राम स — — रि — ग — — — म — — — प — — ध — नि

९ ९

मध्यमग्राम स — — रि — ग — — — म — — प — — — ध — नि

९ ९

गान्धारग्राम स — रि — — — ग — — म — — प — — ध — — — नि

९ १०

इस कारण दोनों ओर के त्रिकों का संतुलन बिगड़ गया है।

२. इस मध्यम के संवादी स्वर पूर्वांग में तो दो हैं लेकिन उत्तरांग में एक भी नहीं है। संभवतः इस कारण प्रवरत्व और अनाशित्व समाप्त हो गया जो साम और लौकिक—दोनों परंपराओं में अनिवार्य था।

३. पंचम का षड्ज और ऋषभ दोनों से ही संवाद टूट गया और गांधार से भी ६ श्रुतियों का अन्तर है इसलिए पूर्वांग में इस पंचम का एक भी संवादी स्वर नहीं है। फलस्वरूप पूर्वांग से इसका संबंध टूट गया। उत्तरांग में भी निषाद से सप्त श्रुत्यंतर है जो षड्ज-पंचम या षड्ज-मध्यम संवाद जैसा पुष्ट नहीं है। दूसरे शब्दों में, इस पंचम को किसी भी प्रमुख संवाद के द्वारा अच्छी तरह पुष्ट करने वाला एक भी स्वर नहीं है।

४. भरतोक्त अन्तर-काकली स्वरों का इस ग्राम में प्रयोग संभव नहीं है।

५. पृथ्वीलोक से गांधारग्राम के लोप की जो चर्चा प्रायः सभी ग्रंथकारों ने की है उसका सीधा अर्थ यह है कि प्रयोग में ऐसे गेय रूप नहीं रह गए जिनमें मध्यम का उत्तरांग में और पंचम का पूर्वांग में एक भी संवादी स्वर न हो। दो ग्रामों का अस्तित्व बना रहना ही इस तथ्य का सूचक है कि लक्ष्य में ऐसे राग थे जिनमें षड्ज अथवा ऋषभ के साथ पंचम संवादी बनकर प्रयुक्त होता था यानी दो प्रकार के पंचम थे। दोनों ग्रामों की जाति, राग आदि में स्वरों में परस्पर संवाद के कारण उनका प्रयोग सहजता से हो सकता था। लेकिन गांधारग्राम में सभी स्वरों में उस तरह संवाद न होने के कारण उनका प्रयोग करना सहज और सरल नहीं रह गया होगा और स्वरों में विस्वरता आती होगी।

६. अतितारत्व और अतिमन्द्रत्व का जो उल्लेख नान्यदेव ने किया है वह संभवतः इसका संकेतक है कि गांधारग्राम के गेय रूपों में तार और मन्द्र में अत्यधिक प्रयोग होता हो अथवा अतितार (तार सप्तक से भी ऊपर) और अतिमन्द्र (मन्द्र सप्तक से भी नीचे) स्वरों का प्रयोग होता हो और इस कारण प्रयोग की दृष्टि से रंजक न हों। इसीलिए भरत परंपरा में तीन स्थानों से ज्यादा के प्रयोग की स्वीकृति नहीं है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से तीनों ग्रामों में अनेक समानताएँ और संबंध होते हुए भी गांधारग्राम का प्रयोग से लोप हो जाने के अन्य कारण भी हो सकते हैं जो आज ज्ञात नहीं है।

*

परिशिष्ट—घ

मूर्च्छनाभेदों का स्पष्टीकरण

भारतीय संगीत के सभी मूल सिद्धान्तों की तरह मूर्च्छना-भेद का मूल आधार भी भरतकृत नाट्यशास्त्र में है। उसका मूर्च्छना-संबंधी निम्न अंश द्रष्टव्य है—

एवमेताः स्वरक्रमयुक्ताः संपूर्णाः षाडवौडुवीकृताः स्वरसाधारणकृताश्चेति मूर्च्छनाश्चतुर्दश भवन्ति। अपि च—

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिताः।
षट्पञ्चस्वरकास्ताना: षाडवौडुविताश्रयाः॥
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलङ्कृताः।
अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः॥ (ना० शा०, खण्ड ४, पृ० २५)

अर्थ है—इस प्रकार स्वरक्रमयुक्त ये १४ मूर्च्छनाएँ संपूर्णा, षाडवीकृता, औडुवीकृता और साधारणकृता होती हैं। और भी (कहा गया है कि)—क्रमयुक्त सात स्वर मूर्च्छना कहे जाते हैं। षाडवित और औडुवित के आश्रित ६ और ५ स्वर वाली (मूर्च्छनाएँ) तान तथा काकली से अलंकृत और अंतर स्वर से संयुक्त साधारणकृता (मूर्च्छना) भी दोनों ग्रामों में होती हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि गद्यखण्ड में मूर्च्छना के लिए 'सप्तस्वर' का उल्लेख नहीं है और चार भेदों में से पहला भेद 'संपूर्ण' कहा है।

ऊपर उद्धृत अंश में श्लोकों में ६ और ५ स्वर वाले मूर्च्छना प्रकारों के लिए भरत द्वारा प्रयुक्त 'तान' संज्ञा ने २०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मूर्च्छना भेदों के बारे में एक अलग दृष्टिकोण को जन्म दिया। ऊपर गद्यखंड में मूर्च्छना के ४ भेद—संपूर्ण, षाडव, औडव और साधारणकृत कहे गए। श्लोकों में ६ और ५ स्वर वाले प्रकारों को तान कहा गया तथा 'साधारणकृताः' के साथ-साथ 'काकलीसमलङ्कृताः' और 'अन्तरस्वरसंयुक्ता'—इन दो समस्त पदों का प्रयोग हुआ है। मूर्च्छना के ४ भेद तो सभी शास्त्रकारों ने कहे और आधुनिक लेखकों ने भी ये भेद स्वीकार किए। किन्तु षाडव-औडव के लिए तान शब्द के प्रयोग ने इस धारणा को उभारा कि 'सप्तस्वरता' ही मूर्च्छना का मूल लक्षण है इसलिए षाडवादि को मूर्च्छना के भेद स्वीकार न करके भरत ने इन्हें तान कहा और साधारणकृता यानी अंतर-काकली दोनों से युक्त, काकलीयुक्त और अन्तरयुक्त—इस प्रकार सप्तस्वर शुद्धा मूर्च्छनाओं के अलावा तीन भेद और कहे। इस धारणा को आधार मिला शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर के निम्न श्लोकों में—

क्रमात्स्वराणां सप्तानाम् आरोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते, (१/४/३)
चतुर्धा: ताः पृथक्शुद्धाः काकलीकलितास्तथा।
सान्तरास्तद्द्वयोपेताः षट्पञ्चाशदितीरिताः॥ (वही, १६)
तानाः स्युर्मूर्च्छनाः शुद्धाः षाडवौडुवितीकृताः। (वही, २७)

इन श्लोकों में क्रमयुक्त ७ स्वरों के आरोहावरोह को मूर्च्छना और शुद्धा मूर्च्छनाओं के षाडव-औडव भेदों को तान कह

कर मूर्च्छना से अलग किया है और मूर्च्छना के ४ भेद शुद्धा, काकलीकलिता, सान्तरा और अन्तरकाकलीसहिता बताए गए हैं। यहाँ स्पष्टतः सप्तस्वरता को मूर्च्छना का मूललक्षण मान कर पाडव-औडव प्रकारों को मूर्च्छना स्वीकार न करते हुए 'तान' कहा है।

संगीतरत्नाकर के इस वर्गीकरण के कारण एक ऐसा मत भी बना कि भरत का उपर्युक्त गद्यखंड प्रक्षिप्त है। श्लोकों का अर्थ इस तरह से किया गया जिससे ६ और ५ स्वर वाले भेद मूर्च्छना नहीं बल्कि तान माने गए तथा मूर्च्छना के ये ४ भेद कहे गए—शुद्धा, अन्तरकाकली युक्त यानी साधारणकृता, केवल काकलीयुक्ता और केवल अंतरगांधारयुक्ता।

मूर्च्छनाभेदों पर विचार करने वाले इन ५ आधुनिक लेखकों के आधार पर यहाँ चर्चा की जायगी—पं० ओंकारनाथ ठाकुर, आचार्य बृहस्पति, श्री० चैतन्य देसाई, डॉ० परांजपे और डॉ० तारळेकर। इनकी जिन पुस्तकों से उनके विचार संकलित किए हैं उनके नाम कालक्रम के अनुसार इस प्रकार हैं—

१. पं० ओंकारनाथ ठाकुर—संगीतांजलि, भाग ५, १९५८

२. आचार्य बृहस्पति—भरत का संगीत सिद्धान्त, १९५९

३. श्री चैतन्य देसाई—'भरतभाष्यम्' में संबंधित टिप्पणियाँ, १९६१

४. डॉ० परांजपे—भारतीय संगीताचा इतिहास (मराठी अनुवाद), १९७५

५. डॉ० तारळेकर—'संगीतरत्नाकर' का मराठी अनुवाद, १९७५

संक्षेप में इन लेखकों के मूर्च्छनाभेद-संबंधी विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

१. पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने ही सबसे पहले विचार किया है। उन्होंने भरत के श्लोक और गद्यांश उद्धृत करके स्पष्टतः पूर्णा, षाडवीकृता, औडवीकृता और साधारणकृता—ये भेद कहे हैं। साथ ही यह भी कहा कि ग्राम की मूल स्वरावलि में केवल अन्तर गान्धार का अथवा केवल काकली का अथवा दोनों का एकसाथ समावेश करने से साधारणकृता मूर्च्छना ही सान्तरा, सकाकली और सकाकल्यन्तरा—यों तीन प्रकार की कही जा सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि रत्नाकर ने इन्हीं उपभेदों को लेकर मूर्च्छनाभेदों का निरूपण किया है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भरत के गद्य और श्लोकों में दो भिन्न भेदों के निरूपण की कल्पना नहीं की।

२. आचार्य बृहस्पति भरत के संबंधित अंश में दो भिन्न मूर्च्छना-भेद मानते हैं। उन्हें इनमें से षाडवादि भेदों की पुष्टि मतंग, दत्तिल के वर्गीकरण में और सान्तरादि की पुष्टि शार्ङ्गदेव में दिखाई देती है। वे.ना०शा० के गद्यखण्ड को प्रक्षिप्त मानते हैं। श्लोकों के आधार पर सप्तस्वरता को मूर्च्छना का अनिवार्य लक्षण मानने के कारण षाडव-औडव उनकी दृष्टि में मूर्च्छना का भेद नहीं। भरत के श्लोक में 'षट्पञ्चस्वरकास्ताना:' के स्थान पर उन्होंने ………स्वरकास्तासां पाठ लिया है जिसका अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है कि षाडवित और औडुवित शुद्ध (अविकृत स्वर) मूर्च्छनाओं से उत्पन्न होने वाले रूप हैं जिनकी संख्या चौरासी और नाम 'तान' है। इस पाठ में तान शब्द न आने से उन्हें अर्थ करते समय तान शब्द और चौरासी संख्या जोड़नी पड़ी है। उन्हें शार्ङ्गदेव वाला वर्गीकरण भरत के अनुसार प्रतीत होता है क्योंकि भरत के श्लोकों का अर्थ करते हुए वे षाडव-औडवादि को तान कहते हैं और अन्तर, काकली तथा दोनों से युक्त—इन तीनों को मूर्च्छनाभेद मानते हैं।

३. श्री चैतन्य देसाई ने पं० ओंकारनाथ जी के मत पर कोई टिप्पणी न करते हुए भी वही वर्गीकरण भरत के श्लोकों के आधार पर सही माना है और बृहस्पति जी का नाम लिए बिना उनके तर्कों का खंडन यह कह कर किया है कि गद्यखंड

के बाद उसके स्पष्टीकरण के लिए श्लोक आए हैं इसलिये पूर्वोक्त अंश प्रक्षिप्त नहीं है। यह भी कहा कि श्लोकों में साधारणकृता चौथा भेद है और उसी का स्पष्टीकरण काकलीसमलङ्कृता आदि के द्वारा किया है, इन्हें तीन भेद नहीं कहा गया है।

लेकिन साधारणकृता मूर्च्छना के अंतरयुक्त और काकली युक्त—ये दो उपभेद बताने का जो कारण श्री० देसाई ने दिया है उसमें वे चूक गए हैं। उनके अनुसार साधारणकृता मूर्च्छनाओं में से काकलीयुक्त का प्रयोग केवल षड्जग्राम में और अन्तरगांधारयुक्त साधारणी मूर्च्छना का मध्यमग्राम में ही प्रयोग होगा। इस कारण् वे वर्तमान काल के लेखकों के इस अर्थ को भ्रामक मानते हैं कि अन्तर-काकली युक्त मूर्च्छनाएँ दोनों ग्रामों में होती हैं।

उनके इस कथन से यह साफ़ है कि वे अंतर और काकली स्वरों को और दोनों ग्रामों में इन दोनों के प्रयोग के विधान को नहीं समझ सके हैं। भरत के अनुसार अन्तर और काकली का प्रयोग दोनों ग्रामों में विहित है।

इस आधार पर यह कह सकते हैं कि भरत के श्लोकों का उन्होंने जो अर्थ किया उसमें और साधारणकृता के स्पष्टीकरण में वे सामंजस्य नहीं रख सके।

४. डॉ० परांजपे ने भरत का गद्यांश उद्धृत करके उसके आधार पर षाडव-औडव को मूर्च्छनाभेद स्वीकार किया है। श्लोकों की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की यद्यपि ये श्लोक नाट्यशास्त्र के सभी संस्करणों में हैं। उनकी पुस्तक के प्रकाशन से पहले संगीतांजलि और भरत का संगीत सिद्धान्त प्रकाशित हो चुके थे जिनमें मूर्च्छना-भेद के बारे में स्पष्टतः दो भिन्न मत हैं, हालाँकि डॉ० परांजपे ने अन्यत्र इनके मतों पर टिप्पणी की है।

५. डॉ० तारळेकर ने भरत के गद्यखंड का उल्लेख नहीं किया है और न ही मूर्च्छनाभेदों पर भिन्न मतों का संकेत दिया है। उन्होंने भरत, दत्तिल, मतंग और नान्यदेव के आधार पर षाडवादि मूर्च्छनाभेदों का उल्लेख मात्र किया है।

यह स्मरणीय है कि नाट्यशास्त्र के २८वें अध्याय पर अभिवभारती टीका का प्रकाशन पं० ओंकारनाथ जी, आचार्य बृहस्पति और श्री० देसाई की पुस्तकों के प्रकाशन के बाद १९६४ ई० में हुआ था। संगीतशास्त्र के अध्येता इस तथ्य को स्वानुभव से जानते हैं कि अभिनवभारती के बिना नाट्यशास्त्र को पूरी तरह समझना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में मूल ना०शा० और अन्य ग्रंथों के आधार पर ही इन लेखकों के द्वारा मूर्च्छना-भेदों पर विचार हुआ है।

हमारी दृष्टि से भरत के लिये मूर्च्छना का मुख्य लक्षण स्वरों का क्रमयुक्त होना है जो गद्यांश में स्पष्ट है। उस अंश में मुख्य वाक्य यह है—*'एवमेताः स्वरक्रमयुक्ताः मूर्च्छनाश्चतुर्दश भवन्ति'* अर्थात् इस स्वरक्रम से युक्त चौदह मूर्च्छना होती हैं। बीच के अंश में ये चार भेद कहे हैं—संपूर्णा, षाडवीकृता, औडुवीकृता और साधारणकृता। यहाँ ७, ६, ५ और साधारित स्वरों के आधार पर मूर्च्छनाओं के ४ भेद कहे गए जिनमें से पहले तीन भेद संख्या पर आधारित हैं और अन्तिम भेद स्वरों की अवस्था पर।

ऊपर कहे गए वाक्य में 'एवमेताः' पूर्व और परवाक्य को जोड़ता है। इसलिये इसके द्वारा यह सूचित होता है कि जो स्वरक्रम इस वाक्य से पहले बताया गया है उस स्वरक्रम से युक्त दोनों ग्रामों की चौदह मूर्च्छनाएँ चार प्रकार की होती हैं। 'अपि च' के द्वारा भरत ने गद्य में कहे गए मूर्च्छना-भेदों की पुष्टि के लिए ही संग्रह श्लोक दिए हैं। श्लोकों में भी वही चार भेद हैं जो उससे पहले वाक्य में कहे गए। लेकिन श्लोक में षट्स्वर षाडवित और पञ्चस्वर औडुवित मूर्च्छनाओं को तान भी कहा। इसके समर्थन में हमारे तर्क ये हैं—

१. भरत ने सप्तस्वरता को नहीं बल्कि क्रमयुक्तता को मूर्च्छना का मूल लक्षण माना है इसीलिए गद्यांश में 'स्वरक्रमयुक्ताः' और श्लोक में भी 'क्रमयुक्ताः स्वराः' है।

२. भेद बताते समय गद्य में 'संपूर्णा' कहा और श्लोक में 'स्वराः' के साथ 'सप्त' है जो यह सूचित करता है कि पहला भेद सप्तस्वर है।

३. 'षाडवौडुवीकृताः' में 'कृताः' और 'षाडवौडुविताश्रयाः' में 'आश्रयाः' शब्द इन तानों को मूल सप्तस्वर मूर्च्छनाओं के भेद होना सूचित करता है।

४. आगे चलकर ८४ तानों के प्रसंग में भी भरत ने 'मूर्च्छनाश्रितास्ताना:' के द्वारा इन तानों को मूर्च्छना के भेदों के रूप में ही निरूपित किया है।

५. संपूर्णा या मूल मूर्च्छनाओं के तुरन्त बाद षाडव-औडव भेदों को रखना भी यही सूचित करता है कि ये मूल सप्तस्वर मूर्च्छनाओं के ही भेद हैं।

अभि० से भी यही व्यक्त होता है कि षाडवादि मूर्च्छनाभेद भरतसंमत है। संबंधित टीका के मुख्य अंश इस प्रकार है—

तत्र प्रत्येकं मूर्च्छनायाश्चत्वारो भेदा:। षड्जादिपूर्णा: सप्तस्वरा:, षट्स्वरा: षाडवा:। ....तत्प्रयोगात् पञ्चस्वरा औडुविका:................। तद्योगान्मूर्च्छना तथा। .... कदाचिच्चौडुवे एता इति स्वरलोपे चैकदेशविवृतत्वेऽप्यनन्यतया भासना सैवासौ मूर्च्छना। अल्पनिषादगान्धारप्रयोगे तु काकल्यन्तरस्वरयोगात्साधारणकृत एत वै कारिकाद्वयेन संग्रहीतुमाह— क्रमयुक्ता:........... षाडवौडुविकाश्रया:॥ इत्यादि।

सप्तेति पूर्णा इत्यर्थ:। क्रमयुक्ता इति क्रमेणारोहणं तथैव स्वराणामवरोहणेन च पुनरप्याहरणमितिक्रम:। तेन युक्ता: सम्यगाहिता:। तन्यते विचित्रीक्रियते प्रयोगविस्तरो यैस्ते ताना इति। मूर्च्छतिता? परिविशिष्टं नामैवं भेदत्रयं संगृह्य तुरीयभेदमाह साधारणकृताश्चेति। एवकारेण विकृतत्वेऽप्यनन्ततामाह। चकार उत्तरत्र संबध्यते। तल्लक्षयति काकलीसमलङ्कृता। अन्तरस्वरसंयुक्ता इति चकार एतदनन्तरं द्रष्टव्य:। उपसंहरति मूर्च्छना ग्रामयोरिति। (अभि०, खण्ड ४, पृ० २५-२६)

इस टीका का सार यह है कि प्रत्येक मूर्च्छना के चार भेद होते हैं। षड्ज आदि स्वरों से शुरू होने वाली मूर्च्छना पूर्ण यानी सप्तस्वर होती हैं। ६ स्वरों से युक्त मूर्च्छनाएँ षाडव और पाँच स्वरयुक्त औडव मूर्च्छना होती हैं। गान्धार-निषाद का अल्प प्रयोग होने पर अन्तर-काकली के योग से साधारणकृत मूर्च्छना होती है। दो श्लोकों में इन्हीं का संग्रह किया। 'सप्त' कहने का तात्पर्य है पूर्णा। 'क्रमयुक्त' का अर्थ है क्रम से आरोह और अवरोह। जिसके द्वारा प्रयोग के विस्तार में विचित्रता आती है वह तान है। इस प्रकार पूर्णा, षाडविता और औडुविता—ये तीन भेद कहकर चौथा भेद साधारणकृता कहा। ये चार भेद दोनों ग्रामों में होते हैं।

इस अंश से बिल्कुल स्पष्ट है कि गद्यांश की ही पुष्टि श्लोकों के द्वारा की गई है इसलिये दो भिन्न प्रकार के मूर्च्छना-भेदों की कल्पना भरत के उक्त अंश में करना अनुचित है और गद्यांश को प्रक्षिप्त भी नहीं माना जा सकता। भरत द्वारा मूर्च्छना-भेदों के लिये तान शब्द के प्रयोग की सार्थकता भी अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दी है।

भरत और शार्ङ्गदेव के बीच तीन प्रमुख ग्रंथकार और हैं—दत्तिल, मतंग और नान्यदेव। मूर्च्छना वर्गीकरण पर इनके मत भी देख लेना ज़रूरी है।

दत्तिल ने मूर्च्छनाभेदों पर कहा कि सभी (उत्तरमन्द्रादि १४) मूर्च्छनाओं के पूर्णा, षट्स्वरा, पञ्चस्वरा और साधारणकृता भेद होते हैं। इनमें से ६ और ५ स्वर वाली मूर्च्छनाओं को तान भी कहा जाता है।

मतंग ने मूर्च्छनाएँ दो प्रकार की कहीं—सप्तस्वर और द्वादशस्वर। सप्तस्वर मूर्च्छना के ४ भेद कहे—पूर्णा, षाडविता, औडुविता और साधारणा। उसने षाडव-औडव मूर्च्छनाओं के लिये तान शब्द का प्रयोग तो इन भेदों के निरूपण के समय नहीं किया लेकिन आगे चलकर मूर्च्छना और तान के अन्तर के संदर्भ में उसने कहा कि मूर्च्छना आरोह-अवरोहयुक्त होती है और तान केवल आरोह क्रम में। इस प्रकार सप्तस्वर मूर्च्छना और मूर्च्छनाभेद मतंग ने भरत के समान ही कहे।

नान्यदेव ने भी भरतोक्त ४ भेद ही कहे हैं।

वास्तव में स्वरसंख्या या स्वर के विभिन्न रूप ही मूर्च्छना-भेदों का आधार हैं। ये चारों प्रकार मूर्च्छना इसलिए कहे जाते हैं कि इनमें स्वर 'मूर्छित' होते हैं और तान कहे जाने का कारण यह है कि ये प्रयोग में विस्तार और विचित्रता लाते हैं। लेकिन चारों प्रकार स्वरक्रमयुक्त हैं इसीलिये षाडव-औडवादि को भी मूर्च्छना कहा गया।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि शार्ङ्गदेव का मूर्च्छनाभेद निरूपण भरत, दत्तिल, मतंग, अभिनवगुप्त आदि की परम्परा से भिन्न है।

*

परिशिष्ट—ङ

नाट्यशास्त्र में अलंकार-निरूपण

भरत ने नाट्यशास्त्र में तीन स्थानों पर अलंकार-निरूपण किया है—१. काव्यलक्षण के अन्तर्गत १६वें अध्याय में, २. पाठ्यविधि में १७वें अध्याय में और ३. गान्धर्व-गान के संदर्भ में २९वें अध्याय में।

काव्यलक्षण में भरत ने ३६ 'लक्षण' और ४ 'अलंकार' कहे। अभिनवगुप्त ने लक्षण और अलंकार के अन्तर को समझाते हुए कहा कि लौकिक स्वभाव से विद्यमान जो अर्थ कवि-व्यापार के बल से उत्पन्न होता है वही लक्षण है। काव्य में लक्षण को शरीर और अलंकार को उससे पृथक् होते हुए भी उसे सुंदर बनाने वाला कहा गया है जैसे रमणी से भिन्न हार आदि के द्वारा रमणी विभूषित होती है (अभि०, अ० १६, पृ० ३२१, पं० १०-१३)। जब शब्द या अर्थ के चमत्कार से अर्थ का उत्कर्ष होता है तब वहाँ अलंकार होता है और जब इनके बिना ही विशेष अर्थ व्यक्त हो जाता है तो लक्षण होता है। मदमन्थरगामिनी, श्यामा, विशालाक्षी आदि रमणी के लक्षण हैं जो उसके शरीर से अभिन्न रहते हुए उसके सौंदर्य को व्यक्त करते हैं। लेकिन हार, कंकण आदि शरीर पर अलग से पहनाए गए अलंकार हैं जो शरीर का अंग नहीं हैं और जिनके न रहने से शरीर की सहजात सुन्दरता कम नहीं हो जाती लेकिन पहनाने पर सौंदर्य में वृद्धि होती है। इस रूप में अलंकार सौंदर्य में परिपूर्णता लाते हैं। जिस तरह लक्षणरहित नारी के अलंकार शोभित नहीं होते उसी तरह लक्षण के बिना अलंकारयुक्त काव्य भी शोभावह नहीं होता (वही, पृ० २९५, पं० १८-२०)। दूसरी ओर अलंकारों के न होने पर भी लक्षण निरर्थक नहीं हैं (वही, पृ० ३२२, पं० १२-१३)।

'काकुस्वरव्यञ्जन' नामक १७वें अध्याय में 'पाठ्यविधि' के अन्तर्गत भरत ने ६ अलंकारों का निरूपण किया है—स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग। इन्हें 'गुण' भी कहा है। अलंकार और गुण शब्दों की व्याख्या करते हुए अभिनव ने कहा कि इन ६ अलंकारों से भूषित हुआ काव्य पाठ्य कहलाता है। अभिनव के अनुसार गुण ऐसे उपकारक हैं जिनसे उपकृत होकर यानी विशेष संयोग पाकर काव्य पाठ्य बन जाता है (वही, पृ० ३८५, पं० १३-१४)। अलंकारों को पाठ्य के गुण कहने का अर्थ यह है कि इन अलंकारों के न होने पर पाठ्य नहीं काव्य ही कहा जायगा। लेकिन ये लक्षण की तरह काव्य से अभिन्न नहीं है बल्कि शरीर को अलग से पहनाए गए आभूषणों के समान हैं जो शरीर के सौंदर्य को पूर्ण बनाते हैं। इसलिए इन अलंकारों और काव्य में अलंकार-अलंकार्य संबंध हैं; इनमें वह संबंध नहीं है जो लक्षण और शरीर में होता है।

२९वें अध्याय में भरत ने स्थायी आदि वर्णों में से हरेक के अन्तर्गत अलंकारों के नाम गिना कर उन्हें सामान्य रूप से गीतकों में प्रयुक्त होने वाले अलंकार कहा और उनमें से जिन अलंकारों में कर्षण बहुत है उनके प्रयोग का ध्रुवा में निषेध करके उसके लिए उपयुक्त अलंकारों का विशेष रूप से निरूपण किया। पद के अक्षरों का ज्यादा कर्षण होने पर यानी स्वरों के द्वारा उन्हें लम्बाने पर अक्षरों के दूर-दूर हो जाने से अर्थबोध नहीं होता। गान के द्वारा अर्थबोध और रसभाव की अनुभूति अनिवार्य मानी गई है क्योंकि नाट्य में गीति का प्रयोग रसानुभूति को उत्कट बनाने के लिये ही किया जाता है। इसलिये गान (ध्रुवा का गेय रूप) में उन्हीं अलंकारों का प्रयोग किया जा सकता है जो अर्थसंप्रेक्षण और भावबोध में सहायक हों, बाधक न हों। यहाँ अलंकारों का प्रयोग पदयुक्त गीति को ज्यादा प्रभावपूर्ण बनाने के लिए होता है इसलिए अभिनव ने पदाश्रित गीति

को ही अलंकार्य कहा (वही, पृ० ८५, पं० १६)। दूसरी ओर गीतकों का मुख्य प्रयोजन अर्थ-भाव का संप्रेक्षण न होने के कारण उनमें ऐसे अलंकारों के प्रयोग की भी छूट है जिनमें अक्षरों का कर्षण ज्यादा होता है।

भरत द्वारा ध्रुवा के लिए कहे गए अलंकारों में कुछ नाम ये हैं—प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नमध्य, प्रसन्नाद्यन्त, सम, प्रसाद, रेचित, कम्पित। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत की दृष्टि में ये अलंकार केवल विशिष्ट स्वरक्रम नहीं हैं बल्कि ध्वनि की तीव्रता और उच्चारण-भेदों से भी संबंधित हैं। इस दृष्टि से कुछ अलंकारों के भरतोक्त लक्षण विचारणीय हैं।

प्रसन्नादि अलंकार का लक्षण भरत के अनुसार 'क्रमशः दीपित' है (ना०शा०, २९/३३)। 'सम' का लक्षण है—एक ही स्वर पर स्थित रहते हुए भी 'दीपन' का 'सर्वसाम्य' होना यानी शुरू से अन्त तक समान दीपन (वही, ३५)। 'प्रसाद' का लक्षण है—जिसमें स्वर प्रसन्नान्त होता है (वही, ४२)। दीपन, दीपित, दीप्त, दीप्ति आदि शब्द 'दीप्' धातु से बनते हैं जिसके अर्थ हैं—चमकना, जलना, प्रकाशित होना, दहकना, बढ़ना आदि। ध्वनि के संदर्भ में बढ़ना और प्रकाशित होना—ये दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। बढ़ना तारता और तीव्रता दोनों में संभव है और प्रकाशित होना ध्वनि के प्रभाव से संबद्ध है। प्रसन्नादि अलंकार में 'क्रमशः दीपित' का अर्थ तारता का बढ़ना भी हो सकता है और तीव्रता का भी। क्रमशः तारता के बढ़ने का अर्थ ही है स्वरों का आरोहण जो आरोही वर्ण में है ही। इसलिए तारता के संदर्भ में 'क्रमशः' शब्द सार्थक नहीं लगता। लेकिन अगर तीव्रता का क्रमशः बढ़ना समझें तो यह विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि ध्रुवा में भावाभिव्यक्ति के लिए तीव्रता विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है।

सम अलंकार में भी 'दीपन के सर्वसाम्य' के द्वारा तीव्रता समझी जा सकती है। अगर 'सर्वसाम्यात्' से तारता एक ही होना समझें तो इसका अर्थ होगा किसी एक ही स्वर का प्रयोग जो इस अलंकार के लक्षण में 'स्थितस्त्वेकस्वरोऽपि' के द्वारा कहा ही गया है। यहाँ प्रयुक्त 'अपि' (यानी 'भी') किसी अन्य विशेषता पर बल का सूचक है। इसलिये 'सर्वसाम्यात्' के प्रयोग के कारण 'दीपन' यानी तीव्रता का एक सा रहना अभिप्रेत हो सकता है। हालाँकि अभिनव ने दीपन का अर्थ 'तारता' किया है (अभि०, खण्ड ४, पृ० ८८, पं० २५) लेकिन 'क्रमशः' विशेषण के कारण प्रसन्नादि अलंकार में तीव्रता का संकेत भी जान पड़ता है।

'प्रसाद' अलंकार पर अभिनव की व्याख्या का वह अंश इस संदर्भ में ख़ास तौर पर ध्यान देने योग्य है जिसमें स्वर के 'भर्त्सन-रोधन-दीपन-वेदन-कम्पन-वलन-लयन-नयनस्फुरण' आदि धर्म वाले भरणादि का आरंभ में यथायोग्य प्रयोग करके अन्त में दीप्ता, आयता आदि विशेष स्वरश्रुति में ही समाप्त करने की चर्चा प्रसाद अलंकार में की गई है (वही, पृ० ९०, पं० २०-२१)। श्रुतिजाति में दीप्ता आदि स्वरध्वनियों के ऐसे नाम हैं जो उन ध्वनियों के प्रभाव से संबद्ध हैं। भर्त्सन-रोधन आदि भी 'भरण' यानी भरावयुक्त ध्वनि के ऐसे धर्म हैं जिनका संबंध ध्वनि के ऊँचे-नीचेपन अर्थात् तारता की अपेक्षा तीव्रता या विशेष-गुण (timbre) और फलतः समग्र प्रभाव या गुण से ज्यादा है।

'भरण' शब्द 'भृ' धातु से बना है। इसी धातु से 'भृत' शब्द भी बनता है जो सं० र० में स्थाय का एक भेद कहा गया है (सं०र०, ३/१३२)। 'भृत' की व्याख्या सिंह० ने इस प्रकार की है—*'ध्वनेर्भरणात् पूरणात् घनत्वेनोच्चारणात् भृतसंबन्धिनः'* (वही, पृ० १८०, पं० ८)। ध्वनि का भरण यानी पूरण अथवा घनता के साथ उच्चारण स्पष्टतः ध्वनि की तीव्रता से संबंधित है। अभि० द्वारा प्रसाद अलंकार की व्याख्या में प्रयुक्त 'भरणादि' का भी यही अर्थ है।

'पाठ्यविधि' में 'अंग' नामक अलंकार का एक भेद 'दीपन' है जिसका लक्षण भरत के अनुसार यह है—*'दीपनं नाम त्रिस्थानशोभि वर्धमानस्वरं चेति'* (ना०शा०, अ० १७, पृ० ३९७, पं० ५)। यहाँ तीनों स्थानों को शोभित करने वाला या तीनों स्थानों में शोभित होने वाला वर्धमानस्वर 'दीपन' है। 'वर्धमान' का अर्थ है 'बढ़ने वाला' जो तीव्रता के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है, हालाँकि अभिनव ने दीपन का अर्थ आरोहण किया है। इस प्रकार गान्धर्व के अलंकारों में अभिनव ने दीपन का अर्थ तारता और पाठ्य के अलंकारों में आरोहण किया है, वस्तुतः दोनों का आशय एक ही है। इस बारे में यह स्पष्ट करना उचित है कि यद्यपि तारता और तीव्रता ध्वनि के दो भिन्न धर्म हैं लेकिन एक दूसरे से असंबद्ध नहीं। तारता के बढ़ने की क्रिया आरोह है। तारता बढ़ने के साथ तीव्रता भी अपने आप बढ़ जाती है और अवरोह में यानी तारता घटने के साथ तीव्रता भी घटती है। यह प्राकृतिक और वैज्ञानिक तथ्य है। 'प्रसन्न' संज्ञा वाले सभी अलंकारों में दीपन का बढ़ना-घटना कहा गया है। प्रसाद

अलंकार में 'प्रसन्नान्तस्वर'—यह लक्षण प्रसन्नान्त अलंकार के समान है। दोनों में यह अन्तर समझा जा सकता है कि शायद प्रसन्न संज्ञा वाले अलंकारों में केवल तीव्रता का बढ़ना-घटना अभिप्रेत है जबकि प्रसाद अलंकार में भर्त्सन-रोधन आदि के अनुरूप ध्वनि का भरण आदि यानी उच्चारण भेद (काकु) भी। दीपन के विपरीत प्रशमन नामक अलंकार में 'तार में गए हुए स्वरों को प्रशमित करना'—यह भी संभवतः इसीलिए कहा गया है कि अवरोह करते समय स्वरों की तीव्रता भी कम हो जाती है। सम अलंकार प्रसन्न और प्रसाद अलंकार के बीच की स्थिति का है इसलिए उसमें दीपन का 'सर्वसाम्य' कहा गया है।

अभिनव द्वारा 'दीपन' का अर्थ तारता और 'प्रसाद' का अर्थ मन्द्रता इस दृष्टि से उचित है कि इन अलंकारों में क्रमशः स्वरों का चढ़ना-उतरना अपेक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अर्थ उसने मतंग के अनुसार किया है क्योंकि मतंग ने 'प्रसन्न' को मन्द्र का पर्याय मानकर ही लक्षण और प्रस्तार दिए हैं। किन्तु मतंग द्वारा 'मन्द्रशब्देन प्रसन्नध्वनिरुच्यते'—इस प्रकार मन्द्र का अर्थ प्रसन्नध्वनि करने में ध्वनि की उज्ज्वलता या भराव आदि को व्यक्त करने वाले तीव्रता आदि का संकेत है।

इस चर्चा के आधार पर हमारी धारणा यह है कि भरत के अलंकार ध्वनि के सभी पक्षों को अन्तर्भूत करते हैं। लेकिन ध्रुवासंबंधी अलंकारों में ध्वनि की तीव्रता आदि पर बल है यद्यपि वे गीति यानी वर्णाधारित स्वर प्रयोग को अलंकृत करते हैं। इसी रूप में उनकी अलंकार संज्ञा सार्थक है।

गीति में अलंकार के महत्त्व को प्रकट करने वाला भरत का यह लोक द्रष्टव्य है—

शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव।
अविभूषितेव च स्त्री गीतिरलङ्कारहीना स्यात्॥ (ना०शा०, २९/४५)

अर्थात् अलंकार रहित गीति उसी प्रकार है जिस प्रकार चन्द्रमा के बिना रात, जल के बिना नदी, फूलों से विहीन लता और आभूषणों के बिना नारी। इसकी अभिनव ने यह व्याख्या की—अलंकार वर्णों को कभी उज्ज्वल बनाता है (जैसे चन्द्रमा रात को उज्ज्वल करता है), कभी सूत्रित करता है (जैसे नदी को जल), कभी विकसित करता है (जैसे लता को पुष्प) और कभी रंजित करता है (जैसे स्त्री को अलंकार)। इस दृष्टान्त में चन्द्रमा के बिना रात की, पुष्प के बिना लता की और आभूषणों के बिना स्त्री की स्वतंत्र सत्ता है। इस दृष्टान्त के अनुसार अलंकार स्त्री को अलग से पहनाए गए अलंकारों के समान हैं जिनका स्वतंत्र अस्तित्व भी है और जो सुन्दर स्त्री को पहनाए गए अलंकारों की तरह गीति के सौंदर्य को बढ़ाते भी हैं।

उक्त श्लोक का अर्थ करते हुए अभिनव द्वारा 'रञ्जयति' का प्रयोग विचारणीय है। रँगना अर्थ वाली 'रञ्ज्' धातु से 'रञ्जयति' बनता है। जब किसी वस्तु को रँगा जाता है तो रंग की उस वस्तु से अलग सत्ता नहीं रह जाती और वस्तु उसी रंग की हो जाती है, उसके मूल रंग का अस्तित्व नहीं रह जाता। स्वर, राग, गीत आदि के शार्ङ्गदेवोक्त लक्षणों में भी 'रञ्ज्' की यही विशेषता लक्षित होती है। यहाँ अभिनव द्वारा प्रयुक्त 'रञ्जयति' पद स्त्री को अलग से पहनाए गए आभूषणों की अपेक्षा स्त्री से अभिन्न 'लक्षण' का संकेतक प्रतीत होता है।

भरत के श्लोक में प्रयुक्त 'अविभूषितेव च स्त्री' के स्थान पर 'अनलक्ष्यते च नारी' पाठ भी मिलता है (भारतीय विद्या प्रकाशन संस्क०, २९/४७)। संभव है कि इसके स्थान पर 'अनलक्षिता च नारी' या 'अनलक्षितेव च स्त्री' या 'अनलक्षितेव नारी' पाठ रहा हो। तब इसका अर्थ होगा 'लक्षण रहित नारी के समान'। इस पाठ के द्वारा स्त्री के श्यामा, विशालाक्षी आदि लक्षणों की तरह उन तत्त्वों का ग्रहण हो सकता है जो गीति के धर्म हों।

संगीत में अलंकार दो रूपों में हो सकते हैं। जब वे गीति में उत्कर्ष का आधान करने वाले तत्त्व हों तो गीति का धर्म बन कर, जैसे, गमक आदि। लेकिन जब धर्म नहीं बनते बल्कि स्वरसंनिवेश अथवा स्वरों के क्रममात्र हों तो गीति का बाह्य अलंकरण करते हैं। दोनों ही रूपों में वे गीति को ज्यादा समृद्ध बनाने, प्रभाव में वृद्धि करने, सौंदर्य बढ़ाने, गीति के स्वरूप को उभारने, उसमें परिपूर्णता लाने में और इस प्रकार उसके कार्य अथवा प्रयोजन को पूरा करने में उसे ज्यादा सक्षम बनाते हैं। इनके बिना गीति का स्वरूप अधूरा रह जाता है।

ऊपर गीति के अलंकारों की जो चर्चा हुई उसमें गीति शरीर और अलंकार आभूषण के समान हैं। वर्ण के बिना गीति संभव ही नहीं है इसलिये वस्तुतः वर्ण ही शरीर है और फलतः अलंकार्य है। नान्यदेव ने भरतभाष्य में यह बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहा है—*'वर्णा एव हि जातीनां देहा इत्यभिधीयते'* (भ० भा, ५/१)। वर्तमान संगीत में अलंकार के इन दोनों रूपों को इस प्रकार समझा जा सकता है। गमक, मींड, स्पर्श, आन्दोलन जैसे प्रयोग गानक्रिया में विशेष प्रभाव लाते हैं लेकिन सारेग रेगम गमप आदि या सारेगमग रेगरे रेगमपम गमग आदि जैसे प्रयोग गीति में विस्तार लाकर अलंकरण करते हैं। गमक आदि अपने में कोई स्वरसंनिवेश नहीं हैं यानी उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है बल्कि वे स्वरसंनिवेशों के धर्म बन जाते हैं। लेकिन दूसरे प्रकार के प्रयोग वर्णों पर आधारित स्वरों के विशेष क्रम हैं जिनका गीति में प्रयोग करने से, विविधता और विस्तार के द्वारा, गीति ज्यादा समृद्ध होती है। अगर गमकादि हों और केवल स्वरक्रमयुक्त अलंकार न भी हों तो भी गान प्रभावपूर्ण और आकर्षक तो रहता है लेकिन विशिष्ट अलंकार भी हों तो वे उसी तरह गान को ज्यादा आकर्षक बनाते हैं जैसे श्यामा, विशालाक्षी जैसे लक्षणों से युक्त नारी को पहनाए गए आभूषण उसे ज्यादा आकर्षक बनाते हैं।

ना०शा० में अलंकारों के प्रस्तार नहीं है, केवल लक्षण प्राप्त हैं। लेकिन उनसे यह प्रकट होता है कि भरत के अलंकारों का क्षेत्र व्यापक था और उनमें स्वर की तारता, काल, कम्प, क्रम, लंघन आदि के अलावा तीव्रता और उच्चारणभेद भी सम्मिलित थे। आगे चलकर देशी संगीत में रागों के विपुल विकास और प्रयोग की छूट के कारण विशेष प्रकार के स्वरसन्निवेश, उच्चारण-भेद आदि विकसित हुए और उनकी संख्या में वृद्धि होती गई। उन्हें ध्यान में रख कर अलंकार, गमक, स्थाय और उनके भेद-प्रभेदों का अलग-अलग निरूपण किया गया। यही कारण है कि जहाँ भरत ने सिर्फ़ ३३ अलंकार कहे, शार्ङ्गदेव ने ६३ अलंकार, १५ गमक और ९६ स्थायों के रूप में विस्तार किया। अलंकारों में 'विशिष्ट वर्णसंदर्भ' रह गए और गीति को रंजक बनाने वाले तत्त्व गमक, स्थाय आदि में चले गए।

मतंग ने गीत के अलंकारों को कटक, केयूर आदि की श्रेणी में रखा यानी उसने गीति से अलंकार की पृथक् सत्ता मानी (बृह०, पृ० ३४)। उसने अलंकारों के लक्षण जिस तरह दिए हैं और उनके जो प्रस्तार दिए हैं उनसे यह व्यक्त होता है कि उसने अलंकारों का निरूपण विशिष्ट वर्णसंदर्भ के रूप में ही किया है, यद्यपि उनका वर्णों में विभाजन नहीं है। अधिकांश संज्ञाएँ भरत की ही हैं लेकिन मतंग ने उनके प्रस्तार भी दिए हैं।

गीति के संदर्भ में 'अलंकार' का लक्षण तथा अलंकारों के प्रस्तार सबसे पहले और स्पष्ट रूप में सं०र० में ही प्राप्त हैं। शार्ङ्गदेव ने अलंकार को विशिष्ट वर्णसंदर्भ ही कहा है। अलंकारों के लक्षणों में ऐसे कोई संकेत नहीं हैं जिनके द्वारा तीव्रता अथवा उच्चारणभेद का ग्रहण किया जा सके। इसका कारण यही है कि इनका समावेश उसने गमक और स्थायों में किया है (सं०र०, अ० ३)।

कल्लि० ने शार्ङ्गदेव के अलंकार-लक्षण की व्याख्या में कहा कि प्रसन्नादि अलंकार हैं जिनके द्वारा गीति उसी प्रकार अलंकृत होती है जैसे हार आदि के द्वारा नारी अथवा अनुप्रास आदि के द्वारा रस आदि। इसलिए यह कहा जा सकता है कि शार्ङ्गदेव के अलंकार आभूषण-कल्प हैं।

प्रस्तुत परिशिष्ट में हमने भरत के अलंकारों में तीव्रता और उच्चारभेद संबंधी प्रयोगों का जो अनुमान किया है, किसी स्पष्ट ग्रंथसाक्ष्य के अभाव में, उसे हालाँकि अभी कोई पुष्ट प्रमाण या आधार प्राप्त नहीं है फिर भी यत्र-तत्र जो संकेत इस बारे में दिखाई देते हैं उन पर ही यह अनुमान आधारित है। अभि० से भी, जो ना०शा० के हार्द को समझने का आज एकमात्र सबल आधार है, उक्त विचार पूरी तरह प्रमाणित नहीं होता। लेकिन भरत की नाट्यपरंपरा के कई संप्रदायों में से अभिनवगुप्त केवल एक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि थे और भरत तथा उनके काल में कम से कम १० सदियों का अन्तराल था। अन्य संप्रदायों के मत आज प्राप्त नहीं है। हमने जो विचार रखे हैं वे भावी अध्ययन और अनुसन्धान के द्वारा पुष्ट या प्रमाणित भी हो सकते हैं और खण्डित भी। लेकिन अलंकारों के अध्ययन की एक दिशा अवश्य हैं। इस दृष्टि से इस पक्ष का अधिक अध्ययन अपेक्षित है।

*

परिशिष्ट—च

शार्ङ्गदेव और उनके टीकाकारों के मंगलाचरण, आत्मपरिचय और उपसंहारों का वैशिष्ट्य

संगीतरत्नाकर के प्रथम अध्याय के शुरू में 'ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना' से आरंभ होने वाले श्लोक में शार्ङ्गदेव ने समासोक्ति अलंकार के द्वारा मंगलाचरण किया है। समासोक्ति का अर्थ है समास रूप में यानी संक्षेप में कहना। समासोक्ति अलंकार का लक्षण यह है—'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।[१] अर्थात् श्लेषयुक्त (अनेक अर्थों से युक्त) 'भेदक' यानी विशेषण पदों के द्वारा 'पर' अर्थात् अप्रस्तुत का कथन समासोक्ति है। इस अलंकार में कई अर्थों से युक्त शब्दों से प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का कथन होता है।

यों तो संस्कृत साहित्य में परंपरागत रूप से दृष्ट-अदृष्ट फल की इच्छा से या ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से सभी ग्रंथकार ग्रंथ का आरंभ करने से पहले अपने इष्ट देवता का स्मरण करते हैं। शार्ङ्गदेव को संगीत पर ग्रंथ रचना करनी है इसलिये संगीत के आदि देव शंकर की उपासना करना ही श्लोक का प्रस्तुत अर्थ है। लेकिन इस श्लोक में प्रयुक्त 'हृत्पङ्कजे', 'सूरीणां', 'श्रुतिपदं', 'ग्राम', 'वर्ण', 'अलंकार', 'जाति', 'नादतनुं', 'शंकर' आदि श्लिष्ट शब्द हैं जिनका सीधा अर्थ शंकर की वंदनास्वरूप होते हुए भी प्रतिपाद्य विषय—संगीत—के मुख्य अंगों का कथन भी अप्रस्तुत रूप से यहीं कर दिया गया है। श्लोक इस प्रकार हैः—

ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पङ्कजे
सूरीणामनुरञ्जकः श्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते।
यस्माद् ग्रामविभागवर्णरचनाऽलङ्कारजातिक्रमो
वन्दे नादतनुं तमुद्धुरजगद्गीतं मुदे शङ्करम्॥[२]

प्रस्तुत श्लोक का स्तुतिपरक अर्थ इस प्रकार है। निरपेक्ष आनंद के लिए उस शंकर को नमस्कार है जो ब्रह्मग्रंथि से उठने वाली वायु की गति का अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा प्रणव आदि वाचक पदों के श्रवण के बाद श्रुतियों का आश्रयरूप है, जो योगियों के हृदयकमल में रंजक रूप से अर्थात् अपने से अलग पदार्थ को अपने में अन्तर्भूत करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है, जिससे ग्राम, धनधान्यादि का विभाजन, ब्राह्मणादि वर्ण, वर्णरचना, विभिन्न जातियाँ तथा उनकी व्यवस्था बनती है। नाद अथवा आकाश ही जिसका शरीर है तथा जो जगत् के द्वारा उत्कट रूप से गाया जाता है।

संगीत-पक्ष में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है। उस सुखदायक स्वर को या स्वरसंदर्भरूप गीत को नमस्कार है जो संगीत के तत्त्वज्ञों के हृदयरूप मंद्रस्थान में ब्रह्मग्रंथि से उठने वाली वायु की गति का अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा रंजकता के कारण स्वयं प्रकाशित होता है, जिससे मूर्च्छनादि का आश्रयरूप ग्राम, षड्ज-मध्यमादि ग्राम विभाजन, स्थायी

---

१. काव्यप्रकाश, १०/९७, सूत्र १४८

२. सं० र०, १/१/१

आदि वर्ण, उनका विनियोग, प्रसन्नादि आदि अलंकार, षाड्जी आदि जातियाँ और उन सबकी व्यवस्था उत्पन्न होती है, जो नादस्वरूप ही है और जिसके द्वारा जगत् का उत्कट रूप से गान होता है अथवा जो जगत् में उत्कट रूप से गाया जाता है।

शंकर उस ब्रह्म का सगुण रूप माना गया है जिसकी उपासना 'नादब्रह्म' या 'अक्षरब्रह्म' के रूप में की जाती है। ग्रंथकार ने 'नादतनुं' विशेषण का प्रयोग करके सगुण शंकर के द्वारा उसी नादब्रह्म के प्रति मंगलाचरण किया है। निर्गुण की उपासना में सगुणोपासना का विशेष महत्त्व है क्योंकि ईश्वर का सगुण रूप निर्गुण तक पहुँचने की आसान सीढ़ी है। शुरू में चित्त की एकाग्रता न होने से निर्गुण का ध्यान दुष्कर होता है इसलिये सगुण की पूजा विहित मानी गई है। गीत, वाद्य आदि के द्वारा की जाने वाली पूजा और भी श्रेष्ठ मानी गई है क्योंकि गीत रंजक होने के कारण चित्त को सहज ही एकाग्र बना देता है। गीत का आधार भी नाद ही है। इसलिये 'नादब्रह्म' (जिसका संगीत में विशेष महत्त्व होने के कारण ग्रंथ के पहले अध्याय के तीसरे प्रकरण के शुरू में वंदना की जाने वाली है) और 'गीत' दोनों में नाद के व्याप्त होने के कारण अथवा दोनों के नादरूप ही होने के कारण 'नादतनुं' विशेषण सार्थक है।

मनुष्यों के समूहरूप ग्राम आदि की सृष्टि का कारण शंकररूप ब्रह्म है उसी तरह ग्राम, वर्ण, अलंकार आदि संगीतशास्त्रगत प्रपंच की सृष्टि का कारण भी 'शंकर'-रूप (सुखदायक) गीत ही है। ब्रह्म जिस तरह योगियों के हृदय में अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होता है उसी तरह गीत भी तत्त्वज्ञों के लिये मूल स्वरों के उत्पत्तिस्थान हृदय में स्वतः स्फुट होता है। ब्रह्म जैसे श्रुतियों (वेदादि) का आश्रय है उसी तरह गीत भी छंदोवती आदि श्रुतियों का आश्रय है। प्रकाशित होने की क्रिया तो शाब्द बोध के बाद चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होती है फिर चाहे ईश्वर का प्रकाशन हो या गीत का। शाब्द बोध भी आत्मा से प्रेरित होकर चित्त के द्वारा प्रेरित होने वाली वायु के क्रमशः ब्रह्मग्रंथि से कंठ, मूर्धा आदि स्थानों में चलने पर ही होता है। इस प्रकार मंगलाचरण का प्रत्येक पद बड़ा सार्थक और ईश्वर के साथ-साथ गीत अर्थ में पूरी तरह युक्तिसंगत तो है ही; पहले चरण में 'न' की, दूसरे चरण में 'य' की और अन्तिम चरण में 'न' और 'द' की आवृत्ति होने से प्रास का सौंदर्य और श्रवणमाधुर्य होने के कारण यह श्लोक शब्दार्थ के चमत्कार के साथ-साथ स्वर और लय के आनन्द से भी युक्त है और शास्त्रीय सिद्धान्तों की परिपक्वता सहित ग्रंथ के अन्तर्गत प्रकट होने वाले साहित्यिक सौंदर्य का भी पूर्वपरिचायक है।

प्राचीन और मध्ययुगीय दर्शन और काव्यशस्त्र के ग्रंथों के अध्ययन में निरुक्त, भाष्य और टीका ग्रंथों का बड़ा महत्त्व है। संगीतरत्नाकर पर भी कई टीकाएँ लिखी गईं। उनमें से संगीतरत्नाकर के अध्ययन में सिंहभूपाल की 'संगीतसुधाकर' और कल्लिनाथ की 'कलानिधि' टीका का विशेष महत्त्व है। इसलिये प्रस्तुत लेख में हमने इन्हीं दो टीकाओं का उपयोग किया है। इन दोनों टीकाकारों ने कुछ भिन्न दृष्टिकोण से व्याख्या की है। सामान्यतः सिंहभूपाल की दृष्टि पूरे ग्रन्थ की व्याख्या में व्यावहारिक है जबकि कल्लिनाथ की व्याख्या ज्यादा विद्वत्तापूर्ण है।

वंश परम्परा

मंगलाचरण के बाद शार्ङ्गदेव ने अपनी वंशपरम्परा, आश्रयदाताओं और स्वयं अपने बारे में जो विवरण दिया है वह संगीतरत्नाकर के महत्त्व को प्रकट करता है। काश्मीर अत्यन्त प्राचीन काल से श्री और सम्पदा के साथ-साथ विद्वानों, पंडितों, दार्शनिकों और वाग्देवी के उपासकों की जन्म, कर्म और पुण्य-स्थली रहा है। उसी काश्मीर में वृषगण नामक ऋषि से उत्पन्न एक वंश था जिसकी कीर्ति चारों दिशाओं में फैली थी और जो कल्याण का घर था। उस वंश में श्रेष्ठ याज्ञिक, धर्मिष्ठ, वेदज्ञ, अवतारतुल्य, उत्तम ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न हुए। ऐसे ही वंश में शार्ङ्गदेव के भास्करनामा पितामह उत्पन्न हुए जो भास्कर अर्थात् सूर्य की ज्योतिरूप तेज के समान ही ब्रह्मतेज के पुंज थे। वे काश्मीर से दक्षिण दिशा की ओर आकर देवगिरि में बस गए थे। यह वही काल था जब महमूद ग़ज़नवी के बर्बर आक्रमणों से पूरा उत्तरापथ भयभीत हो चुका था। विद्वान्, पंडित और कलामर्मज्ञों ने काश्मीर छोड़ कर अन्यत्र आश्रय ले लिया था। सरस्वती के अनेक पुत्र असमय कालकवलित हो गए थे। जो बचे थे वे आक्रमणकारियों की पहुँच से बाहर के क्षेत्रों में चले गए थे। गुरु परंपरा और सम्प्रदाय नष्ट हो चले थे। विद्या और कला के प्रेमी राजाओं के आश्रय में ही विद्वानों को सम्मान प्राप्त था।

शार्ङ्गदेव के पिता सोढल के आश्रयदाता राजा भिल्लम थे जो विद्या और कला के प्रेमी थे और सोढल ने उनसे श्री, संपत्ति और लोककल्याणकारी कीर्ति प्राप्त की थी। भिल्लम के बाद सिंघण उनके आश्रयदाता थे जिन्होंने सन् १२१० से १२४७ ई० तक देवगिरि पर राज्य किया। वे स्वयं अत्यन्त पराक्रमी, गुणवान् और गुणानुरागी थे। सोढल महादानी, यज्ञकर्ता, संपत्तिशाली और धर्मधारक थे। अपने गुणों के कारण इन्होंने अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करके वैभव और सम्मान प्राप्त किया था। शार्ङ्गदेव क्षीरसागर की तरह निर्मल यश वाले इन्हीं सोढल को पुत्र थे। इसलिये इनका समय १३वीं सदी का पूर्वार्ध कहा जा सकता है। अपनी वंशपरंपरा और आश्रयदाताओं का जो परिचय ग्रन्थकार ने दिया है उससे यह प्रकट होता है कि उन्हें अपने वंश और आश्रयदाताओं की परम्परा से कैसे संस्कार प्राप्त हुए थे।

शार्ङ्गदेव ने इसके बाद अपने संबंध में जो कुछ कहा है वह उनकी विद्वत्ता, योग्यता और बहुमुखी प्रतिभा को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है। संबंधित श्लोक इस प्रकार हैं :—

तस्माद्दुग्धाम्बुधेर्जातः शार्ङ्गदेवः सुधाकरः।
उपर्युपरि सर्वान्यः सदौदार्यस्फुरत्करः॥
कृतगुरुपदसेवः प्रीणिताशेषदेवः
कलितसकलशास्त्रः पूजिताशेषपात्रः।
जगति विततकीर्त्तिर्मन्मथोदारमूर्तिः
प्रचुरतरविवेकः शार्ङ्गदेवोऽयमेकः॥
....
....
स विनोदैकरसिको भाग्यवैदग्ध्यभाजनम्।
धनदानेन विप्राणामार्तिं संहृत्य शाश्वतीम्॥
जिज्ञासूनां च विद्याभिर्गदार्तानां रसायनैः।[3]

चन्द्रमा के समान शीतल, उदार, कृपादानी और कामदेव के समान सुन्दर होते हुए भी उन्होंने गुरुचरणों की सेवा की थी, अनंत देवों को प्रसन्न किया था, अनेक विद्वानों को संतुष्ट करके समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। वे अत्यन्त विवेकशील व विनोदप्रिय थे और भाग्यलक्ष्मी के कृपापात्र थे। उन्होंने अन्न, वस्त्र तथा धन का दान देकर ब्राह्मणों को, विद्यादान करके जिज्ञासुओं को तथा औषधि देकर रोगपीड़ितों को सन्तुष्ट और सुखी किया था। इससे सिद्ध होता है कि शार्ङ्गदेव आयुर्वेदाचार्य भी थे। 'पिण्डोत्पत्तिप्रकरण' में उनका यह उल्लेख 'अस्मद्विरचितेऽध्यात्मविवेके वीक्ष्यतां बुधैः'[4] इसका प्रमाण है कि वे वेदान्त के भी पंडित थे और उन्होंने 'अध्यात्मविवेक' नामक ग्रंथ की रचना भी की थी। यह ग्रंथ अब प्राप्त नहीं है। आक्रमणों से पीड़ित होने पर विद्वान् और कलामर्मज्ञ आश्रय की खोज में भटक-भटक कर थक गए थे, शार्ङ्गदेव में ज्ञान का एकत्र भण्डार था, इसका संकेत निम्न श्लोक में मिलता है:—

नानास्थानेषु संभ्रान्ता परिश्रान्ता सरस्वती।
सहवासप्रिया शश्वद्विश्राम्यति तदालये॥[5]

अर्थात् अनेक स्थानों पर घूम-घूम कर सरस्वती थक कर शार्ङ्गदेव के यहाँ उपयुक्त स्थान पाकर उसके निवासस्थान में सहवासप्रिया बन कर शश्वत् विश्राम करती है।

शुद्ध चैतन्यरूप निर्गुण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ होते हुए भी कठिन और दुष्कर होने के कारण सगुण को सोपान बना कर

३. वही, १ / १ / ९-१३
४. वही, १ / २ / ११९
५. वही, १ / १ / ११

वहाँ तक पहुँचना संभव है। वहाँ भी ध्यान और एकाग्रता सहज नहीं और अनाहत नाद की उपासना सुखकर होते हुए भी रंजक नहीं। लेकिन आहत नाद से उत्पन्न गीतादि के सम्यक् प्रयोग के द्वारा धर्म, अर्थ और काम के साथ-साथ निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति सामान्य मनुष्य को भी अनायास हो जाती है। इसलिये त्रिविध तापों से पीड़ित लोकों के कष्ट को दूर करने के उपायस्वरूप संगीत के सम्यक् प्रयोग को सरल बनाने के लिये शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर की रचना की।

शार्ङ्गदेव तथा उसके कुछ समय पहले की राजनैतिक स्थिति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, सिंहभूपाल की टीका के शुरू के श्लोकों से भी कुछ जानकारी मिलती है। उन परिस्थितियों के प्रभाव से अन्य विद्याओं और कलाओं की तरह संगीत की प्राचीन परम्परा में काफ़ी परिवर्तन हो गए थे और भरत आदि प्राचीन आचार्यों के शास्त्रग्रंथ, जिनके द्वारा संगीत की एक पद्धति स्थिर हुई थी, दुरूह हो गए थे। शार्ङ्गदेव के समय में भी ग्रन्थों के कुछ ही अंश सर्वगम्य थे और सामग्री अनेक ग्रंथों में बिखरी हुई थी। यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को शार्ङ्गदेव ने इकट्ठा करके अपने लक्ष्यज्ञान के अमृत से भर कर, सरस बनाकर प्रकट किया था। इसलिये पूर्व ग्रंथों की तुलना में इसका महत्त्व और भी ज़्यादा है। अपने टीकाग्रंथ के द्वारा संगीतरत्नाकर को 'राजपथ बनाने का यत्न' कहकर सिंहभूपाल ने संगीतरत्नाकर की महत्ता को अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट किया है। पहले से बने हुए किसी रास्ते को उसकी उपयोगिता के कारण राजपथ बनाया जाता है। लेकिन जैसे किसी बीहड़ जंगल में से झाड़-झंखाड़ काटकर योजनानुसार कोई कच्चा रास्ता बनाया जाय, जो वर्षों तक लोगों के उपयोग में आता रहे और तब उसे सर्वसुलभ बनाने के लिये कोई व्यक्ति उस रास्ते को राजपथ बनाने का संकल्प करे, उसी तरह का कठिन काम संगीतरत्नाकर की रचना थी। इसे समझना सबके लिये आसान नहीं था। कुछ ही अंशों को सब समझ सकते थे और पूरे ग्रंथ के तत्त्व को जानने-समझने वाले तो अपने समय में केवल सिंहभूपाल ही थे। इसलिये अपनी टीका संगीतसुधाकर के द्वारा उन्होंने संगीतरत्नाकर को ऐसा राजपथ बनाया जिस पर चलकर सभी लोग संगीतरूपी रत्नाकर तक पहुँच सकें।

सिंहभूपाल ने इस तथ्य को भी प्रकट किया है कि किसी विषय के बारे में थोड़ा ज्ञान प्राप्त करके भी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना करना आसान है लेकिन किसी अन्य व्यक्ति के सरल ग्रंथ की भी व्याख्या करना तो दूर उसकी व्याख्या की योजना बनाना भी बहुत कठिन काम है। फिर संगीतरत्नाकर जैसे ग्रंथ की व्याख्या करना तो और भी ज़्यादा कठिन है जिसमें संगीतशास्त्र के सारे ग्रंथों को निचोड़ कर रख दिया गया हो। लेकिन सिंहभूपाल ने सभी उपलब्ध शास्त्रग्रंथों का अध्ययन और मंथन किया तथा शास्त्रज्ञों के साथ विचार-विमर्ष करके स्पष्टीकरण किया। उनके समय में लक्ष्य और लक्षण का संबंधविच्छेद हो चला था, यह उनके इस कथन से प्रकट होता है कि लक्ष्य के बिना शास्त्रकारों में प्रौढ़ता नहीं आती और शास्त्रज्ञान के बिना संगीतज्ञ असंगत बातें कह जाते हैं। वे स्वयं लक्ष्य और लक्षण दोनों के ज्ञाता थे इसलिये ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या करने के लिये अधिकारी थे। यद्यपि इस व्याख्याग्रंथ की रचना उन्होंने स्वान्तःसुखाय और लोककल्याण की भावना से ही की लेकिन द्वेष में विकृत भावना से भरकर जो लोग विकृत निन्दा और आलोचना करते हों उनका मुँह बन्द करने में भी व्याख्या पूरी तरह समर्थ है।

सिंहभूपाल ने अपने ग्रंथ के शुरू में चार मंगलाचरण श्लोक लिखे हैं जिनमें से पहला कालियमर्दक कृष्ण के प्रति है जिसमें कालियमर्दन के समय वेणु से उत्पन्न गीत-वाद्य और नाचते हुए कृष्ण की भंगिविशेष से संगीत को प्रकट करते हुए पद्मलोचन त्रैलोक्यपति विष्णु से रक्षा की प्रार्थना की है। दूसरे श्लोक में श्रीनिधान लक्ष्मी की, तीसरे में गणेश की और चौथे में पार्वती की वंदना की है।

सिंहभूपाल राजा अनंत अथवा अनपोत के पुत्र थे जो रेचल्ल वंश में उत्पन्न हुए थे। इनकी राजधानी राजाचल थी और १४वीं सदी का उत्तरार्ध इनका काल माना जाता है।

'कलानिधि' के शुरू के ४ श्लोक भी देवस्तुति विषयक हैं। पहले में शंकर की, दूसरे में गणेश की, तीसरे में सरस्वती की और चौथे में शंकर अथवा शंकररूप गुरु की वंदना की गई है। पहले श्लोक के बारे में यह उल्लेखनीय है कि जैसे सिंहभूपाल ने कृष्ण के स्तुति-श्लोक में कृष्ण में ही संगीत के तीनों अंगों की उत्पत्ति की कल्पना की है उसी तरह कल्लिनाथ ने शंकर के शरीर में गीत, वाद्य और नृत्य—तीनों का पोषण होने से शंकर की वंदना की है। कानों से लटकते हुए कम्बल और अश्वतर नामक दो गंधर्वरूप कुंडलों द्वारा शंकर की स्तुति में गाए जाने वाले गीत के अमृत का आस्वादन करते हुए शिव का सिर हिलने

से उसमें स्थित गंगा की तरंगों से पाटरूप वाद्याक्षर उत्पन्न हो रहे हैं तथा चंद्रमा भी सिर हिलने से कला-कलाप करता हुआ सा प्रतीत होता है जिसमें नृत्य करते हुए ब्रह्माण्ड के एक खंड के दर्शन होते हैं। गीत, वाद्य और नृत्य के ऐसे आश्रयरूप शरीर वाले शंकर की कल्लिनाथ ने वंदना की है।

सिंहभूपाल की तरह कल्लिनाथ ने भी ग्रंथ का आरंभ करने से पहले अपने राज्य, नगर, राजा, अपने वंश और स्वयं अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जो महत्त्वपूर्ण है। कल्लिनाथ प्रसिद्ध विजयनगरम् साम्राज्य में इम्मडि देवराय के राज्यकाल में महामंत्री थे। इस राजा का काल १४४६ से १४६५ ई० माना गया है इसलिये कल्लिनाथ १५वीं सदी के उत्तरार्ध में थे। यह राज्य अपने उत्कर्षकाल में धनधान्य, श्रीवैभव से परिपूर्ण था। राजधानी विद्यानगरी (विजयनगर) अनेक सुन्दर स्थानों से युक्त थी और इसके शासक यादववंशीय राजा बड़े प्रतापवान् थे जिनकी कीर्ति दिग्-दिगंत में फैली हुई थी। विजयनगर या विद्यानगरी नाम इस तथ्य का सूचक है कि दर्शनीय होने के साथ-साथ विजयनगर विद्या का केन्द्र भी था। कल्लिनाथ के आश्रयदाता इम्मडि देवराय स्वयं साहित्य, संगीत और कलाओं के ज्ञाता थे और उनकी राजसभा में ऐसे धुरन्धर विद्याधर, कलाधर और संगीतज्ञ थे जो श्रेष्ठ विद्याप्रेमियों, कलामर्मज्ञों और संगीतरसिकों को आनंद प्रदान करते थे। कल्लिनाथ उस सभा में श्रेष्ठ थे।

कल्लिनाथ संगीतशास्त्र के प्रकांड पंडित और उत्तम कोटि के वाग्गेयकार थे। उनके सामने दूसरे वाग्गेयकार नतमस्तक होते थे। उन्होंने अपने समय में उपलब्ध सभी शास्त्रग्रंथों का अध्ययन करके उनका सार लेकर लक्ष्य और लक्षण दोनों पर आधारित टीका लिखी। अपने लिये 'अभिनवभरताचार्य' विशेषण का प्रयोग इसका सूचक है कि भरत द्वारा नाट्यशास्त्र की रचना जैसा हीं कठिन और अद्वितीय काम संगीतरत्नाकर की टीका रचकर उन्होंने भी किया।

अपने पितामह वल्लभेश्वर के बारे में उनका यह कथन कि ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की संपदा से उनका क्या वर्णन हो सकता है कल्लिनाथ की महत्ता का भी सूचक है कि वे ऐसे कुल में पैदा हुए थे। उनका उपास्य देव ही संगीत था यानी वे संगीत के शास्त्र और क्रिया की साधना में ही निरन्तर लीन रहते थे इसलिये उनके आश्रयदाता के हृदय में उनके लिये अत्यन्त आदरभाव था। इसी कारण राजा ने बड़े आदरपूर्वक उनसे संगीतरत्नाकर पर टीका लिखने का अनुरोध किया था।

संगीतरत्नाकर के पहले श्लोक की टीका के शुरू में कल्लिनाथ का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

अत: स कल्लिनाथार्यो रत्नाकरनिबन्धनम्।
कलानिधिं निबध्नाति लक्ष्यलक्ष्माविरोधत:॥

इसमें जो रूपक बाँधा गया है उसके द्वारा यह व्यंजित होता है कि रत्नाकर अर्थात् सागर को पार करना असंभव है और उस पर सेतु बनाना भी संभव नहीं। लेकिन जैसे श्री रामचन्द्र ही सेतु बाँधने और सागर को पार करने में समर्थ हुए उसी तरह संगीतरत्नाकर को समझना भी कल्लिनाथ के समय में असंभव हो गया था, एकमात्र वही उसके तत्त्व को जानते थे इसलिये उन्होंने 'कलानिधि' टीका की रचना की जिसकी सहायता से कोई भी संगीतरत्नाकर को समझ सकता है।

संगीतरत्नाकर की दोनों टीकाओं के प्रारंभिक श्लोकों में अपने कुल का तथा अपना परिचय जहाँ टीकाकारों की प्रौढ़ता, विद्वत्ता, प्रतिभा और आत्मविश्वास को प्रकट करता है वहीं अन्यपुरुष क्रियापदों का प्रयोग उनकी निरभिमानिता का द्योतक है। 'अहं' या उत्तम पुरुष क्रियापदों का प्रयोग क्वचित् ही किया गया है लेकिन जहाँ भी हुआ है उनकी महत्ता का दर्शन कराता है, गर्वोक्ति का सूचक नहीं है।

उपर्युक्त तथ्य शार्ङ्गदेव के बारे में तो और ज़्यादा सही है क्योंकि पहले पदार्थसंग्रह प्रकरण में १५ से १९ श्लोकों में जिन पूर्वाचार्यों का उन्होंने उल्लेख किया है उनके ग्रंथों और मतरूपी पयोनिधि को अगाध ज्ञानरूपी मथानी से मथ कर उन्होंने जो साररूप नवनीत प्राप्त किया उसे संगीतरत्नाकर के रूप में निबद्ध किया। उनमें से अनेकों आचार्यों के ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है या खंडित हैं, कुछ के कुछ अंश अन्य ग्रंथों में उद्धरणों के रूप में प्राप्त हैं तथा कुछ शास्त्रकारों के तो नामोल्लेख से ही संतोष करना पड़ता है।

उपसंहार

संगीतरत्नाकर के अन्तिम नर्तनाध्याय के अंत के ६ श्लोकों में शार्ङ्गदेव ने ग्रंथ का उपसंहार बड़े सुन्दर ढंग से किया है। केवल दोषदर्शन करने वालों के प्रति बड़ा सूक्ष्म कटाक्ष उनकी इस पंक्ति में है—'युष्मत्क्षोदक्षमं वस्तु किमत्रास्ति जगत्त्रये' अर्थात् आप तो दोष निकालने में सक्षम हैं इसलिये तीनों लोकों में आपके सामने कौनसी वस्तु टिक सकती है? अत्यन्त विनय के साथ ग्रंथकार ने 'विद्वान्' पाठकों से 'अपील' की है क्योंकि सच्चे विद्वज्जन दूसरों के अणु के समान गुणों को भी पहाड़ के समान समझते हैं—'गुणोऽणुरप्यद्रिसमो भवत्सु'। संतों द्वारा प्रेमपूर्वक किसी ग्रंथ का पठन-पाठन ही लेखक के लिये सच्चा पुरस्कार होता है। मुनियों के मार्ग—'सन्मार्ग' का अनुगमन करने वाले व्यक्ति पर तो सज्जनों का 'निसर्गतः' (स्वाभाविक रूप से) स्नेह रहता है। भगवान् राम 'प्रज्ञा' के वैभव से नहीं बल्कि सेवा और भक्ति के कारण कपीश्वर हनुमान् से आनंदित होते थे, इसलिये अंत में ग्रंथकार ने कहा है कि संगीतरत्नाकर के लेखन की प्रवृत्ति विद्यादर्प के कारण नहीं हुई बल्कि विद्वज्जनों के मन में मेरा आवास हो इसके लिये यह ग्रंथ पाथेय मात्र है। उनका यह कथन सटीक है क्योंकि संगीतरत्नाकर की रचना करके ग्रंथकार विद्वानों के मानस में सदा के लिये अमर हो गए।

नर्तनाध्याय के १६४२ श्लोकों के बाद सिंहभूपाल की टीका प्राप्त नहीं है इसलिये यह पता नहीं चलता कि उन्होंने टीका का समापन कैसे किया होगा। लेकिन कल्लिनाथ का उपसंहार मंगलाचरण की तरह ही सार्थक और मूलग्रंथ के महत्त्व पर प्रकाश डालने वाला है। श्री के विलास से विलसित सप्ताध्यायी संगीतरत्नाकररूप उदधि को लक्ष्य और लक्षण के विस्तृत ज्ञानरूपी मथानी से मथ कर 'कलानिधि' के रूप में उन्होंने जानने की इच्छा रखने वालों के लिये ग्रंथ के अर्थ को स्पष्ट करके रख दिया है। ऐसा महत्कार्य करते हुए, पूरी टीका में अपने पांडित्य का परिचय देते हुए भी टीका के अन्त में टीकाकार की विनम्रता की पराकाष्ठा इन श्लोकों में प्रकट हुई है—

नदी तद्रूपतामेति प्रविष्टाम्बुनिधिं यथा।
ज्ञानलेशो मयाप्येवं सर्वज्ञेषु निवेदितः॥
यथाकाशो महान्भूमीरेणूनामवकाशदः।
तथा मज्ज्ञानलेशानां सर्वज्ञा यूयमाश्रयाः॥
एवं रत्नाकरोन्नीतं शुक्तिमुक्ताफलं मया।
सर्वज्ञाः स्वगुणैरेतद्भूषयन्तु कृपान्विताः॥
एवं समृद्धसंगीतरत्नाकरकलानिधौ।
सुधास्वादेन सुधियामानन्दश्चिरमेधते॥

अर्थात् जैसे नदी सागर में मिल कर तद्रूपता को प्राप्त करती है उसी तरह मैंने भी ज्ञान का जो लेश मेरे पास था उसे संगीतरत्नाकर में मिला कर सर्वज्ञों के लिये निवेदित कर दिया (और तद्रूपता प्राप्त कर ली। तद्रूपता का अर्थ है 'वही रूप होना')। अथवा जैसे महान् आकाश धूलिकणों को अपने में आश्रय देता है उसी प्रकार मेरे ज्ञान के कणों के आश्रय आप लोग हों। नदी का सागर में मिलना और धूलिकणों का आकाश में आश्रय पाना अहं के त्याग और महानता का वाचक होता है। 'एवं रत्नाकरोन्नीतं ....कृपान्विताः' श्लोक में कल्लिनाथ ने अपने कार्य की कठिनता का संकेत देते हुए कहा है कि उन्होंने रत्नाकर में से सीप और मोती सभी निकाल दिए, अब पाठक उन्हें अपने गुणों से भूषित करें अर्थात् जिनकी जैसी मति होगी वे उतना ग्रहण करेंगे।

उपर्युक्त श्लोक दार्शनिक पुट के साथ-साथ साहित्यिक सौंदर्य से भी भरपूर है जिसका आनन्द सहृदय पाठक सहज ही ले सकते हैं।

शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर की रचना करके जैसा कठिन और विलक्षण कार्य किया वह उसकी 'रत्नाकर' संज्ञा के अनुरूप है। लेकिन सिंहभूपाल और कल्लिनाथ ने उसे अपने ज्ञान की मथानी से मथ कर 'सुधाकर' और 'कलानिधि' (चंद्रमा-रूप) टीकाओं की रचना करके पाठकों के लिये ग्रंथ के अमृत की प्राप्ति का साधन उपलब्ध कराया। सागर के भीतर छिपे 'अमृत' को बाहर निकाला अथवा सागर को पार करने के लिये 'सेतु' की रचना की अथवा जंगल के बीच बनी पगडंडी को 'राजपथ' बनाकर सबके लिये सुलभ किया। इन सभी दृष्टियों से शार्ङ्गदेव के साथ-साथ सिंहभूपाल और कल्लिनाथ भी सदा स्मरणीय रहेंगे।

*

संदर्भग्रन्थ-सूची

१. काव्यप्रकाश, मम्मट, आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०

२. चतुर्दण्डीप्रकाशिका, व्यंकटमखी, मद्रास म्यूज़िक ऍकॅडॅमी, मद्रास, १९३४

३. छान्दोग्योपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर

४. नाट्यशास्त्र, भरत, (१) (अभि० सहित), ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
प्रथम खण्ड, संपा०, ऍम्० रामकृष्ण कवि, १९५६
द्वितीय खण्ड, वही, १९३४
तृतीय खण्ड, वही, १९५४
चतुर्थ खण्ड, वही और जे० ऍस्० पदे०, १९६४
(२) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, द्वितीय संस्क०
(३) भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-वाराणसी, संपा०, पं० केदारनाथ, १९८३

५. नारदीयाशिक्षा, नारद, व्याख्या शोभाकर भट्ट, पीताम्बर पीठ, संस्कृत पाठशाला, दतिया, १९६४

६. न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि, प्रका० श्री० कृष्ण वल्लभाचार्य, नागेश्वर पाठशाला, बनारस, १९४०

७. पाणिनीय अष्टाध्यायी, पाणिनि

८. बृहद्देशी, मतंग, (१) संपा०, के० साम्बशिव शास्त्री, त्रावणकोर संस्कृत सीरीज़, १९२८
(२) प्रथम खण्ड, संपा० प्रेमलता शर्मा, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली, १९९२

९. भरतभाष्य, नान्यदेव, संपा० चैतन्य देसाई, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़, प्र० खण्ड १९६१, द्वि० खण्ड, १९७६

१०. भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, सुभद्रा चौधरी, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, १९८४

११. भावप्रकाशन, शारदातनय, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६८

१२. रागविबोध, सोमनाथ, संपा०, पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री, आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९४५

१३. संगीतमकरन्द, नारद, (१) संपा०, मंगेश रामकृष्ण तैलंग, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९२०
(२) संगीत, १९७८, संगीत कार्यालय, हाथरस

१४. संगीतराज, कुम्भकर्ण, संपा० प्रेमलता शर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६३

१५. संगीतसमयसार, पार्श्वदेव, संपा०, आचार्य बृहस्पति, श्री० कुन्द कुन्दभारती, दिल्ली, १९७७

१६. स्वर्ण जयन्ती स्मारिका, भातखण्डे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय, लखनऊ

१७. Jl. of the Madras Music Academy, Vol. LIV

१८. Time Measure and Compositional Types in Indian Music, Subhadra Chaudhary, Aditya Prakashan, Delhi, 1997.

सुभद्रा चौधरी (जन्म १९३६)। बना
विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र (म्यूज़ि
विभाग से एम. म्यूज़िकॉलोजी, पी-एच.
ओंकारनाथ ठाकुर से ५ साल तक गायन की

संगीत की ३० से ज़्यादा विचारगो
शोधपत्र प्रस्तुत। यू.जी.सी. के अनुदान से
संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षे
पर विचारगोष्ठी का आयोजन। कई विश्ववि
के संगीत विभागों में और रिफ़्रेशर क
व्याख्यान। हॉलेण्ड में सप्रयोग व्याख्यान। र
वार्ता और फ़ीचर का प्रसारण।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खै
संगीतशास्त्र विभाग की पूर्व अध्यक्षा। से
प्रोफ़ेसर व विभागाध्यक्षा, संगीतशास्त्र
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय।

पुस्तकों का प्रकाशन। प्रमुख— १.
संगीत में ताल और रूप-विधान, २. संगीत-
३. Time Measure and Compositional
in Indian Music, ४. भारतीय संगीत में नि
संगीतरत्नाकर, 'सरस्वती' व्याख्यासहित
अनुवाद चार खंडों में प्रकाशित। संपा
भारतीय संगीत में अनुसन्धान की समस्या
क्षेत्र, 2, 3, पं. ओंकारनाथ ठाकुर की 'प्रणव
और 'संगीताञ्जलि, भाग ५' का द्वितीय संस्क
लिए संशोधन व संपादन।



RADHA PUBLICATIONS

4231/1, Ansari Road, Daryaganj
New Delhi-110002
Phones : 23247003, 23254306
website. radhapublications.com
Email : radhapublications@rediffmail.com

₹ 950/-

ISBN 81-7487-200-0

